एम. ए. द्वितीय सत्र पाठ्यक्रम – **MSKTC-202**

संस्कृत
निरुक्त तथा उपनिषद
इकाई **1-21**

सम्पादक: रेणुका शर्मा

दूरवर्ती एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला - 5

विषयानुक्रमणिका पृ. संख्या

• इकाई 1	यास्क का परिचय तथा निरुक्त की उपयोगिता	3-12
इकाई 2	निघण्टु एवं पद विभाग	13-21
• इकाई 3	भावविकार	22-31
• इकाई 4	उपसर्ग निरुपण	32-40
• इकाई 5	निपात विवेचन	41-50
• इकाई 6	वेद मन्त्रों की सार्थकता एवं निरुक्त प्रयोजन	51-59
• इकाई 7	निर्वचन सिद्धान्त	60-71
• इकाई 8	ऋचा के प्रकार	72-81
• इकाई 9	देवता के प्रकार	82-92
• इकाई 10	सप्तम अध्याय में प्रयुक्त पदो की समीक्षा	93-101
• इकाई 11	ईशावास्योपनिषद् का सार एवं महत्व	102-111
• इकाई 12	ईश्वर की सर्वव्यापकता	112-121
• इकाई 13	आत्मा का स्वरुप	122-133
• इकाई 14	विद्या और अविद्या का रहस्य	134-142
• इकाई 15	सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का रहस्य	143-150
• इकाई 16	आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना	151-160
• इकाई 17	तैत्तिरीयोपनिषद् का सार एवं महत्व	161-167
• इकाई 18	तैत्तिरीयोपनिषद् से संबंधित समीक्षात्मक प्रश्न	168-177
• इकाई 19	शीक्षावल्ली	178-187
• इकाई 20	ब्रह्मानंद वल्ली	188-197
• इकाई 21	भृगु-वल्ली	198-207

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम पृष्ठ	निरूक्त तथा उपनिषद्
क) : यास्क निरूक्त ; प्रथम, द्वितीय सप्तम अध्याय	40अंक
ख) : ईशावास्योपनिषद्	20 अंक
ग) : तैत्तिरीयोपनिषद्.	20अंक

इकाई 1
यास्क का परिचय तथा निरुक्त की उपयोगिता

संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 यास्क का परिचय
1.3.1 यास्क का काल
- स्वयं आकलन प्रश्न
1.4 निरुक्त की उपयोगिता
- स्वयं आकलन प्रश्न
1.5 सारांश
1.6 कठिन शब्दावली
1.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
1.8 सहायक ग्रन्थ
1.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

यास्क के योगदान ने वैदिक साहित्य और भारतीय दर्शन के अध्ययन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वेदों के अर्थ और उनके संदर्भ को स्पष्ट करने के लिए यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की, जो कि संस्कृत के प्राचीनतम और महत्वपूर्ण व्याकरण ग्रंथों में से एक है। प्रस्तुत इकाई में महर्षि यास्क द्वारा लिखित निरुक्त के प्रथम अध्याय में वर्णित सर्वप्रथम आचार्य यास्क के परिचय के साथ-साथ निरुक्त की उपयोगिता, इत्यादि विषयों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी। यद्यपि निरुक्त में यास्क ने मुख्यरूप से पद-विभाग को ही वर्णित किया है किन्तु इसके अन्तर्गत बहुत से अवान्तर विषयों का भी इसमें समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आपके उपर्युक्त विषयों के साथ साथ परीक्षा के उपयोगी प्रश्न एवं उनके उत्तर भी प्राप्त होंगे। वस्तुतः वैदिक साहित्य में वेदांगों के अन्तर्गत निरुक्त नामक वेदांग का स्थान महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त वेदरूपी पुरुष का श्रोत्र कहा जाता है। जिस प्रकार कानों के बिना हम सुन नहीं सकते , उसी प्रकार बिना निरुक्त के वेदार्थ को समझना भी अतीव कठिन है। अतः प्रस्तुत पाठ में निरुक्त के प्रथम अध्याय में वर्णित विषय पर ही विशेषरूप से चर्चा की जा रही है।इसका भरपूर लाभ पाठकों को होगा।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य है--

•निरुक्त के विषय में ज्ञान प्राप्त कराना।

•वैदिक शब्दों के दुरूह अर्थ को स्पष्ट कराना।

•वेदों का अध्ययन सरल बनाना।

• निरुक्त और निरुक्त रचयिता का परिचय देना

•संस्कृत भाषा का संरक्षण और उसकी प्राचीन धरोहर की समझ को विकसित कराना।

1.3 आचार्य यास्क का परिचय

निरुक्त की एक सुदीर्घ एवं वैदुष्यपूर्ण परम्परा रही है। उसमें प्रवरतमाचार्य यास्क हैं। उनका स्थान नैरुक्तों की परम्परा में वही है, जो व्याकरण के क्षेत्र में आचार्य पाणिनि का है। जिस प्रकार संस्कृत का समस्त व्याकरण पाणिनि के अष्टाध्यायी के इर्द-गिर्द घूमता है, उसी प्रकार यास्क के निरुक्त का भी नैरुक्तों की परम्परा अग्रगण्य होने के साथ-साथ समस्त नैरुक्त एवं उससे सम्बन्धित व्याख्या से युक्त ग्रन्थ भी चक्रण करते हैं। जिस प्रकार से पाणिनि ने अपने पूर्व के व्याकरणाचार्यों को समादृत स्थान दिया है, उसी प्रकार यास्क ने स्व-निरुक्त में भी पूर्ववर्ती नैरुक्ताचार्यों के अभिमतों को सादर बतलाते हुये ससम्मान प्रकट करते हैं। पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी की भाँति ही यास्क का निरुक्त भी सर्वथा मौलिक एवं प्रखरता से परिपूर्ण है। संस्कृत के कवियों व्याकरणाचार्यों के जीवन और समय की यथेष्ठ जानकारी उपलब्ध नहीं है, उससे अछूते यास्क भी नहीं है। यही कारण है कि अन्य की तरह इनके समय के विषय में विद्वान् परस्पर एकमत नहीं हैं। कुल मिलाकर विद्वान् लोग यास्क को पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं तो कुछ प्राचीन यह एक विचारणीय एवं विवादास्पद प्रश्न है। विद्वानों के मतानुसार आचार्य यास्क पाणिनी से प्राचीन हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में आचार्य यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश दिया गया है-

यास्कोमामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषुगीतवान्
शिपिविष्ट इति ह्यास्माद् गुह्यननायधरो ह्यहम्।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरूदारधीः
यत्प्रसादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ।।

इतिहास हमेशा तथ्यों पर एवं ठोस आधारों पर अवलम्बित होता है। इसलिये यास्क का समय निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ठोस आधारों एवं तथ्यों का अभाव है। फिर भी इनके समय की जानकारी पूर्वापर अनुमानों के आधार पर की जा सकती है। कुछ तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने इस विषय पर स्व-मत प्रतिस्थापित किया है।

निरुक्तकार आचार्य यास्क पारस्कर देश के रहने वाले थे। निरुक्त के अन्त में " **नमः पारस्कराय नमो यास्काय** " ऐसा लेख मिलता है। " **पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्** " इस सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है - पारस्करो देशः। देश के नाम से भी व्यक्तियों के नाम हुआ करते हैं। " यास्क " पारस्कर देशवासी थे। यास्क यह नाम गोत्र नाम है - **यस्कस्य गोत्रापत्यं यास्कः।** अर्थात् गोत्र के आधार पर ही आचार्य यास्क का नाम पड़ा है। पं. शिवनारायण शास्त्री का मत है कि भारतीय महामरु कान्तार के दक्षिण में पारकर नामक एक देश था, जहाँ आज भी पारकर नाम की एक वस्ती है। यास्क इसी पारकर देश के निवासी थे जिससे इनको पारस्कर कहा गया।

यास्क का वास्तविक नाम क्या था इसके विषय में प्रमाणिक तथ्य प्राप्य नहीं है। इतना अवश्य ज्ञात है कि इनका नाम यास्क नहीं था अपितु यास्क इनके गोत्र का नाम था।

यास्क पाणिनि से भी प्राचीन हैं। पाणिनि के समय में शिक्षा में अधिक ह्रास होने लग गया था , लोग निरुक्तोक्त वैदिक विज्ञान भूलने लगे थे। भाषा में भी बड़े वेग से विकृति का प्रवाह चल पड़ा था। पाणिनि ने चिन्तन किया कि यह प्रवाह शिक्षा के ह्रास के कारण नैसर्गिक है। ऐसा भी समय आ सकता है कि भाषा का वर्तमान स्वरूप बिल्कुल लुप्त हो जाए , तब उस समय के ग्रन्थों को कोई भी नहीं समझ पाएगा , इसलिए उन्होंने उस काल की भाषा को स्थिर रखने के लिए व्याकरण की रचना की , जो आगे चलकर पाणिनीय व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

1.3.1 यास्क का काल

संस्कृत के कवियों व्याकरणाचार्यों के जीवन और समय की यथेष्ठ जानकारी उपलब्ध नहीं है, उससे अछूते यास्क भी नहीं है। यही कारण है कि अन्य की तरह इनके समय के विषय में विद्वान् परस्पर एकमत नहीं हैं। कुल मिलाकर विद्वान् लोग यास्क को पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं तो कुछ प्राचीन यह एक विचारणीय एवं विवादास्पद प्रश्न है। इतिहास हमेशा तथ्यों पर एवं ठोस आधारों पर अवलम्बित होता है। इसलिये यास्क का समय निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ठोस आधारों एवं तथ्यों का अभाव है। फिर भी इनके समय की जानकारी पूर्वापर अनुमानों के आधार पर की जा सकती है। कुछ तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने इस विषय पर स्व-मत प्रतिस्थापित किया है।

इस प्रकार के ह्रास के लिए क्रमशः तीन सौ चार सौ वर्ष का समय अवश्य चाहिए , अतः हम आचार्य यास्क को पाणिनि से पूर्व कलियुग की चतुर्थ शताब्दी का मान सकते हैं। अंग्रेजी तारीख के हिसाब से यह काल ईसा पूर्व 28वीं शताब्दी बैठता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यास्क का काल ईसा से पूर्व 700 वर्ष पूर्व है। यास्क पाणिनि के पूर्ववर्ती या समकालीन थे यास्क पाणिनि से प्राचीन थे। इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपना पृथक् पृथक् मत प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है-

(1) कीथ के अनुसार यास्क का काल लगभग 500 ई० पू० है, अतः इनके मत में यास्क लगभग पाणिनि के समकालीन सिद्ध होते हैं।

(2) यास्क को पाणिनि का पूर्ववर्ती मानने वाले विद्वानों में ब्रह्मदत्त शास्त्री प्रमुख हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में यास्क एवं निरुक्त के निर्देश के आधार पर ब्रह्मदत्त शास्त्री जी का कथन है कि महाभारत की रचना से पूर्व 300 वर्ष के अन्दर ही यास्क का प्रादुर्भाव हुआ होगा।'

(3) पं. शिवनारायण शास्त्री भी यास्क को पाणिनि से प्राचीनतर माने हैं। अपने मत के समर्थन में शिवनारायण शास्त्री ने मैक्समूलर के मत की समीक्षा की है। इनका कहना है कि यास्क ने नामों के आख्यातज होने के जिस सिद्धान्त का वर्णन किया है वह आचार्य यास्क का मत नहीं है बल्कि इन्होंने शाकटायन एवं पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को वर्णित किया है' और गार्ग्य को इस सिद्धान्त का विरोधी कहा है। शाकटायन और गार्ग्य के नाम का उल्लेख पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में कई बार किया है। यास्क नाम की सिद्धि के लिए पाणिनि ने एक गण के आरम्भ में ही यास्क शब्द का उल्लेख किया है'। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यास्क को पाणिनि का परवर्ती माना जाता है तो शाकटायन तथा गार्ग्य को भी पाणिनि का परवर्ती माना जायेगा और पाणिनि के वार्तिककार कात्यायन को पाणिनि का पूर्ववर्ती माना जायेगा। अतः आचार्य यास्क को पाणिनि का पूर्ववर्ती मान सकते हैं, न कि परवर्ती।

4) परमेश्वरानन्द - जैसे सामश्रमी जी पाणिनि के वृद्धि विधायक सूत्र में 'अपार्णम्' शब्द का विधान न होने से और यास्क के द्वारा 'अपार्णम्' पद का प्रयोग किये जाने से यह कहते हैं कि यह (अपार्णम्) शब्द पाणिनिकालीन नहीं था तथा यास्ककालीन यह प्रचलित हो गया था। इसके आधार पर ही वह यास्क को पाणिनि से परवर्ती प्रमाणित करते हैं, वैसे ही वह यह क्यों नहीं कल्पना करते कि पूर्ववर्ती यास्ककालीन 'अपार्णम्' शब्द प्रचलित था एवं परवर्ती पाणिनि के समय तक लुप्त हो गया था। उपर्युक्त मत की पुष्टि डॉ. कपिलदेव शास्त्री ने भी किया है। यथा – निरुक्त में पठित क्रव, जू, नक्ष जैसी धातुएँ पाणिनि धातुपाठ में प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यास्ककालीन प्रचलित कतिपय शब्द पाणिनि के समय तक लुप्त हो गए थे।

निरुक्तकार आचार्य यास्क व्याकरणाचार्य के साथ-साथ एक प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक थे। यास्क विश्व के प्रथम भाषा विज्ञान के ज्ञाता थे। आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से यास्क के निरुक्त में व्युत्पत्ति-विज्ञान , भाषा-विज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान का विस्तार दिखाई देता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान प्रत्येक शब्द के मूल को खोजने का प्रयत्न करता है , यह प्रवृत्ति उसने यास्क के निरुक्त से ही सीखी है। क्योंकि निरुक्त ही भूमण्डल का प्रथम भाषाशास्त्र है।

पाणिनि ने यद्यपि अतिपरोक्षक्रिय शब्दों को अव्युत्पन्न अर्थात् अनिर्वचनीय कहकर छोड़ दिया , परन्तु वे यास्क के "**सर्वाणि नामानि आख्यातजातानि"** सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें भी यास्क के सिद्धान्त को अपने व्याकरण में स्थान देना पड़ा और " **उणादयो बहुलम्** " सूत्र की रचना करनी पड़ी आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से पूर्ववर्ती अनेक नैरुक्तों के विषय में चर्चा की है, उन्होंने औपमन्यव, और्णनाभ, औदुम्बरायण, आग्रायण, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, क्रौष्टुकि, स्थौलाष्ठिवि, और कात्थक्य आदि बारह के नामों की चर्चा अपने निरुक्त में बीच-बीच में की है। यास्क सबसे अन्तिम निर्वचनशास्त्रप्रणेता थे।

- **निरुक्त**

आचार्य यास्क की रचना है-निरुक्त ; इस ग्रंथ के समस्त अध्यायों की संख्या 12 है जो तीन कांडों में विभक्त हैं।

1. **नैघंटुक कांड**
2. **नैगम कांड**
3. **दैवत कांड**

इसके सिवाय परिशिष्ट के रूप में अंतिम दो अध्याय और भी साथ मेंसंलग्न हैं। इस प्रकार कुल 14 अध्याय हैं। जिसमें निघण्टु के पांच अध्यायों में वर्णित कठिन वैदिक शब्दों की व्याख्या है। इसमें विशेषतया नाम , आख्यात , उपसर्ग तथा निपात आदि पद-विभाग के साथ-साथ निर्वचन सिद्धान्त का भी वर्णन प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ मन्त्रार्थ-विज्ञान , देवता का लक्षण , मन्त्रों में देवता की पहचान , देवताओं के काम , मन्त्रों में कौन देवता प्रधान है या गौण है , देवतात्रित्ववाद का एकदेवतावाद और अधिक देवतावाद के साथ विरोध का परिहार , अग्न्यादि देवताओं का किन-किन के साथ साहचर्य है , इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन निरुक्त में उपलब्ध होता है। यास्क का कार्य केवल व्याकरण और व्याख्या तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने वैदिक साहित्य की सांस्कृतिक और धार्मिक महत्व को भी स्पष्ट किया। निघण्टु में परिगणित

वैदिक शब्दों की व्याख्या निरुक्त में प्रस्तुत की गयी है। सम्प्रति केवल यास्क का निरुक्त ही निरुक्त-शास्त्र का ग्रन्थ उपलब्ध है। यास्कानुसार निरुक्त के चतुर्दश प्रकार हैं' – आग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णवाम, कात्थक्य, क्रौष्टकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि। यास्क स्वयं तेरहवें निरुक्तकार के रुप में प्रसिद्ध हैं। कुछ विचारकों के मत में शाकपूणि के पुत्र कौत्सव्य चौदहवें निरुक्तकार हैं।'

आचार्य यास्क के मतानुसार सभी शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः यास्क ने शब्द-व्युत्पत्ति को दिखाकर इस मत को परिपुष्ट किया है। निरुक्त के विषय में बताया गया है-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

अर्थात् निरुक्त के पाँच कार्य है

1. वर्णागम,

2. वर्ण-विपर्यय,

3.वर्ण-विकार

4.वर्ण-नाश और

5. धात्वर्थक सम्बन्ध

ये पाँच बातें व्याकरण में है, अतः निरुक्त को व्याकरण कहा गया है। वेदज्ञों का मानना है कि प्रातिशाख्यों में वैदिक व्याकरण की त्रुटियों को दूर करने के लिये निरुक्तशास्त्र की रचना की गई है।निरुक्त में यास्क ने वेदों के शब्दों की व्युत्पत्ति के सिद्धांतों को स्थापित किया और उनके अर्थों को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न उदाहरणों और दृष्टांतों का उपयोग किया। उन्होंने वेदों के शब्दों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया और उनके अर्थों को समझाने के लिए विभिन्न तकनीकों का उपयोग किया।उनका योगदान भारतीय भाषाविज्ञान और वेदों के अध्ययन में अमूल्य है।निरुक्त में वर्णित उद्धरणों से यह परिलक्षित होता है कि यास्क सम्पूर्ण वैदिक वाङ्गय के ज्ञाता थे तथा आधिदैवत, आध्यात्म, आख्यान समय ऐतिहासिक नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक एवं याज्ञिक दृष्टि से की जानेवाली व्याख्याओं के मर्मज्ञ थे। निरुक्त में यास्क ने इन व्याख्या पद्धतियों का निर्देश किया है। यास्क के देवता विज्ञान के प्रवर्तन की शैली अद्वितीय है। यास्क ने अपनी व्याख्या में सर्वत्र निर्वचनात्मक शैली को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

स्वयं आकलन कीजिये-

अभ्यास प्रश्न 1

1) यास्कस्य कालः कः आसीत्?

2) निरुक्तस्य रचयिता कः?

3) यास्क " कहां के देशवासी थे

1.4 निरुक्त की उपयोगिता

वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये इसे वेदों का श्रोत्र कहा जाता है।' एतदतिरिक्त इसके अध्ययन के बिना मन्त्रार्थ का बोध नहीं हो सकता – '**अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते**। इससे उक्त का ज्ञान होता ही है, इसके अतिरिक्त वैदिक एवं लौकिक शब्दों के निर्वचन की पद्धति का भी ज्ञान होता है। यही कारण है कि निरुक्त को व्याकरण की परि पूर्णता माना जाता है या यों

कह लीजिये कि व्याकरण को परिपूर्णता के साथ-साथ समृद्ध भी करता है। निरुक्त न केवल व्याकरण की समृद्धि करता है, अपितु 'पदपाठ' एवं देवतादि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराता है वैदिक शब्दों के दुरूह अर्थ को स्पष्ट करना ही निरुक्त का प्रयोजन है ऋग्वेदभाष्य भूमिका में सायण ने कहा है- **"अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"** अर्थात् अर्थ की जानकारी की दृष्टि से स्वतंत्ररूप से जहाँ पदों का संग्रह किया जाता है वही निरुक्त है।शिक्षा प्रभृति छह वेदांगों में निरुक्त की गणना है। पाणिनीय शिक्षा में **"निरुक्तं श्रोत्रमुचयते" इस** वाक्य से निरुक्त को वेद का कान बतलाया है। यद्यपि इस शिक्षा में निरुक्त का क्रमप्राप्त चतुर्थ स्थान है तथापि उपयोग की दृष्टि से एवं आभ्यंतर तथा बाह्य विशेषताओं के कारण वेदों में यह प्रथम स्थान रखता है। निरुक्त की जानकारी के बिना वेद के दुर्गम अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है।

काशिकावृत्ति के अनुसार निरूक्त पाँच प्रकार का होता है- वर्णागम (अक्षर बढ़ाना) वर्णविपर्यय (अक्षरों को आगे पीछे करना), वर्णविकार (अक्षरों को वदलना), नाश (अक्षरों को छोड़ना) और धातु के किसी एक अर्थ को सिद्ध करना।

यास्क को निर्वचन विद्या का प्रथम लेखक माना जाता है। यास्क ने सर्वप्रथम निर्वचन को एक पृथक् विज्ञान के रूप में स्थापित किया। निरुक्त में निर्वचन के साथ ही साथ यास्क ने अपने अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है किन्तु इनकी निर्वचन विद्या की महत्ता सर्वाधिक है। वैदिक पाठ्य के सम्यक् ज्ञान के लिये निरुक्त आवश्यक है। निरुक्त को व्याकरण का पूरक माना जाता है-**'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्'** (नि. 1.15)। संहिताओं के पद पाठ में तथा पदों को धातु प्रत्यय आदि में विभक्त करने हेतु निरुक्त आवश्यक है।

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र में एक से अधिक देवता होने पर प्रधान देवता का ज्ञान भी निरुक्त द्वारा होता है अतः इसका व्यावहारिक महत्त्व है। निरुक्त का अध्ययन स्वयं इसके लिये भी किया जाना चाहिये क्योंकि ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा भी की जाती है। भाषाविज्ञान के समान यास्क कृत निर्वचन शब्द के मूल अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अपितु यास्क के निर्वचन का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक अर्थों के साथ शब्द की संगति स्थापित करना है। इस कार्य में कुछ शब्दों का आदिम रूप और अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। निर्वचन में प्रचलित अर्थ का शब्द से अन्वय करने के लिये तथ्यों के आश्रय की अपेक्षा कल्पना का आश्रय लिया जाता है। अतः यास्क के निर्वचन में अर्थानुसार कल्पना के आधार पर शब्दों को अन्वित किया जाता है।

आचार्य यास्क ने निरुक्त की उपयोगिता का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है कि -

1) प्राचीन समय के ऋषियों को वेद एवं धर्म के तत्त्व का साक्षात् ज्ञान था। उन्हें धर्म के विषय में कोई भी शंका नहीं थी। उसके बाद के ऋषि-मुनियों को वेद तथा धर्म का साक्षात् ज्ञान तो नहीं था लेकिन वे अपने पूर्वजों के आशीर्वाद एवं उनके उपदेशों से धर्म विषयक सभी काम आराम से चला लेते थे। परन्तु इसके अनन्तर के ऋषि-मुनियों एवं लोगों को उपदेश के माध्यम से धर्म को समझना बहुत कठिन लगने लगा ; इसलिए उन्होंने सभी उपदेशों को धीरे-धीरे लिपिबद्ध करना अर्थात् लिखना शुरु कर दिया। इस प्रकार लिखने की परम्परा शुरु होने पर सबसे पहले वेद लिखे गए उसके बाद वेदांगों को लिखा। इसी क्रम में बाद में वेदों के कठिन शब्दों के कोशों का निर्माण किया , जिनको समाम्नाय अथवा निघण्टु का नाम दिया और बाद में इसी क्रम में इन कठिन वैदिक-शब्दों के कोशों की व्याख्या लिखी गई ; जिसको निरुक्त के

नाम से जाना जाता है। इस प्रकार निरुक्तशास्त्र प्रसिद्ध हुआ। निघण्टु के कठिन शब्दों की व्याख्या करना " निरुक्त " की प्रथम उपयोगिता है।

2) मानव कठिन शब्दों का प्रयोग थोड़े से परिश्रम से अर्थ का ज्ञान कराने के लिए और व्यवहार सिद्धि के लिए करता है। वेदों का भी प्रयोग किसी अर्थ की दृष्टि से ही किया गया है। यदि हमें किसी विशेष कठिन वैदिक शब्द या किसी पदविशेष का अर्थ जानना है तो निघण्टु में पठित शब्दों के विशेष पद-विभाग प्रकरण के आधार पर ही उनका अर्थ मालूम हो सकता है। परन्तु आख्यात पदो ंके अर्थ को समझने के लिए निरुक्त का आश्रय लेना ही पड़ता है। कई बार हमें वैदिक मन्त्रों के अन्तर्गत वाक्यार्थ एवं पदार्थ के विषय में ज्ञान नहीं हो पाता है , वहाँ पर भी हम निरुक्त के द्वारा वैदिक मन्त्रों के पदार्थ तथा वाक्यार्थ का ज्ञान सम्यक् प्रकार से हो जाता है। स्वयमेव आचार्य यास्क जी ने भी लगभग 440 मन्त्रों की व्याख्या की है, उससे हमें उन मन्त्रों के ज्ञान के साथ-साथ वेद के अन्य मन्त्रों को समझने के लिए भी खूब सहायता मिलती है।

3) वैदिक मन्त्रों या अन्य कठिन शब्दों को समझने के लिए हमारे पास दो साधन हैं - व्याकरण तथा निरुक्त। व्याकरण के माध्यम से शब्दों की रचना अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि का ज्ञान होता है जबकि निरुक्त का कार्य है अर्थ-निर्वचन। हमें वस्तुतः शब्द का अर्थ-ज्ञान होने पर ही ; उसमें प्रकृति , प्रत्यय तथा संस्कार को जानना सम्भव है। अतः निरुक्तशास्त्र के बिना व्याकरण पूर्ण नहीं है। व्याकरण तो केवल व्युत्पन्न शब्दों की रचना के बारे में ही ज्ञान करवाता है लेकिन निरुक्तशास्त्र व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न दोनों ही प्रकार के शब्दों का निर्वचन करता है। इसलिए कठिन शब्दों के अर्थ ज्ञान के लिए निरुक्त की बहुत उपयोगिता है।

4) " **अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते " (** निरुक्त: 1/7) अर्थात् पदों के विभाग का ज्ञान निरुक्त के बिना नहीं सकता है। क्योंकि पद का निर्णय अर्थ के आधार पर होता है। यथा - " अवसाय पद्वते रुद्र मृळ " (ऋ0 10/169/1) तथा " अवसायश्वान् " (ऋ0 1/104/1) इन दोनों ही मन्त्रभाग में " अवसाय " पद व्यवहृत है। व्याकरणशास्त्र के माध्यम से इतना ही पता चलता है कि तिङन्त होने की स्थिति में अव$सो कर्त्तरिलोट् मध्यम पुरुष के एकवचन का है और सुबन्त होने पर यह अवस-शब्द के चतुर्थी एकवचन का रूप है। किन्तु स्पष्ट तौर पर यह हमें निरुक्त से ही ज्ञान होता है कि किस स्थान पर यह नामपद के रूप में प्रयुक्त हुआ है और कहाँ पर यह क्रिया के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार " दूतो निर्ऋत्या इद्माजगाम " पद के विषय में व्याकरण से केवल इतना ज्ञान हो जाएगा कि यह पद चतुर्थी , पंचमी या षष्ठी विभक्ति में से किसी एक का एकवचनान्त रूप हो सकता हैं परन्तु यह ज्ञान कि प्रथम मन्त्र में पंचमी तथा षष्ठी विभक्ति में से किसी एक का एकवचनान्त का और द्वितीया में चतुर्थी एकवचन का अर्थ अभिप्रेत है, अर्थज्ञान का यह निर्णय केवलमात्र निरुक्त से ही हो सकता है। वेदार्थज्ञान के लिए पद-विभाग का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि संहिता पद-प्रकृति ही तो है, और यह पद-विभाग विषयक ज्ञान निरुक्त के बिना नहीं हो पाता है। अतः इस कारण से निरुक्त की अतीव आवश्यकता है।

5) वैदिक मन्त्रों की उपयोगिता या तो उनका अर्थ-बोध कर उन्हें समझाने में है या फिर विभिन्न यज्ञों में उन मन्त्रों में वर्णित देवताओं के निमित्त आहुति आदि प्रदान करने में अर्थज्ञान में निरुक्त की आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध ही है। यज्ञ में भी निरुक्त सहायक सिद्ध होता है। जैसे - **" इन्द्र न त्वा शवसा दे ेवता वायु पृणान्ति "** इत्यादि मन्त्र में इन्द्र का लिंग भी है और वायु का लिंग भी है ; अतः लिंग से देवता निर्णय

करने वाले याज्ञिक लोग यहाँ कठिनाई में पड़ जायेंगे। यहाँ तो निरुक्त से ही पता चल जाएगा कि वस्तुतः प्रधान देवता अग्नि है और इन्द्र तथा वायु दोनों ही गौण देवता हैं। देवता ज्ञान के बिना यज्ञ में ठीक देवता के लिए आहुति प्रदान कर पाना सम्भव नहीं है। इसलिए यह ज्ञान तो केवलमात्र निरुक्त से ही हो सकता है। अतः इस दृष्टि से निरुक्त की बहुत ही उपयोगिता है।

6) निरुक्तशास्त्र का मुख्य लक्ष्य वेद का सम्यक् प्रकार से ज्ञान करना है। अतः ज्ञान से ही वेदज्ञान की उपलब्धि होती है। ज्ञान तो सदैव अज्ञान की अपेक्षा प्रशंसा के योग्य है। जो मनुष्य वेद पढ़कर भी उसके ज्ञान से अपरिचित रहता है, वह तो वस्तुतः भारहार ही है। समस्त ज्ञान के माध्यम से कल्याण की प्राप्ति तो वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ-साथ उसके अर्थ को जानने वाला ही कर सकता है। बिना अर्थज्ञान के वेद मन्त्रों को स्मरण कर लेना या पाठमात्र करने से कभी भी फलदायक नहीं होता। अतः इसके लिए अर्थज्ञान परमावश्यक है और उसके लिए निरुक्त की बहुत ही आवश्यकता है।

7) आचार्य यास्क ने उपर्युक्त छः उपयोगिताओं का ही निर्देश अपने निरुक्तशास्त्र में किया है। इनके अतिरिक्त भाषाशास्त्र की रूपविज्ञान, वाक्य-विज्ञान तथा विशेषतः निरुक्त विज्ञान और अर्थ विज्ञान शाखाओं के साथ ही साथ निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय प्रतिपादित तथा निर्वचन हेतु उपयुक्त वर्णागम , वर्णविपर्यय , वर्णविकार , वर्णनाश आदिस्वरलोप , मध्यम-स्वरलोप , वर्णलोप आदि के सिद्धान्तों से भाषा विज्ञान की ध्वनि-विज्ञान शाखा का अध्ययन करने के लिए भी अतीव महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो जाती है। 'पञ्च जन्या विशा' से अभिहित किया जाता था।

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग, (इन्हीं में निरुक्त भी है), चार वेद = 14 विद्यास्थान। दैवशास्त्रीय उपयोगिता की बात करें तो तत्कालीन वैदिक वाङ्मय का मुख्याधार देवता था। उन देवताओं का भिन्न-भिन्न स्वरूप, आकार, भक्ति-साहर्चय एवं कर्म क तक भी अलग-अलग था। ये सीधे सामाजिक सरोकारों से जुड़े प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये प्राकृतिक देवता थे अर्थात् जो इस चराचर जगत् में विद्यमान अग्नि, वायु, पृथिवी, वर्षा के देवता इन्द्र, जल के देवता वरुणादि थे। ये जन के लिये कल्याणकारी एवं उपयोगी होते थे। अतः तत्कालीन लोग इन प्राकृतिक देवताओं की विधि-विधान से स्तुति, पूजन, अर्चन आदि किया करते थे, ताकि उन्हें कल्याण की प्राप्ति हो सके और मोक्ष-मार्ग प्रशस्त हो। अतः स्पष्ट है कि ये देवता अलौकिक न होकर लौकिक रूप में सामाजिक सरोकारों से जुड़ते हुये लोगों के लिये उपयोगी होते थे दूसरा देवशास्त्र की उपयोगिता यह है कि यदि निरुक्त के दैवत काण्ड में विद्यमान देवताओं के बारें में यथोचित ज्ञान प्राप्त करके वेदों से सम्बन्धित समस्त देवताओं के विभिन्न तत्त्वों को जाना व समझा जा सकता है। या यों कह लीजिये निरुक्त का दैवत काण्ड उपयोगी है। इसलिये सभी को इसका अध्ययन करना चाहिये। जिससे स्वयं का तथा दूसरे का ज्ञानार्जन हो सके एवं कल्याण का प्रयास करते हुये देवताओं के माध्यम से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त एवं प्राप्ति हो सके।

ऋषि गणमंत्रों के साक्षात्कार करने वाले माने गये हैं। उन ऋषियों ने साधारण वेद का साक्षात्कार करने वालों के लिये धर्म का उपदेश देने के लिये मंत्रों का साक्षात्कार किया है।

(1) भगवान् यास्क द्वारा प्रणीत निरुक्त पंचाध्यायी के प्रारम्भ में ही 'समाम्नायः समाम्नातः व्याख्यातव्यः' लिखा है। इसका अभिप्राय है कि निघण्टु शब्दों की व्याख्या करना निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विंटरनित्ज यास्क को प्रथम 'भाष्यगार' तथा 'महर्षि पंतजलि' को वे अपनी अलंकृत शैली में 'भाष्यकारों का राजकुमार' कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का अर्थबोध कराना निरुक्त का प्रथम कार्य है।

(2) इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते।' निरुक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है और यास्क उनका प्रयोग दिखलाने के लिये वैदिक मंत्रों का उद्धरण देखकर उनकी व्याख्या करते हैं। इसलिये मंत्रों के अर्थ का ज्ञान भी यास्क के द्वारा ही होता है। आधुनिक अर्थकारों व साहित्य को यास्क प्रणीत निरुक्त से पर्याप्त सहायता मिलती है।

(3) निरुक्त एक विद्यास्थान है और उसकी गणना प्राचीन काल के चौदहों विद्या स्थानों में की गई है। यथा-

'पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।'

(4) निरुक्त व्याकरण का पूरक भी है, क्योंकि व्याकरण शब्दों की रचना अर्थात् बरिहङ्ग की व्याख्या करता है तो निरुक्त उनके अर्थ अर्थात् अन्तरङ्ग का अन्वेषण करता है।

अतः उक्त दृष्टि से निरुक्त अत्यन्त उपयोगी है। उक्त पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से भी निरुक्त अत्यन्त उपादेय है।

- **स्वयं आकलन कीजिए**

अभ्यास प्रश्न 2

1) निरुक्तं कतिविधम् ?

2) निरुक्ते कति अध्यायाः सन्ति?

3) यास्कस्य निरुक्ते कः मुख्यः विषयः अस्ति?

1.5 सारांश

निरुक्त आज भी वेदों के अध्ययन में एक प्रमुख मार्गदर्शक ग्रंथ माना जाता है। यह वैदिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करता है। यह वेदों की जटिल भाषा और प्रतीकवाद को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।यास्क की व्याख्याओं को संक्षेपित और संरक्षित करते हुए, वेदों और प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन बना हुआ है।यह अध्याय वेदों की भाषा को समझने के लिए एक बुनियादी मार्गदर्शक है। यह संस्कृत के विद्यार्थियों और विद्वानों को शब्दों के मूल और उनके सही उपयोग को समझने में मदद करता है।

1.6 कठिन शब्दावली

निघण्टु = निश्चय से मन्त्रों के अर्थों का बोध कराने वाला

शिपिविष्टः= यह एक विशेषण है जिसका अर्थ है 'सूर्य के रूप में प्रतिष्ठित'।

अव्यग्रोः= धैर्यशील, अद्वितीय बुद्धि वाला।

गुह्ननायधरोः =गुह (गोपन) और ह्न (हरण) करने वाला (यहाँ यह ईश्वर के रूप में संदर्भित है)।

उदारधीः:= महान बुद्धि वाला।

शवसाः =शक्ति से, बल से।

1.7 स्वयं आकलन प्रश्नों क उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) ७००ईसापूर्व

2) आचार्य यास्कः

3) " पारस्कर

अभ्यास प्रश्न 2

1) पंचविधम्

2) द्वादश

3) शब्दानां व्युत्पत्तिः

1.8 सहायक- ग्रन्थ

1 निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2 निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

1.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

- आचार्य यास्कस्य जीवनपरिचयं वर्णयत।
- निरुक्तशास्त्रस्य रचयिता कः वर्तते ?
- निरुक्तस्योपादेयतां प्रयोजनानि च प्रतिपादयत।

¤¤¤¤

इकाई 2
निघण्टु एवं पद-विभाग

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 निघण्टु की रूपरेखा

- स्वयं आकलन प्रश्न

2.4 पद-विभाग

2.4.1 नाम

2.4.2 आख्यात

2.4.3 उपसर्ग

2.4.4 निपात

- स्वयं आकलन प्रश्न

2.5 सारांश

2.6 कठिन शब्दावली

2.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

2.8 सहायक ग्रन्थ

2.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

निघण्टु, वैदिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसे निरुक्त के संदर्भ में अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों की शुद्धता और उनके सही अर्थ की व्याख्या में निघण्टु की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। यह अध्याय हमें न केवल वैदिक भाषा और उसके शब्दों की समृद्धि से परिचित कराता है, बल्कि वैदिक परंपरा और ज्ञान को भी संरक्षित और प्रचारित करने में सहायक होता है।

इस इकाई में हम निरुक्त के अन्तरङ्ग-भाग का अर्थात् उसकी विषय- वस्तु का अध्ययन करेंगे। यद्यपि निरुक्त में यास्क ने मुख्यरूप से पद-विभाग को ही वर्णित किया है किन्तु इसके अन्तर्गत बहुत से अवान्तर विषयों का भी इसमें समावेश किया गया है।

2.2 उद्देश्य

इकाई अध्ययन के पश्चात् पाठक---

•निघण्टु आदि कठिन शब्दों को जानेंगे ।

•वैदिक शब्दों के दुरूह अर्थ को स्पष्ट करेगे।

•वैदिक साहित्य की महत्ता और उसकी प्रासंगिकता को समझ सकेगे।

•प्राचीन ज्ञान की महत्ता को पहचान सकेंगे और उसे भविष्य की पीढ़ियों तक पहुंचा सकेगे े।

2.3 निघण्टु

संस्कृत साहित्य में अनेक कोश ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य से सम्बद्ध जिस कोश की रचना हुई वह निघण्टु है। इस कोश में वैदिक शब्दों का सङ्कलन किया गया है।

निघण्टु शब्द नि उपसर्ग पूर्वक घण्ट् धातु से कु प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। 'नि' उपसर्ग' के विभिन्न अर्थों में 'एकत्रीकरण' अर्थ अधिक उपर्युक्त प्रतीत होता है। क्योंकि इसमें शब्दों का (सङ्ग्रह वा) एकत्रीकरण विभिन्न ग्रन्थों से किया गया है। 'घण्ट्र" धातु के दो अर्थों में प्रकाशित करना अर्थ अधिक अभिष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार अर्थ को प्रकाशित करने वाले वैदिक शब्दों का सड. ग्रह रूप निघण्टु बाद में वैदिक कोष-ग्रन्थ के लिए प्रयोग किया गया है। 'कु' प्रत्यय निपात से हुआ

निघण्टु वैदिक शब्दों या पदों का एक संग्रह ग्रन्थ है। 'निघण्टु' शब्द का अर्थ नाम-संग्रह है, जो 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'घटि' धातु से 'मृगव्यादयश्च' सूत्र से 'कु' प्रत्यय करने पर निघंटु शब्द व्युत्पन्न होता है । वर्तमान में उपलब्ध निघण्टु के वास्तविक कर्ता के सन्दर्भ में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। बहुत से विद्वान् आचार्य यास्क को ही निघण्टु का कर्ता मानते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है, परन्तु प्रसिद्ध भाष्यकार दुर्गाचार्य ने निघण्टु के 'दावने' व अकूपारस्य' इन दो शब्दों के व्याख्यानरूप निरुक्त ग्रन्थ की व्याख्या के अन्त में लिखा है-

"एतस्मिन् मन्त्रे अकूपारस्य दावने इत्येवम् अनयोः प्रयोरनुक्रमः तेन ज्ञायते अन्यै रेवाभमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एवं चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानंभाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावाद् पाठानुक्रमं नाभङ्.क्ष्यत्।।

आचार्य यास्क निघण्टु की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - निघण्टवः कस्मात् ? - निगमा इमे भवन्ति। अर्थात् निघण्टु क्यों कहे जाते हैं ? क्योंकि ये शब्द निश्चय से मन्त्रों के अर्थों का बोध कराने वाले होते हैं । अतः इनको निघण्टु कहा जाता है।

ॐ समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः । तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते । निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

समाम्नायः (गौ से लेकर देवपत्नी पर्यन्त) वैदिक शब्द-समुदाय समाम्नातः (मन्त्रों के अर्थ के परिज्ञान के लिए ऋषियों द्वारा) एकत्र किया गया है। सः वह (वैदिक शब्दसमुदाय) व्याख्यातव्यः व्याख्यान करने योग्य है अर्थात् उसका सम्यक् प्रकार से विवेचन करना है। तम् उस (ऋषियों द्वारा एकत्र किये गये) इमं इस समाम्नायं वैदिक शब्द समुदाय को निघण्टवः निघण्टु - इति आचक्षते इस (नाम) से (ऋषियों द्वारा) अभिहित किया गया (कहा गया) है। इस शब्द-समुदाय को निघण्टवः निघण्टु कस्मात् किस कारण से (कहा जाता है, इसे बतलाया जा रहा है)। इमे ये (शब्दसमुदाय) निगमाः निश्चित रूप से (वेद-मन्त्रों के अर्थों को) बतलाने वाले (बोध कराने वाले) भवन्ति होते हैं (क्योंकि ये शब्दसमुदाय) छन्दोभ्यः वेदों से समाहृत्य समाहृत्य चुन- चुन कर समाम्नाताः एकत्रित (सङ्गृहीत) किये गये हैं।

विमर्श-

(१) 'समाम्नाय' शब्द 'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक कथनार्थक 'म्ना' से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-सम्यग् रूप से मर्यादापूर्वक पाठ, परम्परागत निरुक्तम् सङ्ग्रह। वैदिकाचार्यों ने वेदों के शब्दों को परम्परागत रूप से सम्यक्तया चुन चुन कर एकत्रित किया है, अतः यह शब्दसमूह 'समाम्नाय' है। समाम्नायः समाम्नातः' का अभिप्राय यह है कि अभीष्ट वैदिक शब्दों के संग्रह का कार्य समाप्त हो चुका। अब उसकी व्याख्या करनी चाहिये। यह वाक्य 'कर्मवाच्य' का है अर्थात् यहां 'कर्म' ('समाम्नाय') को कहने के लिए 'क्त' प्रत्यय प्रयुक्त है। परन्तु 'कर्ता' का नाम नहीं लिया गया। इस कारण यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस 'समाम्नाय' का समाम्नान करने वाला कौन है?

प्रायः अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याख्याकार 'समाम्नाय' शब्द का 'परम्परागत प्राचीन एवं प्रसिद्ध शब्दकोश' अर्थ करते हुए यास्क से भिन्न किसी प्राचीन ऋषि को 'समाम्नाय' अथवा 'निघण्टु' का प्रणेता मानते हैं।

यहां 'सः' का अभिप्राय है वह 'समाम्नाय' अथवा वैदिक शब्दों का संग्रह, जिसका समाम्नाय वास्क ने किया था 'व्याख्यातव्यः' शब्द में 'तव्यत्', प्रत्यय 'अह' अथवा योग्य अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त हुआ है अर्थात् 'अह' अर्थ को कहने के लिए 'कृत्य' तथा 'तृच' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। 'कृत्य' कहे जाने वाले प्रत्ययों में 'तव्यत्' प्रत्यय भी समाविष्ट है। इसलिए 'स व्याख्यातव्यः' का अर्थ हुआ वह 'समाम्नाय' या शब्दसंग्रह जो व्याख्याह (व्याख्या के योग्य) है। दूसरे शब्दों में इस शब्द-संग्रह की व्याख्या करना आवश्यक है क्योंकि उन संगृहीत शब्दों का अर्थ जाने बिना उस ग्रन्थ के उद्देश्य-वेदार्थ का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि - " **छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः** " अर्थात् ये शब्द मन्त्रों से एकत्रित करके ग्रथित किये गये हैं। इसलिए निश्चय से मन्त्रों के अर्थ का बोध कराने में समर्थ हैं।

ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः । अपि वाऽऽ हननादेव स्युः, समाहृता भवन्ति । यद्वा समाहृता भवन्ति ।

ते वे (निघण्टु में पठित शब्दसमुदाय) निगमनात् निश्चित रूप से (वेद-मन्त्रों के अर्थों का) अवबोध कराने के कारण निगन्तवः एव सन्तः निगन्तु होते हुए निघण्टवः निघण्टु उच्यन्ते कहे जाते हैं। इति औपमन्यवः ऐसा उपमन्यु के अनुयायी लोग मानते है। अपि वा अथवा समाहताः सम्यक् प्रकार से (वेदों से) (चुन-चुनकर) पढ़े गये हैं (इसलिए) आहननात् एव स्युः आहनन् (पढ़ी जाने वाली) क्रिया के योग के कारण (निर्हन्तु होते हुए निघण्टु) कहे जाते हैं। यद्वा अथवा समाहृताः (चुन-चुनकर) समाहृत (एकत्रित) किये गये भवन्ति होते हैं (अतः समाहरण क्रिया के योग से निर्हर्तु होते हुए निघण्टु कहे जाते हैं।

" ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। " वे ये शब्द निश्चय से मन्त्रार्थ का बोध कराने के कारण " निगन्तव एव सन्तः " निगन्तु ही होते हुए " निघण्टु " कहे जाने लगे। ऐसा उपमन्यु के पुत्र - औपमन्यव आचार्य का मत है।

" **अपि वाऽऽहननादेव स्युः , समाहृता भवन्ति।** " अथवा क्योंकि ये शब्द अच्छी तरह से पंचाध्यायी में क्रमशः पढ़े गये हैं। अतः आहनन योग से अर्थात् पंचाध्यायी में पठन के कारण इनका निघण्टु नाम पड़ा।

"**यद्वा समाहृता भवन्ति**।" क्योंकि ये शब्द मन्त्रों से एकत्रित किये गये हैं। अतः इस समाहरण क्रियायोग से निघण्टु बोले जाने लगे। अतएव न तो निगमन के कारण निघण्टु नाम हुआ और न समाहनन के कारण किन्तु " समाहरण " के कारण निघण्टु नाम हुआ है।

'निघण्टु' शब्द की इन तीन व्युत्पत्तियों द्वारा निघण्टु अथवा 'समाम्नाय' की तीन विशेषताओं को प्रकट किया गया है। पहली विशेषता यह है कि निघण्डु के शब्द मंत्रों के अर्थ का चोध कराने नाताः। जाते हैं, दूसरी-वे समूह रूप में एक मर्यादा के साथ संगृहीत अथवा पठित हैं, और तीसरी-वे शब्द उननाद् इंद्र से चुन-चुन करके एकत्र किये गये हैं। स्पष्ट है कि ये तीनों निर्वचन केवल अर्थ की दृष्टि से ही यास्क ने प्रस्तुत किये। प्रथम तो "समाम्नाय" शब्द के पर्यायवाची "निघण्टु" शब्द की व्युत्पत्ति का कथन किया गया और निघण्टु शब्द का अर्थ तत्वतः निर्धारित नहीं किया गया है। अतः निघण्टु शब्द का ना अर्थ निर्धारण किया जाता है। जो ये लोक में और वेद में (1) नाम, (2) आख्यात, (3) उपसर्ग और (4) निपात और पद जात, पद गण ये अर्थ होते हैं उनमें पहले (1) "नाम" शब्द पुल्लिंग, स्त्रीलिंग त्पनि तथा नपुंसकलिंग भेद से तीन प्रकार का होता है। (2) दूसरा "आख्यात" शब्द कर्तृचाची, कर्मवाची उता और भाववाची भेद से तीन प्रकार का होता है। (3) उपसर्ग शब्द प्र, परा, अप, सम आदि को गणा उपसर्ग कहा गया है। (4) निपात-इव, नु, च, ह आदि को निपात कहा गया है। इन चारों में नाम त्रेद और आख्यात प्रधान माने गये हैं। इसीलिये इनका नाम-कथन पहले किया गया है और उपसर्ग गण तथा निपात को अप्रधान होने के कारण बाद में कहा गया है। "नाम" और आख्यात ये दोनों न्या अर्थबोधक होने के कारण प्रधान कहे जाते हैं। उपसर्ग और निपात का अर्थ निश्चित न होने के बात् कारण अप्रधान कहे जाते हैं क्योंकि नाम और आख्यात ये दोनों वाच्यार्थ के साथ ही अर्थ का बोध शिकराते हैं। अतः नाम और आख्यात को प्रधान कहते हैं। उपसर्ग और निपात प्रतीयमान अर्थ के नाइ साथ अर्थ वाले होते हैं इसलिये उपसर्ग और निपात को अप्रधान कहते हैं। यही कारण है नाम और आख्यात का पहले परिगणन किया गया है जो सर्वथा उचित ही है। नाम और आख्यात ये दोनों पद नापि परस्पर सापेक्ष हैं और सोम सूर्य आदि नाम निराकांक्ष होते हैं। जब तक नाम (सोम सूर्य आदि) का वाणि आख्यात (पठति, गच्छति, पचति आदि) के साथ योग न हो, योग होने पर सापेक्ष होते हैं। आख्यात जब तक आख्यात का "नाम" के वे पद भी तब तक साथ योग न हो, निरपेक्ष होते हैं उपसर्ग और त। निपात, नाम और आख्यात के अर्थ विशेष के द्योतक होते हैं। अतः उपसर्ग और निपात दोनों नाम * और आख्यात के सहयोगी माने गये हैं, इसीलिये उपसर्ग और निपात का पाठ नाम आख्यात के पति बाद पढ़ा गया है। इस प्रकार पद चार प्रकार के होते हैं (1) नाम, (2) आख्यात, (3) उपसर्ग और (4) निपात इन चारों का निर्धारण करने के लिये ही चार प्रकार के शब्द का निरूपण किया जगया है।

उन लौकिक और वैदिक चार प्रकार के पदों में नाम और आख्यात का भेद वर्णन करते । हुये लक्षण किया गया है कि भाव प्रधानम् "... नामानि"।

नाम पद वाच्यार्थ के आश्रय से क्रिया का व्यंग्य 'भाव' कहा जाता है जैसे पाक, राग, त्याग संज्ञक पद ही जहां प्रधा होते हैं और क्रिया अप्रधान (गौण) होती है उसे "भाव प्रधान आख्यात' कहते हैं।

कतिपय विद्वान 'भाव प्रधानम्' से प्रकृति (धातुजन्य) अर्थ को प्रधान मानते हैं, प्रकृति अर्थ का विशेषण और प्रत्यय अर्थ हानाथ के प्रकृति क्रिया को धातु अर्थ मानते हैं। भाव को धातु का अर्थ मानकर जहाँ धातु का अर्थ प्राय को कजार साधन अप्रधान हों वहां उस धातु के अर्थ को भावप्रधान आख्यात होता है।"

आख्यातज पद "नाम" पद से पहले होता है। अतः आख्यात का लक्षण पहले कथन करके 'नाम' का स्वरूप कहते है 'सत्व प्रधानानि, पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक और एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन का निर्देश होने से 'सत्व', कहा गया है जिनमें 'सत्व' प्रधान होता है और क्रिया अप्रधान होती है उन शब्दों को नाम कहते हैं। आख्यात शब्द में गौण रूप से झुकते हैं, उन पदों को नाम कहते हैं अथवा अपने अर्थ को आख्यात शब्द के अप्रधान रूप से झुकते हैं अर्थात् मिलाते हैं। इनको नाम कहते हैं। जिस प्रकार द्रव्य के होने पर भी 'आख्यात' में द्रव्य विवक्षित नहीं होता है, उसी प्रकार नाम में क्रिया के होने पर भी क्रिया विवक्षित नहीं होती है। 'सत्व' शब्द द्रव्याश्रय होता है। इस प्रकार नाम और आख्यात का लक्षण और दोनों में भेद समझना चाहिये।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1) निघण्टवः कस्मात्?

  2) समाम्नाय' इति शब्दस्य कः अर्थः?

2.4 पदानां चतुर्था विभाजनम्

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

तत् तो यानि जो एतानि ये चत्वारि चार पदजातानि पदसमुदाय हैं-नामाख्याते (१) नाम, (२) आख्यात उपसर्गनिपाताश्च (३) उपसर्ग और (४) निपात, तानि वे पदसमुदाय इमानि ये (निघण्टु-संज्ञक) भवन्ति होते हैं।

विमर्श-(१) यास्क ने पदों को चार विभागों में विभक्त किया है-नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वैदिक और लौकिक सम्पूर्ण शब्दसमुदाय इन्हीं चारों पदभेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(२) इन्द्र- सम्प्रदाय के वैयाकरणों के अनुसार अर्थ का अभिधान करने वाला

(नामाख्यातयोर्लक्षणम्)

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति- भावप्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि ।

तत्र उन (पदों के चार विभागों) में नामाख्यातयोः नाम और आख्यात का एतत् लक्षणं यह लक्षण प्रदिशन्ति प्रदर्शित (प्रस्तुत) कर रहे हैं- भावप्रधानं क्रिया की प्रधानता वाला आख्यातं आख्यात (कहलाता है)। सत्वप्रधानानि द्रव्य की प्रधानता वाले नामानि नाम कहलाते हैं।

अतः चार पद हैं - 1) नाम 2) आख्यात 3) उपसर्ग 4) निपात ; इन चारों पदों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है:-

2.4.1 **नाम**

" **सत्त्व प्रधानानि नामानि**। " अर्थात् जिस पद में सत्त्व - द्रव्य की प्रधानता होती है , उसे नाम कहा जाता है। अथवा जहाँ सत्त्व अर्थात् लिंग संख्या वचनादि जिसका अनुगमन करे , ऐसा सत्त्व-द्रव्य प्रधान हो और अन्य गौण हो , वह नाम कहलाता है। नाम शब्द किसी भी वस्तु, व्यक्ति या स्थान को निर्दिष्ट करते हैं। ये स्थूल रूप में ज्ञात होते हैं. । जैसे - पुरुष , रमा , धन आदि नाम शब्दों की द्रव्य प्रधानता के कारण ही वृहद्धेवताकार के 'नाम' शब्दों के स्वरूप को निम्न श्लोक में प्रस्तुत किया हैः

"शब्देनोच्चरितेनेह् येन द्रव्यं प्रतीयते । तदक्षरविधौ मुक्तं नामेत्याहुंमनीषिणः । अष्टी यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्भेषु विभक्तयः। तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिंगयोः ।।"

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव्य की प्रधानता से प्रतीति हो उसे व्याकरण में 'नाम' कहते हैं। इस प्रकार जिस शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं और वचन तथा लिंग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है नाम, कहलाता है। नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रविशन्ति अर्थात् 'नाम' तथा 'आख्यात' का लक्षण बताते हैं जिसमें पहले 'नाम' तथा फिर 'आख्यात' को रखा गया क्योंकि 'नाम' शब्द 'आख्यात' की अपेक्षा छोटा है। परन्तु देते समय 'आख्यात' का लक्षण पहले इसलिए किया कि सभी नामों के मूल में आख्यात ही विद्यमान रहता है। ऐसा प्रायः सभी नैरुक्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'आख्यात' की प्रधानता इसलिए भी है कि एक आख्यात से अनेक नाम पद निष्पन्न होते हैं। नाम को प्रमाणित करने के लिए यास्क ने निम्न तर्क दिए हैं:

(1) देवदत्त आदि नाम शब्दों का उच्चारण होने पर देवदत्त आदि द्रव्य का ही प्रधान रूप से बोध होता है क्योंकि देवदत्त द्रव्य का तो निश्चय इस शब्द से हो जाता है परन्तु वह क्या करता है-पढ़ता है, सोता है या खाता है? इन क्रियाओं का निश्चय नहीं हो पाता ।

(2) कः पठति ? इस प्रकार के द्रव्य विषयक प्रश्न के उत्तर में रामः जैसें किसी नाम शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

(3) जब कभी किसी प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह लिंग तथा संख्या से युक्त होता है। विद्वानों ने लिंग तथा संख्या से युक्त होने को ही सत्व कहा है।

(4) नाम शब्दों में सत्व की प्रधानता होने के कारण ही नाम शब्दों को सत्व नाम अर्थात् सत्व का वाचक भी कहा गया है।

2.4.2 आख्यात

" **भावप्रधानमाख्यातम्**। " अर्थात् भाव-क्रिया है मुख्य जिसमें वह आख्यात कहलाता है। अथवा जहाँ भाव- पचति , भवति , भुङ्क्ते आदि क्रिया प्रधान हो और कारकादि या नाम आदि सब गौण हों , वह आख्यात है। आख्यात शब्द किसी कार्य या घटना का बोध कराते हैं।यास्क ने आख्यात का लक्षण इस प्रकार किया है- "भावप्रधानम् आख्यातम्" अर्थात् जिन पदों में क्रिया या भाव की प्रधानता हो उसे आख्यात कहते हैं। यास्क ने 'नाम' तथा आख्यात पदों का आशय स्पष्ट करने के उद्देश्य से दोनों को विशेष तौर पर परिभाषित किया है परन्तु लक्षण देते समय 'आख्यात' का लक्षण पहले प्रस्तुत किया है क्योंकि सभी नामों के मूल में 'आख्यात' ही विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त 'आख्यात' की प्रधानता इसलिए भी है कि एक 'आख्यात' (लघु) में अनेक नाम पद उत्पन्न होते हैं।

यहां भाव का तात्पर्य क्रिया की साध्यावस्था से है, सिद्धावस्था से नहीं। अर्थात् जिन पदों के अर्थों में साध्यभाव (क्रिया) की प्रधानता हो उसे 'आख्यात' कहते हैं। जैसे गच्छति, पचति, आदि। अर्थात् जहां प्रधान रूप से क्रिया और गीण रूप से द्रव्य का कथन हो, वह 'आख्यात' है। आख्यात शब्दों में प्रधान रूप से क्रिया की प्रतीति होती है। यों तो आख्यात पद का प्रयोग कहीं-कहीं धातु के लिए या कहीं-कहीं केवल तिङ् विभक्तियों के लिए भी हुआ है।

भावप्रधानम् शब्द में बहुव्रीहि समास है-भावं प्रधानं यत्र अर्थात् जहां भाव की प्रधानता हो, वह आख्यात है। इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए व्याख्याकारों ने निम्न तर्क दिए हैं:-

(1) पचति या व्रजति, आदि तिङ्न्त या आख्यात पदों के प्रयोग से क्रिया का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि यहां पकने या जाने की क्रिया हो रही है जबकि कर्ता, आदि कारकों का या द्रव्य का निश्चय नहीं हो पाता। उसका निश्चय तभी होता है जब उस कारक अथवा द्रव्य का नाम लिया जाता है।

(2) देवदत्तः किं करोति ? इस रूप में जब किसी क्रिया के विषय में प्रश्न किया जाता है तब उसका उत्तर पठति जैसे किसी 'आख्यात' शब्द द्वारा ही दिया जाता है 'नाम' शब्द द्वारा नहीं।

(3) तिङ्न्त शब्दों के चार अर्थ माने गए हैं-भाव (क्रिया) कारक, संख्या तथा काल। परन्तु इन चारों अर्थों में क्रिया की सर्वोपरि प्रधानता आख्यात पदों के प्रयोग में परिलक्षित होती है।

2.4.3 उपसर्ग

" उच्चावचाः पदार्थाः भवन्ति। " अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होते है, वे उपसर्ग कहलाते हैं। वहाँ प्र , परा , अप आदि व्याकरण के अनुसार 22 उपसर्ग हैं। परन्तु आचार्य यास्क अपने निरुक्त में 20 उपसर्गों का ही उल्लेख करते हैं। वैसे तो नाम और आख्यात के साथ इन उपसर्गों का प्रयोग ज्यादातर किया जाता है परन्तु कहीं पर ये स्वतन्त्र रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। उपसर्ग शब्दांश मूल शब्द के साथ जुड़कर उसके अर्थ में परिवर्तन लाते हैं। ये संज्ञा, विशेषण और क्रियाओं में विभिन्न प्रकार के अर्थ जोड़ते हैं। संस्कृत व्याकरण में उपसर्गों के द्योतकत्व तथा वाचकत्व पक्ष को लेकर बहुत प्राचीन काल से आचार्यों में विवाद रहा है। शाकटायन का विचार हैं कि उपसर्ग सदा नाम या आख्यात पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी वे स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। अतः यही मानना चाहिए कि उपसर्ग स्वयं किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं करते जो उन नाम या तिङ्न्त पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ हों जिनके साथ ये प्रयुक्त होते हैं।

उपसर्ग के विषय में नैरुक्तों का मत वैयाकरणों से भिन्न रहा है। नैरुक्त उपसर्गों को अर्थों का द्योतक न मानकर वाचक मानते रहे हैं। उपसर्ग के इन स्वतंत्र प्रयोगों तथा उनसे प्रकट होने वाले विशिष्ट अर्थों को देखकर ही पंतजलि को भी, जो उपसर्गों के द्योतकत्व पक्ष के समर्थक हैं, यह कहना पड़ा कि उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जब उनके साथ किसी क्रियावाचक शब्द का प्रयोग होता है तो वहां वे क्रिया विशेष को कहते हैं। परन्तु जहां उनके साथ तिङ्त पद का प्रयोग नहीं होता वहां साधन से विशिष्ट क्रिया को कहते हैं।

वस्तुतः वैदिक मंत्रों में उपसर्गों के स्वतंत्र प्रयोगों को देखते हुए वैदिक भाषा की दृष्टि से उपसर्गों को अर्थ का वाचक मानना उचित भी प्रतीत होता है। उपसर्गों के अर्थ प्रदर्शन में यास्क ने अपनी शैली के अनुसार बड़े संक्षेप में काम लिया है, यहां तक कि आवश्यक क्रियाओं का भी प्रयोग नहीं करना चाहा तथा उपलक्षण के रूप में उपसर्गों के बहुत प्रसिद्ध अर्थों को दिखाया है। यास्क कृत निरुक्त में उपसर्गों के प्रकार तथा उनका अर्थ इस प्रकार वर्णित है।

2.4.4 निपात

" **उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति।** " अर्थात् जो वैदिक मन्त्रों या लौकिक श्लोकों या वाक्य आदि में अनेक अर्थों में गिरते हैं; अथवा जिनके अनेक अर्थ होते हैं, वे निपात कहे जाते हैं। ये निपात कुछ तो उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, कुछ अर्थोंपसंग्रह के अर्थ में प्रयोग में लाए जाते हैं और कुछ केवल पद की पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक साहित्य में उपमार्थ , कर्मोपसंग्रहार्थ और पद-पूर्त्यर्थ इन तीन प्रकार से निपातों का प्रयोग किया जाता है। निपात शब्दांश वाक्य में विविध भावों को प्रकट करने

के लिए प्रयोग होते हैं। ये शब्दांश स्वतंत्र रूप से अर्थ नहीं देते, परंतु वाक्य के अर्थ को स्पष्ट और पूर्ण बनाते हैं।

इस प्रकार से नाम , आख्यात , उपसर्ग और निपात ये चार पद ही निघण्टु संज्ञक हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) कतिविधानि पदजातानि ?

  2) एतानि चत्वारि पदानि सन्ति?

  3) नाम पदस्य किं लक्षणम् ?

  4) निघण्टुसंज्ञका: के भवन्ति?

  5) सत्त्व किमुच्यते ?

  6) आख्यातं कि भवति ?

  7) नाम किमस्ति?

2.5 सारांश

इस इकाई में हमने निघण्टु और पद विभाग पर विस्तृत चर्चा की , निघण्टु वैदिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें वैदिक ऋचाओं में प्रयुक्त दुर्लभ और कठिन शब्दों का संग्रह और उनकी व्याख्या की गई है।पद विभाग, निरुक्त का एक महत्वपूर्ण भाग है जो वैदिक साहित्य और संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में अत्यंत सहायक है ।।निघण्टु और पद विभाग दोनों ही निरुक्त के महत्वपूर्ण अंग हैं, जो वैदिक साहित्य की शुद्धता, उसकी व्याख्या और उसके अध्ययन में सहायक होते हैं। निघण्टु वैदिक शब्दों का संग्रह और उनके अर्थ को स्पष्ट करता है, जबकि पद विभाग उन शब्दों को विभाजित कर उनके सही प्रयोग और संदर्भ को दर्शाता है। दोनों ही वैदिक भाषा और साहित्य की समृद्धि को समझने और संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2.6 कठिन शब्दावली

निघण्टु - निश्चय से मन्त्रों के अर्थों का बोध कराने वाला

व्रजति - जाता हैं

अणीय: - अति सूक्ष्म

प्रकृति – मूलम्

विग्रहः - विश्लेषणम्

प्रत्ययः - प्रत्ययविकल्पः

व्युत्पत्तिः - उत्पत्तिः

आस्ते - बैठता है

अयुगपत् - भिन्न २ समय में उत्पन्न

निरुक्तम् - व्याख्यानम्

समास: - संयोगः

धातुः - मूलरूपम्

सन्धिः - संयोगः

2.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) निगमा इमे भवन्ति ।

2) संगृहीत

अभ्यास प्रश्न 2

1) चतुर्विधानि

2) निघण्टुसंज्ञक

3) सत्त्वप्रधानानि नामानि

4) नामाख्यातेचोपसर्गनिपाताः

5) द्रव्यम्

6) पचति- इत्यादि किया

7) पुरुषः रमा धनमादि।

2.8 सहायक- ग्रन्थ

1. निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2. निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

2.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) आख्यात-पदस्य किं लक्षणम् ?

2) व्याख्या प्रसंगोल्लेखपूर्वकं करणीया: ।

क) भावप्रधानमाख्यातम् सत्वप्रधानानि नामानि।

ख) तद्यानि चत्वारि पद जातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति ।

ग) "न सर्वाणि नामानि आख्यातजानि" इति मतं स्पष्टीकुरूत ।

¤¤¤¤

इकाई 3
भाव-विकार

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 भाव-विकार

3.3.1 जायते
3.3.2 अस्ति
3.3.3 विपरिणमते
3.3.4 वर्द्धते
3.3.5 अपक्षीयते
3.3.6 विनश्यति

- स्वयं आकलन प्रश्न

3.4 शब्द नित्यत्व

- स्वयं आकलन प्रश्न

3.5 सारांश

3.6 कठिन शब्दावली

3.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

3.8 सहायक ग्रन्थ

3.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

निरुक्त, जो वैदिक साहित्य के सहायक अंगों में से एक है, संस्कृत शब्दों और उनके अर्थों की विस्तृत व्याख्या करता है। यह न केवल भाषा की जड़ों को स्पष्ट करता है, बल्कि वैदिक और उपनिषदिक दर्शन के गूढ़ सिद्धांतों को भी उजागर करता है। इन सिद्धांतों में से एक महत्वपूर्ण विषय है "भाव विकार"।भाव विकारों का तात्पर्य अस्तित्व के विभिन्न परिवर्तनों और अवस्थाओं से है, जो किसी भी प्राणी या वस्तु के जीवन चक्र में घटित होती हैं। इस इकाई में हम भाव विकारों की और शब्द नित्यत्व पर विस्तार से चर्चा करेंगे और उनका विश्लेषण करेंगे कि वे हमारे जीवन और आध्यात्मिक साधना में कैसे परिलक्षित होते हैं। हम यह भी समझेंगे कि इन विकारों के प्रति जागरूकता कैसे हमें आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जा सकती है। इस प्रस्तावना का उद्देश्य आपको इस विषय की गहराई और उसकी प्रासंगिकता से परिचित कराना है। ताकि आप आगे के अध्यायों को अधिक स्पष्टता और समझ के साथ पढ़ सकें।

3.2 उद्देश्य

•विषय की गहराई और उसकी प्रासंगिकता से परिचित कराना

•भाव-विकार अर्थात् क्रिया में परिवर्तन होना स्वभाविक है इस तथ्य को भी जानना

•मानसिक स्थिरता और नैतिक मूल्यों की स्थापना

•पाठक को जीवन के अस्थायी स्वभाव को पहचानने और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने के लि प्रोत्साहित करना

3.3 भाव-विकार

" भवति इति भावः " अर्थात् भाव शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है होना या क्रिया करना। भाव शब्द भू-धातु से घञ् प्रत्यय करके बनता है। होना या क्रिया करना द्रव्य का ही धर्म है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रति क्षण कोई न कोई क्रिया नहीं करता। अर्थात् द्रव्य की अवस्था हर समय परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तनशील अवस्था ही भाव है।

भाव की अवस्थाएं-

(1) साध्यावस्था- इसमें भाव की प्रधानता होने पर आख्यात क्रियावाचक होता है।

(2) सिद्धावस्था- इसमें सत्व की प्रधानता होने पर नाम क्रियावाचक होता है। आख्यात में क्रिया सदैव रहती है- अमूर्त। नाम में क्रिया होती है- मूर्त।

पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजेति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्ग पर्यन्तम् । पूर्वापर के क्रम से होने वाले भाव को आख्यात नाम से पुकारते हैं जैसे- चलता है, पकाता है अर्थात् जिसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक का कथन हो। (उपक्रम-आरम्भ, अपवर्ग-अन्त) ।

"क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः"।।

सत्त्वोपदेशनिरूपण-

मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वानामभिर्व्रज्या पक्तिरिति। अदः इति सत्वानामुपदेशः। - गौरश्वः पुरुषो हस्तीति। (सत्व- द्रव्य)

ठोस अर्थात् सिद्ध क्रिया के रूप में परिणत भाव को सत्व नाम से पुकारते हैं जैसे- गमन और पाक । अद (वह) से वस्तुओं का सामान्य उपदेश होता है । परन्तु विशेषतः सत्वोपदेश गो, अश्व, पुरुष, हाथी इनसे होता है ।

भावोपदेशनिरूपण-

भवतीति भावस्य। आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठतीति । भवति (होता है) से भाव (आख्यात) का सामान्योपदेश होता है, परन्तु विशेषोपदेश आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति इनसे होता है ।

संसार में यह परिवर्तन क्रिया के कारण होता है। अर्थात् स्पष्ट है कि भाव शब्द का सामान्य अर्थ है - क्रिया। क्रिया में परिवर्तन ही भाव-विकार कहलाता है।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः । जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति । जायते इति पूर्वभाव- स्यादिमाचष्टे । नापरभावमाचष्टे-न प्रतिषेधति । अस्तीत्युत्पन्न- स्य सत्त्वस्यावधारणम् । विपरिणमते इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वा- द्विकारम् । वर्धते इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम् । सांयौगिकानां वाऽर्था-

नाम् । वर्धते विजयेनेति वा, शरीरेणेति वा । अपक्षीयते इति एतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम् । विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे । न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

वार्ष्याणि का मत है कि क्रिया के छः रूप हैं- जन्म लेना, होना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। (१) 'जन्म' से पूर्व-क्रिया (जन्म) का बोध होता है, आगेवाली क्रिया (अस्ति) का नहीं, फिर आगेवाली क्रिया से] उसे कोई विरोध भी नहीं। (२) 'होना' से उत्पन्न वस्तु की सत्ता मालूम होती है। (३) 'बदलना' से अपनी प्रकृति न छोड़नेवाली वस्तु के परिवर्तन का बोध होता है। (४) 'बढ़ना' से अपने अंगों (जैसे हाथ, पैर) या संयुक्त अर्थों (जैसे स्वर्ण, धान्य) की वृद्धि का बोध होता है जैसे-विजय से बढ़ता है, शरीर से बढ़ता है । (२) 'घटना' की अर्थात् किसी भी वस्तु के छः क्रियाविकार हुआ करते हैं, ऐसा वार्ष्यायणि का सिद्धान्त है। वे छः भाव-विकार निम्नलिखित हैं - 1) जायते 2) अस्ति 3) विपरिणमते 4) वर्द्धते 5) अपक्षीयते 6) विनश्यति इन छः भाव-विकारों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार से है -

3.3.1 जायते

जायते शब्द जन्-धातु से आत्मन पद के लट्लकार प्र0पु0 एकवचन में बनता है ; जिसका अर्थ है- उत्पन्न होना। " **जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभावमाचष्टे , न प्रतिषेधति**। " अर्थात् जायते यह क्रिया अपने से दूसरी या अग्रिम-अस्ति क्रिया को न कहती है और न ही उसका निषेध करती है क्योंकि जायते इस क्रिया का पूर्व की किसी न किसी क्रिया के साथ सम्बन्ध है। यह वह प्रारंभिक अवस्था है जहाँ कुछ अस्तित्व में आता है। बीज से जब अंकुर निकलता है क्षीयते' यह कहा जाता है कि अंकर पैदा हुआ। यद्यपि 'पैदा होना' के साथ-साथ 'होना' रूप किया या भावम भाव विकार भी हैं ही। परन्तु यहां 'जायते' शब्द 'उत्पन्न होने' रूप भाव विकार को ही कहता है. होना' रूप भाव विकार को नहीं कहता और न उस 'भाव' का प्रतिषेध करता है। कहता इसलिये नाहीं कि 'जायते' का अर्थ केवल 'होना' न होकर 'उत्पन्न होना' अर्थ है और निषेध इसलिये नहीं करता कि 'उत्पन्न होना' रूप भाव विकार हो ही तब सकता है जब कोई पदार्थ हो, अर्थात् वहां ता है होना' रूप भाव-विकार भी हो।

3.3.2 अस्ति

अस्ति शब्द अस्-धातु से परस्मैपद लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन में सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है- विद्यमानता। " **अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्**। " अर्थात् यह शब्द या यह क्रिया पैदा हुए पदार्थ की निश्चयात्मक स्थिति को कहता है। और यह अस्ति क्रिया अपने से अगली क्रिया " विपरिणमते " को न स्वीकार करती है और न ही उसका प्रतिषेध करती है क्योंकि अस्ति-इस क्रिया का पूर्व की जायते-क्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जन्म के बाद, एक प्राणी या वस्तु विद्यमान रहती है और जारी रहती है। वैयाकरणों ने भी 'अस्ति' का अर्थ किया है 'आत्म-धारणानुकूलो व्यापारः'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते', वर्तते' ये सभी धातुएँ सामान्य सत्ता अथवा 'भाव' को ही कहती हैं, जिसका अर्थ होता है-अपने को 'धारण करना'। इसलिये यास्क ने 'भवति इति भावस्य' कहकर 'सत्ता' को भाव सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कैयट ने इसी दृष्टि से 'आत्म-भरण-वचनो भवति' कहा। नसे) भर्तृहरि ने 'अस्ति' के अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए

यह कहा कि 'अपने को अपने द्वारा धारण करने की स्थिति को 'अस्ति' पद के द्वारा कहा जाता है-आत्मानम् आत्मना विभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते' ।

3.3.3 **विपरिणमते**

विपरिणमते शब्द वि , परि उपसर्ग पूर्वक नम्-धातु से आत्मनेपद में लट्लकार प्र0पु0 एकवचन में बनता है।

-विपरिणमत इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्।

विपरिणमते का अर्थ है - बदलता है। यह क्रिया वस्तु के विकारमात्र को कहती है। विपरिणमते-यह क्रिया अपने से अगली क्रिया यानि-वर्द्धते इस क्रिया को न तो कहती है और न ही उसका निषेध करती है क्योंकि इस क्रिया का अपने से पूर्व क्रिया के साथ सम्बन्ध है।जैसे-जैसे प्राणी या वस्तु बढ़ती है, यह अपने रूप और प्रकृति में परिवर्तन से गुजरती है। यहां 'परिवर्तन' का अभिप्राय वह सामान्य विकार है जिसमें वस्तु अपने मौलिक धर्म, तत्त्व या स्वभाव से रहित नहीं होता। जैसे मानव शरीर में विविध परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु शरीर के स्वभाव में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

3.3.4 **वर्द्धते**

वर्द्धते यह शब्द वृध् धातु से आत्मनेपद में लट्लकार प्र0पु0 एकवचन में सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है-बढ़ता है। वर्द्धते शब्द - स्वांगाभ्युच्चयम् अर्थात् अपने
शिर ,ग्रीवा आदि अवयवों की वृद्धि को कहता है।

वर्द्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयोगिकानां वार्थानाम्- वर्द्धते विजयेनेति वा, वर्द्धते शरीरेणेति वा। (वृद्धि होना, वृद्धि दोप्रकार की) शारीरिक, धन-धान्य ।

अपने सम्पर्क में आए हुए धन-धान्य आदि पदार्थों की बढ़ोतरी को भी कहता है। अथवा वह जीतता जा रहा है या वह विजय से बढ़ रहा है। जब हम वर्द्धते कहते हैं तो इससे अग्रिम क्रिया यानि अपक्षीयते को न ही कहते हैं और न ही उसका निषेध करते हैं क्योंकि वर्द्धते इस क्रिया का विपरिणमते इस पूर्व क्रिया के साथ भी सम्बन्ध होता है। यह प्राणी या वस्तु की विस्तार और परिपक्वता को इंगित करता है। यह 'वृद्धि' दो प्रकार की हो सकती है। पहली अपने शरीर की वृद्धि तथा दूसरी अपने से सम्बद्ध या संयुक्त पदार्थों की वृद्धि अथवा पुष्टि। यहां निरुक्त में 'स्वाङ्ग' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है-शरीर के अङ्ग के अर्थ में नहीं। पहले प्रकार की 'वृद्धि' की दृष्टि से 'वर्धते शरीरेण' यह उदारहण दिया गया तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से 'वर्धते विजयेन' उदाहरण दिया गया। इस प्रकार के और उदाहरण 'वर्धते धनेन' 'वर्धते यशसा' इत्यादि हो सकते हैं। निरुक्त में 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण 'वर्धते विजयेन' के पहले आना चाहिये।

3.3.5 **अपक्षीयते**

अप उपसर्ग पूर्वक क्षि-धातु से आत्मनेपद के लट्लकार प्र0पु0 एकवचन में यह रूप सिद्ध होता है। इसका अर्थ है-घटता है। अपक्षीयते इत्यतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। (घटना दो प्रकार से) शारीरिक, धन-धान्य यह उसी वर्द्धते से उल्टा समझना चाहिए। जैसे सांयौगिक पदार्थों की वृद्धि होती है उसी प्रकार उनका अपक्षय भी होता है। जैसे शरीर के अंगों का क्षीण होना , धन-धान्य की कमी होना अथवा पराजय से क्षीणता को प्राप्त होना। यह सब अपक्षीयते भाव-विकार के अन्तर्गत होता है। अपक्षीयते यह क्रिया अपने से

अगली अर्थात् विनश्यति-क्रिया का न तो समर्थन करती है और न ही उसका प्रतिषेध करती है। क्योंकि इस क्रिया का वद्धते-पूर्व क्रिया के साथ सम्बन्ध है। चरम पर पहुँचने के बाद, प्राणी या वस्तु का ह्रास शुरू हो जाता है। यह 'हास' भी 'वृद्धि' के समान दो प्रकार का हो सकता है-पहला शरीर का ह्रास तथा दूसरा अपने से युक्त या सम्बद्ध पदार्थों का हास। पहले का उदाहरण है-'अपक्षीयते शरीरेण' तथा दूसरे का उदाहरण है- 'अपक्षीयते अपजयेन' इत्यादि। इसीलिये यास्क ने यहां केवल "अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्" इतना कहना ही पर्याप्त समझा।

3.3.6 **विनश्यति**

विनश्यति यह शब्द वि उपसर्ग पूर्वक नश्-धातु से परस्मैपद में लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन में बनता है। जिसका अर्थ है-नष्ट होना।

विनश्यतीति- विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे, न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। (नष्ट हाना)

यह केवल अन्तिम क्रिया के प्रारम्भमात्र को कहता है। यह न तो पूर्वभाव को कहता है और न ही उसका प्रतिषेध करता है। अंततः, प्राणी या वस्तु नष्ट हो जाती है और समाप्त हो जाती है। पूर्व के भाव-विकार 'अपक्षय' को न तो कहता ही है और न उनका निषेध ही करता है। कहता इसलिये नहीं कि 'विनश्यति' का अर्थ 'अपक्षय' अथवा 'हास' न होकर 'पूर्ण विनाश' हुआ करता है और निषेध इसलिये नहीं कर सकता है कि 'अपक्षय' के हुए बिना 'विनाश' हो ही नहीं सकता।

आचार्य वार्ष्यायणि का कहना है कि इनसे अतिरिक्त और भी क्रिया अथवा भाव-विकार हैं परन्तु उन सबका उपर्युक्त छः भाव-विकारों में ही अन्तरभाव हो जाता है। उनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है -

जायते - निष्पद्यते , उत्पद्यते , अभिव्यज्यते।

अस्ति - वर्तते , विद्यते।

विपरिणमते - परिवर्तते जीर्य्यति।

वर्द्धते - पुष्यति , उपचीयते।

अपक्षीयते - ध्वंस्यति , भ्रश्यति।

विनश्यति - म्रियते , लीयते।

आचार्य यास्क के मत में प्रत्येक भाव केवल अपनी ही प्रक्रिया को प्रकट करता है और न ही इसका निषेध करता है। हाँ पूर्ववर्ती भाव के प्रकट होने में गौण रूप में अपेक्षित अवश्य है। क्योंकि विपरिणाम का होना असम्भव है। ऐसे ही अन्य सभी भाव-विकारों में भी पूर्ववर्ती भावविकार की अपेक्षा रहती है। संसार की सभी अवस्थायें भाव के ही विभिन्न रूप हैं। अतः सम्पूर्ण जगत् के समस्त विकारों का समाहार उपर्युक्त छः विकारों में ही हो जाता है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1) भाव शब्दस्य कोऽर्थः ?

  2) कतिभावविकाराः ?

3.4 शब्द नित्यत्व

वैयाकरणों की भाँति आचार्य यास्क भी शब्द को नित्य मानते हैं। परन्तु उस काल में शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही दार्शनिकों में प्रसिद्ध था। यास्क से पूर्ववर्ती आचार्य औदुम्बरायण, जो कि कदाचित् सांख्य शास्त्री थे, इन्होंने शब्द की नित्यता को तीन कारणों से असिद्ध माना और उसे अनित्य बतलाया। जैसा कि-

1. इन्द्रियनित्यं वचनं। तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते ।
2. अयुगपदुत्पन्नानां शब्दानामितरेतरोपदेशो नोपपद्यते।
3. शास्त्रकृतो योगश्च नोपपद्यते।

यास्क के द्वारा निर्धारित शब्द चतुष्टयरूप समुदाय इन्द्रिय नित्य है अर्थात् वागिन्द्रिय में नियत है। इनमें से किसी भी पद का जैसे उच्चारण होगा, वैसे ही एक वर्ण के उच्चारण के बाद उसका नाश होने पर ही द्वितीय वर्ण का उच्चारण सम्भव है। वर्णों में उच्चरित प्रध्वंसिता होने के कारण उनको नित्य मानना उचित नहीं है। ऐसे ही जो आशु विध्वंसी वर्ण या पद हैं, वे नश्वर होने के कारण परस्पर सापेक्ष नहीं हो सकते। कोई किसी के सापेक्ष तब होगा, जब वह रहेगा। जब उच्चरित होते ही वे नष्ट हो जाते हैं तो यह कथन कैसे सिद्ध होगा कि नाम आख्यात के सापेक्ष है अथवा आख्यात नाम से अधिक मुख्य है। गौणता या मुख्यता तो तभी होती है, जब वस्तु की सत्ता रहे, जब वस्तु ही नहीं होगी, तो उसकी गौणता या मुख्यता का प्रसंग ही नहीं हो सकता। ऐसे ही धातु-उपसर्ग का या धातु-प्रत्यय का संयोग, जो कि शास्त्र से प्रतिपादित है, वह कैसे होगा, जब पद होगा ही नहीं। उच्चारण के ऐसा संयोजन भी सम्भव न नष्ट हो जाने वाले वर्ण-पदादि में अतएव शब्द को अनित्य मानना चाहिये।

" **इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः** " अर्थात् आचार्य औदुम्बरायण के मतानुसार शब्द जब तक इन्द्रिय में स्थित रहता है तब तक ही उस शब्द की स्थिति है। उसके सिद्धान्तानुसार जब तक बोलने वाले के मुख में वर्ण है तब तक तो उसकी सत्ता है किन्तु उच्चारण करते ही वह वर्ण नष्ट हो जाता है अर्थात् वक्ता की वागिन्द्रिय तथा सुनने वाले की श्रोत्रेन्द्रिय में जब तक शब्द स्थिति है , तब तक ही उस शब्द की सत्ता है। उससे पहले या बाद में उस शब्द का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। क्योंकि बोलते समय एक ही शब्द का उच्चारण हो सकता है ; अतः उच्चार्यमाण शब्द तो नष्ट है उसके साथ बोला हुआ शब्द भी नष्ट हुआ ही है। इसलिए वागात्मक इन्द्रिय में नियत वर्ण की सत्ता है , बोलने के बाद वह वर्ण नष्ट हो जाता है , अतः उन वर्णों के नाम , आख्यात , उपसर्ग , निपात आदि भेद नहीं बन सकते ; क्योंकि विद्यमान और अविद्यमार को संयोग असंभव है। जब तक सभी वर्ण एकत्रित नहीं हो जाते , उस समय तक उन वर्णों का पद-विभाग नहीं हो सकता। औदुम्बरायण एक प्राचीन आचार्य हो चुके हैं। यास्क ने इन्हें जिस रूप में यहां उद्धृत किया हैं उससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द को अनित्य मानते थे-केवल वाग् इन्द्रिय में ही उसका सत्ता मानते थे। अर्थात् जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तभी तक शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही वह नष्ट हो जाता है। संभवतः इस मत में शब्द तथा उसकी ध्वनि में कोई अन्तर न मानते हुये ध्वनि को ही शब्द माना जाता रहा। पर यदि शब्द को इस प्रकार अनित्य स्वभाव वाला माना गया तो उसकी अनित्यता के कारण 'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग' तथा 'निपात' ये चतुर्विध विभाग नहीं बन सकेंगे। इसका कारण यह है कि जब शब्द उच्चरित होते ही नष्ट हो जाता है, यह मान लिया गया तो फिर वाक्य में अनेक

शब्दों की एक साथ स्थिति संभव नहीं है और शब्दों की एक साथ स्थिति न होने पर 'नाम', 'आख्यात' आदि का विभाग किया जाना भी संभव नहीं है। उदाहरण के लिये जब वक्ता'गौः' गृहम् आयाति कहेगा तो जब तक उसकी वाणी 'ग' का उच्चारण करके आगे 'गौ' को उच्चारण करने का प्रयास करेगी उसी समय 'ग' नष्ट हो चुका होगा। इस प्रकार एक पूरा शब्द भी एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेगा पूरे वाक्य की तो बात ओर है। जब ये तीनों शब्द एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेंगे तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'गौः' तथा 'गृहम्' नाम शब्द हैं तथा 'आयाति' आख्यात शब्द हैं। यास्क ने संक्षेप में यह कहा है कि भावों या विचारों को अधिक से अधिक सरल तथा सुस्पष्ट रूप में शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। संकेत या शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बहुत थोड़ी बातें, प्रकट की जा सकती हैं तथा साथ ही उनमें बहुत कुछ अस्पष्टता एवं संन्दिग्धता बनी ही रहेगी। इसके अतिरिक्त इशारों और संकेतों से बातें बताने में देर ही लग सकती है। इसीलिये वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम शब्दों के द्वारा रखे गये तथा शब्दों का ही विभिन्न अर्थों में संकेत किया गया।

इसी तरह चूंकि शब्द एक साथ उच्चरित हो नहीं सकते, इसलिये उनमें कौन शब्द प्रधान है तथा कौन अप्रधान है अथवा कौन विशेषण है, कौन विशेष्य है, इस प्रकार का शब्दों का पारस्परिक संबंध भी नहीं बन सकता। जब 'गौः गृहम् आयाति' इत्यादि वाक्यों में सभी शब्द एक साथ विद्यमान ही नहीं है तो फिर एक-दूसरे की दृष्टि से प्रकर्षापकर्ष या प्रधानाप्रधान-भाव का निर्णय करना तथा यह कहना कि 'गौः' और 'गृहम्' शब्द अप्रधान हैं तथा 'गच्छति' शब्द प्रधान है या इसी तरह 'शुक्ला' 'गौः' में 'शुक्ला' विशेषण है तथा 'गौ' विशेष्य है। इस प्रकार का कोई भी निर्धारण या विचार सुसंगत नहीं हो सकता। 'शास्त्रकृतः' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है एक शास्त्रेण कृतो योगः शास्त्रकृतो योगः अर्थात् व्याकरणशास्त्र में प्रदर्शित प्रकृति प्रत्ययादि का संबंध तथा दूसरी शास्त्रं करोति इति शास्त्रकृत् आचार्यः तस्य योगः अर्थात् व्याकरणशास्त्र को बनाने वाले आचायों के द्वारा प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययादि का संबंध।

आचार्य औदुम्बरायण और भी शंका करते हैं कि - " **अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः** " अर्थात् वाक्य के अवयवभूत एक साथ न उत्पन्न हुए शब्दां े का जो परस्पर प्रधानाप्रधान भाव है , वह भी उत्पन्न नहीं हो सकता ;

अतः नाम की आख्यात के प्रति गौणता और आख्यात की नाम के प्रति मुख्यता नहीं बन सकती। क्योंकि उच्चारणानन्तर ही विनष्ट हुआ नाम कैसे आख्यात के प्रति गुणभाव को प्राप्त हो सकता है। विनष्ट और अविनष्ट का परस्पर प्रधानाप्रधान भाव असंगत है। इसके अतिरिक्त यह भी कहते हैं कि - " **शास्त्रकृतो योगश्च** " और शास्त्र में देखा गया कि एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। जैसे - उपसर्ग का धातु के साथ और धातु का उपसर्ग के साथ योग असम्भव है। उनके मतानुसार शब्द सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ से एकसाथ उत्पन्न हुए अतः वे नित्य हैं। और फिर दूसरे सृष्टि-काल में शब्द अखण्ड रूप में उत्पन्न हुए, अतः वे अखण्ड हैं, फिर उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना कैसी ?

इसलिए शब्द के इन्द्रियनित्य होने के शास्त्रकृतयोग भी अनुपन्न है, अर्थात् निरुक्त जो वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार आदि से योग की कल्पना करता है और वैयाकरण जो प्रकृति-प्रत्यय तथा उनसे युक्त होकर आने वाले संस्कार की कल्पना करते हैं। वह सब अनुचित है। अतः शब्दों में किसी प्रकार के योग अथवा प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना असंभव है।

यास्क उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करते हुए कहते हैं कि - " **व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य** " शब्द क्योंकि व्याप्तिमान है, अतः ये तीनों बातें उचित हैं। वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द थोड़ी देर में नष्ट हो जाता है, किन्तु शब्द की आकृति जैसे - जाति, स्फोट आदि विनष्ट नहीं होती। वह श्रोता की बुद्धि में अर्थ का प्रतिपादन करने के उपरान्त शब्दब्रह्म को व्याप्त करके स्थित हो जाती है। यदि शब्द अनित्य होता तो श्रोता के मन में सुने हुए शब्द का संस्कार कैसे बैठेगा ? शब्द की ध्वनि के नष्ट होने से पूर्व ही सुनने वाला उसके एस संस्कार को श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर लेता है। अतः इस संस्कार रूपी शब्द-आकृति को नित्य मानना पड़ेगा यह स्फोट कहलाती है। यह शब्द स्फोट ही सुनने वाले की बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर अर्थ का ज्ञान करता है । इस प्रकार एक समय अनुत्पन्न होने पर भी ये शब्द स्फोट श्रोता की बुद्धि में स्थिर होते हैं, अतः इन शब्दों को गिना तथा विभक्त किया जा सकता है। इस प्रकार शब्द के अनित्य इन्द्रियनित्य होने पर भी पद-विभाग, गौणप्रधान भाव तथा शास्त्रकृतयोग युक्तिसंगत है।

अर्थात् कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः शब्द तो नित्य है, उच्चारण क्रिया से तो वह केवल प्रकट होता है। यह उच्चारण क्रिया तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। शब्द तो न उत्पन्न होता है और न ही विनष्ट होता है। अतएव वचनानित्यत्व दोष या आक्षेप निराधार है। और अत्यन्त लाघव होने से थोड़े में बहुत ज्यादा काम देने से शब्द द्वारा संकेत करना लोक में व्यवहार के लिए है। सारांश यह है कि यदि कोई यह आशंका करे कि जब कि हम हाथ के मिलाने , आँख के मीचन आदि इशारों से ही व्यवहार चला सकते हैं तो इतने बड़े शब्दसमूह की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि शब्द के निश्चितार्थ और अत्यन्त होने से जो ज्ञान हमें आसानी से शब्दों द्वारा हो सकता है, वह दुरुह या कठिन संकेतों से नहीं हो सकता।शब्द तथा ध्वनि ये दोनों पृथक-पृथक तत्व हैं। शब्द नित्य हैं अर्थात् सदा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में विद्यमान रहते हैं। ध्वनियों के द्वारा केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। शब्द की ध्वनियों के द्वारा होने वाली यह अभिव्यक्ति ही अनित्य है क्योंकि ध्वनियां वाग् इन्द्रिय आदि के द्वारा उच्चरित होती हैं तथा तुरन्त नष्ट हो जाती हैं। परन्तु शब्द अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त चाहे जिस रूप में रहे-दोनों स्थितियों में यह नित्य है। पंतजलि ने महाभाष्य में स्फोटस् तात्वान् एव ध्वनिकृता वृद्धिः कहकर शब्द के इसी नित्य रूप को स्पष्ट किया है। शब्द के इस नित्य स्वरूप की दृष्टि से ही शब्द का दूसरा नाम 'स्फोट' या 'शब्द ब्रह्म' पड़ा। कात्यायन, पंतजलि तथा भर्तृहरि आदि ने न केवल शब्द को ही अपितु शब्द, अर्थ और उनके संबंध तीनों का नित्य माना है। इस रूप में शब्दों के नित्य होने के कारण शब्दों के उपर्युक्त चार प्रकार का विभाजन वाक्य में विद्यमान शब्दों का पारस्परिक गीण-प्रधान-भाव तथा प्रकृति-प्रत्यय या धातु उपसर्ग आदि का योग अर्थात् संबंध, सब कुछ उत्पन्न हो जायेगा।

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण वेद में कर्मों के सम्पूरक मंत्र (सगृहीत) हैं। संस्कृत व्याख्या- पुरुषेषु-मनुष्येषु विद्यायाः- विज्ञानस्यानित्यतवात् विस्मरणेन कर्मसम्पत्तिः न स्यात्, अविगुणकर्मफलसम्पत्तिः, भवेत् इत्येवमर्थ वेदे मंत्रः समाम्नात इति वाक्यशेषः ।।

यह पूछा जा सकता है कि यदि वैदिक भाषा और लौकिक भाषा दोनों समान रूप से सार्थक हैं तो फिर यज्ञ आदि कार्यों में वैदिक मंत्रों के प्रयोग की अनिवार्यता क्यों मानी जाती है। अपनी इच्छानुसार जिस किसी भी भाषा में रचित पद्यों या वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि कार्य क्यों न किए जायें इस प्रश्न का उत्तर यास्क यह देते हैं कि दोनों भाषाओं के समान होने पर भी वेद-मंत्र अपौरुषेय हैं और लौकिक भाषा में निबद्ध वाक्य या पद्य पौरुषेय हैं, मानव निर्मित हैं। भारतीय परम्परा इस बात को मानती आयी हैं कि वेद मानवीय ज्ञान

न होकर स्वतंत्र रूप से समुद्भूत शाश्वत ज्ञान है, जिसका ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। दूसरी ओर मानव का ज्ञान अनित्य है, - अपूर्ण है, तथा उसकी शक्ति एवं बुद्धि सीमित है। इसलिये उसकी भाषा में भी यह अपूर्णता अवश्य होगी। अतः मानवीय भाषा का प्रयोग होने पर यज्ञ आदि कार्यों की फलोत्पादकता या दूसरे शब्दों में इनकी सफलता के विषय में संदेह हो सकता है। परन्तु वेद-मंत्र के द्वारा किए जाने पर यज्ञ आदि कार्य निश्चित रूप से फल के उत्पादक होंगे। वे यज्ञ आदि कार्य पूर्ण ही तब माने जायेंगे जब उनमें वैदिक मंत्रों का प्रयोग एवं विनियोग किया जायेगा।

शब्द को नित्य मानते हुए भी पद-विभाग को अनुपपन्न मानने वालों की आपत्ति का समाधान भी आचार्य यास्क उपर्युक्त युक्ति से ही कर देते हैं। हिरण्यगर्भ से एक साथ शब्दों को उत्पन्न मानने पर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनकी अभिव्यक्ति आवश्यकतानुसार अयुगपत् ही होती है। अतः अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर पद-विभाग आदि ठीक ही है। इसके अतिरिक्त समाम्नाय में समान्नात पदो ंके विशेष अर्थों को शास्त्र द्वारा निश्चय करके उनके आधार पर संक्षेप, संदेह निराकरण तथा वाङ्मय की रक्षा के लिए नाम , आख्यात , उपसर्ग तथा निपात यह चतुर्विध पद-विभाग अनुचित नहीं है। यह पद यद्यपि सृष्टि के आदि में एक साथ भले ही उत्पन्न हुए हों फिर भी अपनी भाव प्रधानता आदि सहज विशेषता के कारण उन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस प्रकार गौण प्रधानभाव तथा शास्त्रकृत योग भी उत्पन्न ही है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) " व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य "यह किसका मत है?

2) इन्द्रयनित्यम्- इस का शब्द का क्या अर्थ है

3.5 सारांश

वर्णित पाठ के सारांशरूप में हम ये कह सकते हैं कि वेदों के ज्ञान को समझने के लिए हमें निरुक्तरूपी वेदांग का अच्छी प्रकार से पठन पाठन बहुत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त निरुक्त में वर्णित निरुक्त की उपयोगिता नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इत्यादि चारों पदों तथा भाव-विकार अर्थात् प्रत्येक प्राणी के जीवन में घटित होने वाली हर प्रकार की क्रिया में परिवर्तन को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि क्रिया में परिवर्तन के कारण ही संसार का हर जीव अपने जीवन में उन्नत्ति प्राप्त करता है और उसी परिवर्तन से ही वह नाश को प्राप्त होता है। भाव विकार सभी घटनाओं के अस्थायी स्वभाव को उजागर करते हैं। जो कुछ भी अस्तित्व में आता है, वह इन चरणों से गुजरता है और अंततः नष्ट हो जाता है, जिससे जीवन और भौतिक अस्तित्व की अस्थिरता का पता चलता है।

3.6 कठिन शब्दावली

भाव = होना, सत्ता, घटित होना या अस्तित्त्व	जायते = उत्पन्न होना
विपरिणमते = बदलना	अपक्षीयते = घटना
प्रतिलोमम् = क्षीण होना	आचष्टे = कहना

3.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. क्रिया

2. षड्

अभ्यास प्रश्न 2

1) यास्क

2) इन्द्रिय में नियत अर्थात् ठहरा हुआ

3.8 सहायक- ग्रन्थ

1 निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2 निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

3.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) भाव शब्दस्यार्थो विलिख्य भाव-विकाराणां वर्णनं कुरुत।

2) शब्दस्य नित्यत्वं साधयत।

3) कतिभावविकारा: के च ते किमत्र कस्याभिमतं कश्च सिद्धान्त: विव्रियताम् तावत्।

(4) इन्द्रिय नित्यं वचनं औदुम्बरायण: । तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते ।

¤¤¤¤

इकाई 4
उपसर्ग निरूपण

सरंचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 उपसर्ग-विचार
- स्वयं आकलन प्रश्न

4.4 उपसर्गों का अर्थवाचकत्व
- स्वयं आकलन प्रश्न

4.5 सारांश
4.6 कठिन शब्दावली
4.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
4.8 सहायक ग्रन्थ
4.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

निरुक्त' के अंतर्गत विभिन्न भाषाशास्त्रीय तत्वों का विश्लेषण किया गया है, जिनमें उपसर्ग का विशेष स्थान है । प्रस्तुत पाठ में हम निरुक्त के प्रथम अध्याय से ही सामग्री प्रेषित कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत उपसर्ग पर विशेषरूप से विचार किया जाएगा। वस्तुतः उपसर्ग अनेकार्थक हैं फिर भी ये स्वयं अर्थयुक्त होते हुए भी धातु के साथ लगकर उसके अर्थ को भी परिवर्तित करने में सहायक हैं।।इसके इकाई के माध्यम से पाठक न केवल उपसर्गों की व्याकरणिक महत्ता को समझ सकेंगे, बल्कि वैदिक साहित्य के गूढ़ अर्थों को भी अधिक गहराई से जान पाएंगे। इस प्रकार, उपसर्गों का अध्ययन भाषा के विकास और संस्कृत के समृद्ध साहित्य को समझने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।। उपरोक्त इन विषयों पर इस पाठ में विस्तृत चर्चा की जा रही है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के प्रमुख उद्देश्य है-

- उपसर्गो की सार्थकता एवं निरर्थकता के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना।
- विविध उपसर्गों के प्रयोग के विषय में जानना।
- पाठकों की भाषा और साहित्य के प्रति गहन समझ को विकसित करना
- संस्कृत व्याकरण की उन्नत संरचना को समझना

4.3 उपसर्ग-विचार

आचार्य यास्क नाम और आख्यात का निरूपण करने के उपरान्त उपसर्गों का निरूपण करते हैं, जो कि उनकी पदचतुष्टयी में तीसरे हैं। उपसर्गों के विषय में दो मत हैं-शाकटायन का द्योतकतावादी मत और गार्ग्य का वाचकतावादी मत ।

1. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः ।

2. उच्चावचाः पदार्था भवन्ति ।

यास्क इन दोनों मतों के बीच सामंजस्य बैठाते हुए उनके स्वरूप एवं अर्थपरकता का प्रतिपादन करते हैं। उनके मत में उपसर्ग क्रियापद और नाम पद दोनों से सम्बद्ध होकर अर्थविशेष को कहते अथवा झलकाते हैं (जबकि वैयाकरणों के मत में-उपसर्गाः क्रियायोगे-क्रिया से युक्त होने पर ही उनका उपसर्गत्व है।)। उपसर्ग कर्मोपसंयोग द्योतक होते हैं। अर्थात् नाम तथा आख्यात के साथ जुड़कर उसका किसी अवान्तर अर्थविशेष से सम्बन्ध प्रकट करते हैं। यास्क के मत में उपसर्ग बीस हैं-आ, प्र. परा, अभि, प्रति, अति, सु, निर्, (यहाँ वैयाकरण निस् और निर् दो उपसर्ग मानते हैं।) दुर (यहाँ भी दुस् तथा दुर्-ये दो उपसर्ग वैयाकरणों को अभीष्ट हैं), नि, अव, इत, सम्, वि, अप, अनु, अपि, उप, परि तथा अधि। यास्क इनमें प्रत्येक का अर्थ न बतलाकर संकेत से भी उसे दरसा देते हैं। जैसे अभि का अर्थ आभिमुख्य है तो प्रति उसका विपर्यय है। आ का अर्थ है इधर तो प्र तथा परा का अर्थ उधर है। अति तथा सु आदरार्थक हैं और निर्, दुर्, अनादरार्थक। नि तथा अव नीचे अर्थ में तथा उद् ऊपर अर्थ में। सम् का अर्थ है साथ होना और वि तथा अप का अर्थ है साथ न होना। समान एवं पीछे होना-ये दो अनु के अर्थ हैं। ऐसे ही अपि का संसर्ग, उप का सामीप्य, परि का चारों ओर, अधि का ऐश्वर्य अथवा ऊर्ध्वगत होना।

उपसर्गों से अर्थ के विषय में प्राचीन काल से ही दो सम्प्रदाय चले आए हैं। एक सम्प्रदाय के अनुसार जिस प्रकार नाम एवं आख्यात पदों का अपना कोई न कोई अर्थ होता है उसी प्रकार इन उपसर्गों का कोई अपना स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता , ये नाम तथा आख्यात के अर्थ को ही विशिष्ट बनाकर प्रस्तुत करते हैं। आचार्य यास्क के अनुसार इस मत वाले सम्प्रदाय में आचार्य शाकटायन आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनको पूर्वपक्ष में रखा है ,जिसका वर्णन इस प्रकार है -

पूर्व पक्ष

पूर्वपक्ष से सम्बद्ध आचार्य शाकटायन का मानना है कि - **"न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति।"** अर्थात् नाम तथा आख्यात से निर्बद्ध उपसर्ग किसी अर्थ के वाचक नहीं होते। उनका कहना है कि जब किसी उपसर्ग का नाम पद के साथ सम्बन्ध होता है तभी वह अर्थ को प्रकट करता है, स्वतन्त्ररूप से उपसर्ग का अपना कोई अर्थ नहीं होता। अथवा जब उपसर्ग का किसी न किसी आख्यात या क्रिया के साथ संयोग होता है , उसी समय ये सार्थक होता है, वैसे उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है। जिस प्रकार "धन" शब्द के दोनों ध और न मिलकर धन के वाचक हैं; उसी प्रकार ये उपसर्ग नाम या आख्यात से मिलकर तो सार्थक हैं परन्तु अलग हुए निरर्थक हैं अर्थात् स्वतन्त्ररूप से इनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। आचार्य शाकटायन ने और भी कहा है कि -

"**नामाख्यातयास्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।**" ।

अर्थात् निश्चय से नाम और आख्यात के अर्थ के साथ मिलकर ही उपसर्ग द्योतक है अथवा जब इनका स्वतन्त्ररूप से इनका अपना कोई अर्थ नहीं है।

दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार उपसर्गों का अपना वाच्यार्थ होता है अर्थात् उपसर्ग स्वतन्त्ररूप से अर्थ वाले होते हैं। आचार्य यास्क के अनुसार इस सम्प्रदाय से गार्ग्य आदि सम्बद्ध हैं। इनको उत्तर पक्ष में रखा है।

उत्तर पक्ष

कुछ आचार्य जैसे गार्ग्यादि का मत है कि - "**उच्चावचाः पदार्था भवन्ति।"** अर्थात् इन उपसर्गों के अर्थ अनेक प्रकार के हुआ करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र रूप से भी उपसर्ग सार्थक हैं, निरर्थक नहीं। अतः शाकटायन का यह सिद्धान्त गलत है कि उपसर्ग निरर्थक हैं। उनका कहना है कि ऐसा नहीं है कि जब किसी उपसर्ग का नाम पद के साथ सम्बन्ध होता है तभी वह अर्थ को प्रकट करता है, अथवा जब उपसर्ग का किसी न किसी आख्यात या क्रिया के साथ संयोग होता है, उसी समय ये सार्थक होता है, वैसे ही इन सभी उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र रूप से अर्थ होता है अर्थात् ये सभी उपसर्ग सार्थक होते हैं।

आचार्य यास्क इसी उत्तर पक्ष अर्थात् आचार्य गार्ग्य के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

इसके उपरान्त आचार्य यास्क कहते हैं कि –

" तद् य एषु पदार्थेषु पाहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।"

अर्थात् पहले शाकटायन ने जो कहा कि नाम और आख्यात से पृथक् उपसर्ग निरर्थक हैं, यह सिद्धान्त उचित नहीं है क्योंकि इन उपसर्गों का अपना अर्थ है - स्वतन्त्र अर्थ है, ये उपसर्ग अपने उस स्वतन्त्र अर्थ को बराबर कहते हैं। वे कहते हैं कि नाम और आख्यात में जो अर्थ विकार - उपसर्ग के लगने से नाम और आख्यात में जो अर्थभेद उपस्थित हो जाता है, बस वही इन उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ है। इसलिए ये उपसर्ग सार्थक हैं।निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् न निराहुः-शाकटायन के इस मत में इस बात पर जोर दिया गया है कि उपसर्ग स्वतंत्र रूप से अर्थ का कथन निश्चित ही नहीं करते। 'निराहः' प्रयोग में 'निर् उपसर्ग निश्चय अर्थ का द्योतन करता है। ये उपसर्ग तो केवल इन अथों का द्योतन मात्र करते हैं, जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों में सन्निहित (उपसंयुक्त) रहते हैं। कर्मोपसंयोग-योतकता, करते है-कर्मणः (अर्थस्य) उपसयोगः (सम्बन्धः) कर्मोपसंयोगः। तस्य द्योतका कर्मोपसंयोग-योतकाः। 'नाम' और 'आख्यात' का अर्थ विशेष के साथ जो सम्बन्ध है-उसके उपसर्ग द्योतक होते हैं वाचक नहीं।

नैरुक्त आचार्य गार्ग्य का यह निश्चित मत है कि उपसर्ग भी 'नाम' और 'आख्यात' के 'समान 'पद' है तथा उनके भी अपने-अपने विविध अर्थ होते हैं, द्योतक नहीं। यह दूसरी बात है कि ये उपसर्ग स्वभावतः ऐसे अर्थ के वाचक होते हैं जो 'नाम' या 'आख्यात' पदों के ही अर्थों में विकार पैदा कर देते हैं जो 'नाम' तथा 'आख्यात' पदों में उपसर्ग के संयोग से जो अर्थ की भिन्नता आती है और उपसर्ग के हट जाने पर जो अर्थ की भिन्नता समाप्त हो जाती है, उसे अन्वयव्यतिरेक के नियम के अनुसार उपसर्गों का ही अर्थ मानना चाहिये। यह अर्थ-भिन्नता ही इन उपसर्ग पदों का अपना अर्थ है तथा उसे ये उपसर्ग 'प्राहुः' अच्छी प्रकार कहते हैं, केवल द्योतन मात्र नहीं करते। 'ते उपेक्षितव्याः का अर्थ है-इन उपसर्गों के विविध अधों के विषय में अच्छी प्रकार विचार कैरना चाहिए-उनकी परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यास्क के समय शब्द उप' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष' धातु उपेक्षा के आधुनिक अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हो "का था। वस्तुतः वैदिक मंत्रों में उपसर्गों के स्वतंत्र प्रयोगों को देखते हुए वैदिक भाषा की दृष्टि से उपसर्गों को अर्थ का वाचक मानना उचित भी प्रतीत होता है। हाँ लौकिक भाषा की दृष्टि से, जिनमें उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग कभी भी नहीं देखा

जाता। वैयाकरण शाकटायन आदि का मत ग्राह्य है। परन्तु नैरुक्तों का प्रमुख सम्बन्ध केवल वैदिक भाषा से ही इसलिए रहा है। उन्होंने उपसर्गों को अर्थ का वाचक माना तथा सम्प्रति विद्यमान निरुक्त के प्रणेता आचार्य यास्क भी गार्ग्य के पक्ष से ही सहमत है। उपलक्षण के रूप में उपसगों के प्रधान अर्थों का प्रदर्शन करने के 'पश्चात्-एवम् उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः इस वाक्य में प्राहुः शब्द यास्क को गार्ग्य के साथ सहमति को भी स्पष्ट रूप में कह रहा है। 'प्र + आहुः' अर्थात् उपसर्ग इन विविध अयों की अच्छी तरह •प्रकृष्ट रूप में कहते हैं द्योतन मात्र नहीं करते।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1) उपसर्गाः कति भवन्ति ?
  2) "न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति" यह किसका मत है?

4.4 उपसर्गों का अर्थवाचकत्व

आचार्य यास्क इन उपसर्गों के अर्थ को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करते हुए क्रमशः इस प्रकार से बतलाते हैं -

आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभि- मुख्यम् । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति-सु इत्यभिपूजितार्थे । निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ । उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । समित्येकीभावम् । वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु इति सादृश्यापरभावम् । अपीति संसर्गम् । उप इत्युपजनम् । परीति सर्वतोभावम् । अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्यं वा । एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

गार्ग्य के मत में उपसर्ग के बहुत तरह के अर्थ होते हैं।

जैसे-उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ-

1. आङ्- इत्यर्वागर्थे। (इधर अर्थ
2. प्र, परा- प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। (आङ् से उल्टा अर्थ)
3. अभि इत्याभिमुख्यम् (संमुखता)
4. प्रति- प्रतित्येतस्य प्रातिलोक्यम् (अभि से विपरीत)
5. अति सु- अति सु इत्यभिपूजितार्थे। (पूजार्थ)
7. निर्, दुर निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। (अति सु के विपरीत निर्धनः, दुर्ब्रह्मणः)
8. नि, अव - न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ। (नियन्त्रण दबाने में) निगृह्णाति, अवगृह्णाति
9. उद्, - उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। (उपर वाले नि अव के विपरीत अर्थ को कहता है) उद्गृह्णाति, उत्थापयति।
10. सम् - समित्येकीभावम्। (एकत्र करने को, संगृह्णाति)
11. वि, अप- व्यापेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् (जुदा करना सम का उल्टा) विगृह्णाति, अपगृह्णाति ।
12. अनु - सादृश्यापरभावम्। (समानता और अनुगम) अनुरूपमिदम्, अनुगच्छामि।
13. अपि- अपीति संसर्गम्। (संसर्ग) मधुनोऽपि स्यात्, देवदत्तमपि आनय

14. उप् - उपेत्युपजनम्। (आधिक्य) उपजायते, उप परार्द्ध हरेर्गुणाः,

15. परि - सर्वतोभावम्। (सब तरफ) परिधावति,

16. अधि - उपरिभावम्/ ऐश्वर्यं वा। (उपर/ईश्वर) अधितिष्ठति लोकम्, अधिपतिः,

इस प्रकार अनेकविध अर्थ में उपसर्ग होते हैं।

1) **आ - उपसर्ग** ; आ उपसर्ग का प्रयोग निकट या इधर के अर्थ में आता है। जैसे- " आ पर्वतात् " अर्थात् पहाड़ से इधर , एवं **" आ समुद्रात् "** अर्थात् समुद्रात् से निकट। इस प्रकार पर्वत या समुद्र का अपना अर्थ है तथा आ- उपसर्ग का अपना स्वतन्त्र अर्थ द्योतित हो रहा है।

2) ,3) प्र तथा परा उपसर्ग - ये दोनों उपसर्ग आ-उपसर्ग के विपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं, अर्थात् प्र या परा का अर्थ है - दूर या दूरी। जैसे -" प्रगतः , परागतः। अर्थात् दूर चला गया या परे चला गया। इस तरह गतः शब्द का अपना अर्थ है एवं प्र , परा उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ को प्रकट कर रहे हैं। अतः ये उपसर्ग सार्थक हैं।

4) अभि उपसर्ग - ये उपसर्ग स्वतन्त्र रूप से आभिमुख्य या सम्मुख अर्थ को कहता है। जैसे - " अभिगतः " अर्थात् तेरे सम्मुख आ गया। इस प्रकार ये उपसर्ग स्वतन्त्र अर्थ को प्रकट करने वाले हैं।

5) **प्रति उपसर्ग** - प्रति उपसर्ग अभि के विपरीतार्थ को प्रकट करता है। यथा- " प्रतिगतः " अर्थात् वह वापिस लौट गया। कहीं पर प्रति उपसर्ग आभिमुख्य या संमुख अर्थ को भी प्रकट करता है। जैसे - प्रत्यक्ष , प्रत्यागम में यह सम्मुख अर्थ का द्योतक है। अतः उपसर्ग सार्थक हैं।

6) , 7) अति एवं सु उपसर्ग - ये दोनों उपसर्ग सत्कृत अर्थ, पूजा के अर्थ में या अतिक्रमण अर्थ को दर्शाते हैं। जैसे - **अतिधनः** अर्थात् बहुत धनी ; सुब्राह्मणः अर्थात् उत्तम ब्राह्मण। इसी प्रकार सुधनः या सुयोग्यः आदि बहुत से शब्द बनते हैं।

8) , 9) **निर् तथा दुर्** - ये उपसर्ग अति एवं सु के उल्टे अर्थ को प्रदर्शित करते हैं। यथा - " **निर्धनः या दुर्ब्राह्मणः** " धन से हीन एवं बुरा ब्राह्मण आदि। इसी तरह से निर्जनः, निर्लज्जः, दुर्गतिः इत्यादि अनेक उदाहरण हमें लोक में भी प्राप्त होते हैं। अतः ये सभी उपसर्ग सार्थक हैं।

10) ,11) नि और अव - नि तथा अव उपसर्ग नियमन अर्थात् नियन्त्रण अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे - "**निगृह्णाति या अवगृह्णाति**" अर्थात् नियन्त्रण पूर्वक ग्रहण करता है। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में निग्रह या अवग्रह इत्यादि। कहीेंं पर नि उपसर्ग अतिशय या नीचे अर्थ को भी प्रकट करता है।

12) उद्-उपसर्ग ; यह उपसर्ग नि और अव इन दोनों के विपरीत अर्थ को कहता है। यथा- "**उद्गृह्णाति या उद्गच्छति**" अर्थात् किसी वस्तु को छोड़ता है या निकलता है। कहीं पर यह उपसर्ग किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे - उन्मज्जति; अर्थात् पानी से ऊपर उठता है। इस प्रकार ये उपसर्ग सदैव सार्थक होते है।

13) सम्-उपसर्ग ; यह उपसर्ग समभाव , एकीभाव , इकट्ठा होना अथवा एकत्र करन के अर्थ को कहता है। जैसे - संगृह्णाति अर्थात् इकट्ठा करता है; संगच्छति - साथ साथ चलता है; संवदति अर्थात् साथ-साथ बोलता है । इसी प्रकार "**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वां मनांसि जानताम्**" इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद में आता है। अतः ये उपसर्ग सार्थक हैं।

14) ,15) वि और अप:- ये दोनों उपसर्ग सम् उपसर्ग के उल्टे अर्थ को अर्थात् जुदा करने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यथा - विगृह्णाति या अपगृह्णाति अर्थात् जुदा
करता है या वापिस करता है। इसी तरह लोक में अपमान , अपवाद , अपकार आदि बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये उपसर्ग सदैव स्वतन्त्र अर्थ वाले होते हैं।

16) अनु-उपसर्ग ; यह उपसर्ग सादृश्य , समानता , अपरभाव , पीछे चलना , नकल करना या अनुगमन करना आदि विविध अर्थों को प्रकट करता है। जैसे - अनुगच्छति , पीछे चलता है ; अनुवदति , पीछे बोलता है ; अनुभवति , अनुभव करता है ; अनुकरोति , नकल करता है इत्यादि बहुत सारे शब्द वेद या लोक में प्राप्त होते हैं।

17) अपि-उपसर्ग ; अपि उपसर्ग संसर्ग या साथ रहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा - " **देवदत्तमपि आनय** " अर्थात् देवदत्त को भी ले आओ ; " त्वमपि अत्रागच्छ " - तुम भी यहाँ आओ ; " **कृष्णमपि साकमानयतु** "- कृष्ण को भी साथ लाओ। इस तरह ये सभी उपसर्ग सार्थक हैं।

18) उप-उपसर्ग - यह उपसर्ग समीपता या अधिकता के अर्थ में आता है। जैसे- उपजायते- अधिक होता है; " **उप परार्द्धे हरेर्गुणाः** " अर्थात् परार्द्ध संख्या से भी अधिक भगवान् हरि के गुण हैं। इसी प्रकार उपचिनोति- बारम्बार चुनता है।

19) परि - यह चारों ओर या सब तरफ होने के अर्थ को कहता है। यथा- परिधावति-सब ओर दौड़ता है; लौकिक संस्कृत - परिव्रज्या , परिणत आदि। इस प्रकार ये उपसर्ग अपने स्वतन्त्र अर्थ को प्रकट करते है।

20) अधि-उपसर्ग ; यह उपसर्ग ऊपर होने के अर्थ को अथवा ईश्वर अर्थ को प्रकाशित करता है। जैसे - "**अधितिष्ठति लोकम्**" सब लोक के ऊपर स्थित है या अधिपतिः - सब का ईश्वर है। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में अधिकार , अधीन इत्यादि बहुत से उदाहरण हैं।
इस प्रकार ये उपसर्ग अनेकविध अर्थों का कहते हैं इसलिए इनको अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए या उनके विषय में खूब विचार कर लेना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक उपसर्ग का अपना एक निश्चित अर्थ होता है और वह अर्थ अपने विपरीत अर्थ का अभिधान नहीं करता। यदि उपसर्गों को निरर्थक
माना जाए तो हर नाम तथा आख्यात के साथ लगने वाले सभी उपसर्गों का एक ही अर्थ होता ; जैसे - सम्मान , अपमान , विजय , पराजय , अधिकार , अपकार , उपकार इत्यादि। परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। आचार्य यास्क के उपसर्गों के क्रम में अर्थ की तुलना को , अनुलोमता या प्रतिलोमता के विषय में विशेष ध्यान रखा गया है।

सम्भवतः मात्र संख्या की दृष्टि से प्र , परा इत्यादि उपसर्ग यास्क और शौनक ने 20 तथा आचार्य पाणिनि ने 22 उपसर्गों का पाठ किया है।
इस प्रकार आचार्य यास्क के अनुसार प्रत्येक उपसर्ग का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है। अतः ये उपसर्ग वाचक हैं , द्योतक नहीं।

उपसर्गों का निश्चित लक्षण न तो यास्क दे पाये हैं और न पाणिनि ही। दोनों ने प्रतिपद-पाठ' करना ही सुलभ समझा है। उपसर्गं पाणिनि के मत से २२ और यास्क के मत से २0 हैं, क्योंकि पाणिनि ने निस्, निर् दुस् दुर् को अलग-अलग माना है । पाणिनि के मत से उपसर्ग द्योतक ही हैं, अकेले उनका कोई

अर्थ नहीं ।'यास्क ने शाकटायन के मत का उल्लेख करके इतना अवश्य किया है कि उपसर्गों के लगने से नाम और आख्यात में अर्थ का क्या परिवर्तन होता है- इसे स्पष्ट कर दिया है।

यास्क के अनुसार गार्ग्य उपसर्गो की वाचकता के पक्षधर है। यद्यपि वैया- करणों ने इनके मत को उखाड़ फेंका, किन्तु इनका पक्ष भी सर्वथा युक्तिहीन नहीं है। 'भवति' का 'प्रभवति' से या 'तिष्ठति' का 'प्रतिष्ठते' में जो भेद है वह उप- सर्गो का स्वार्थ माने बिना व्याख्येय नहीं । अन्वय-व्यतिरेक से हम उपसर्ग के अर्थ तक पहुँच सकते हैं। कई उपसर्ग धातु के मूल अर्थ को बिल्कुल बदल देते हैं, जो गार्ग्य के पक्ष में प्रबल प्रमाण है।

शाकटायन, यास्क तथा सभी वैयाकरण उपसर्गों के द्योतकत्व पर बल देते हैं। उपसर्गों के लगने से धात्वर्थ में जो भी परिवर्तन होता है, वह वस्तुतः धातु में ही निहित है। 'उपास्यते कृष्णः' में उपासना रूप अर्थ 'उप' उपसर्ग का नहीं हो सकता क्योंकि बंसी स्थिति में अकर्मक आस् से कर्मवाच्य का प्रयोग नहीं होगा। अन्ततः हमें आम् का ही अर्थ उपासना मानना होगा, जिससे वह सकर्मक भी हो सकेगा। यही स्थिति 'अनुभूयते आनन्दश्चेत्रेण' में अनु + √ भू की है। धातु का ही अनुभव- रूप अर्थ मानना होगा, जिससे वह सकर्मक हो सके। दूसरी बात यह है कि घातु- पाठ में सोपसर्गक धातुओं का पाठ नहीं है। अतः उपसर्ग द्वारा विकृत अर्थ धातु का ही है। उपसर्ग का कार्य प्रदीप के समान धातु के अन्तर्हित अर्थ की अभिव्यक्ति है। किसी वस्तु में प्रदीप के संयोग से उसके विभिन्न गुण-धर्म (ऊँचाई, रंग इत्यादि) प्रकट होते हैं; ये गुण-धर्म उस वस्तु के ही रहते हैं, प्रदीप के नहीं।

उपसर्गों के वाचक-द्योतक पक्षों के अतिरिक्त एक पक्ष है सहकारी। जिससे धातु की शक्ति आहित होती है वही सहकारी उपसर्ग है (वा० प० २।१८८) । इन तीनों पक्षों का क्रमशः निर्देश इस कारिका में हुआ है-

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ।

किन्तु वैयाकरण उपसर्गों के द्योतकत्व पर दृढ़ हैं, जिसमें गंगेश के समान नैयायिक का भी समर्थन प्राप्त होता है। इनका कथ्य है कि 'प्रजयति' में 'प्र' का प्रकर्ष-अर्थ और 'अभ्यागच्छति' में 'अभि' का सामीप्य-अर्थ जो प्रतीत होता है, वह वस्तुनः धात्वर्थ है। ये उपसर्ग तो तात्पर्यग्राहकमात्र हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) उपसर्गाः कति भवन्ति ?
2) प्र परा उपसर्गाै कमर्थं प्रकटयतः ?
3) अभि उपसर्गस्य कोऽर्थः ?
4) अनु उपसर्गस्य कोऽर्थः ?
5) उपसर्गस्य किं लक्षणम्
6) 'वि' उपसर्गस्य प्रातिलोम्यम् कः?
7) अभि' उपसर्गस्य प्रातिलोम्यम् कः?

8)'विनिग्रहार्थीयौ' उपसर्गयोः अर्थः कः अस्ति?

4.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई का सारांश यह है कि वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध उपसर्ग अनेकविध तथा अनेकार्थक हैं। इनका सभी मन्त्रों में विविधरूप में प्रयोग प्राप्त होता है। उपसर्ग निश्चितरूप से सार्थक एवं प्रयोजनात्मक ढंग से वर्णित हैं। इसके साथ साथ संसार के सभी नाम धातु अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हैं। क्योंकि इस सकल चराचर जगत् में प्रत्येक जीव प्रतिक्षण कोई न कोई क्रिया करता रहता है अर्थात् संसार का हर पदार्थ या जीव परिवर्तनशील है। और यह परिवर्तन क्रिया के कारण होता है जिसके अनुसार जीवों या प्राणियों के नाम भी रख दिए जाते हैं। उपसर्ग शब्दों के अर्थ में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला सकते हैं, जो कि भाषा की संरचना और संप्रेषण में अति आवश्यक हैं। इस इकाई में उपसर्गों और उनके विभिन्न प्रयोगों को विस्तार से समझाया गया है। इसके माध्यम से भाषा के व्याकरणिक संरचना में उपसर्गों की भूमिका स्पष्ट होती है, जिससे पाठकों को संस्कृत भाषा का गहन ज्ञान प्राप्त होता है।

4.6 कठिन शब्दावली

निर्बद्धाः = नाम और आख्यात से अलग हुए शब्द

उच्चावचाः = अनेक प्रकार के

अर्वागर्थे: =नीचे की ओर

प्रातिलोम्यम्: =विपरीत दिशा में

अभिमुख्यम्: =सामने की ओर

अभिपूजितार्थे:= सम्मान के अर्थ में

विनिग्रहार्थीयौ: =नियंत्रण के अर्थ में

उपरिभावम्:= ऊपर की स्थिति या श्रेष्ठता

ऐश्वर्यं:= शक्ति या अधिकार

उच्चावचानर्थान्: =विभिन्न अर्थों में

उपेक्षितव्याः: =ध्यान नहीं देने योग्य

4.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) 22

2) आचार्य शाकटायन

अभ्यास प्रश्न 2

1) विपरीतार्थम्

2) सम्मुखम् प्रत्यक्षम् वा

3) सादृश्यः

4) उच्चावचाः पदार्थाः भवन्ति

5) सम्

6) प्रति।

7) नियंत्रण'

4.8 सहायक ग्रन्थ

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

4.8 **अभ्यास के लिए प्रश्न**

1) कति उपसर्गाः ? एतेषां सार्थकत्वं विवेचयत।
2) " उच्चावचाः पदार्थाः उपसर्गाः " इत्यस्य गार्ग्यमतेन विवेचनं कुरुत।
3) " उच्चावचा: पदार्थां भवन्तीति गार्ग्य: इति मत्रं स्पष्टीकुरुत ।
4) न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायन: व्याख्या प्रसंगोल्लेखपूर्वकं करणीया: ।

¤¤¤¤

इकाई 5

निपात-विवेचन

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 निपात-विवेचन

5.3.1 उपमार्थे निपात

5.3.2 कर्मोपसंग्रहार्थे निपात

5.3.3 पद-पूरणार्थक निपात

- स्वंय आकलन प्रश्न

5.4 नामों का आख्यातजत्व

- स्वयं आकलन प्रश्न

5.5 सारांश

5.6 कठिन शब्दावली

5.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

5.8 सहायक ग्रन्थ

5.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

निरुक्त में निपात अध्याय एक महत्वपूर्ण विषय है जो संस्कृत भाषा के प्रयोगशैली और शब्दज्ञान के पहलुओं को समझने में मदद करता है। निपात के माध्यम से हम वैदिक साहित्य के पाठों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ और उनके प्रयोग की गहराई में समझ पाएंगे। इस इकाई के माध्यम से, हम संस्कृत भाषा के अद्वितीयता और समृद्धि को समझने में योगदान करेंगे, जो विद्यार्थियों और भाषा प्रेमियों के लिए एक मूल्यवान संसाधन साबित होगा। निपात विविध अर्थों में मन्त्रों में प्रयुक्त होते हैं; कहीं पर इनको उपमा के अर्थ में कहीं निषेध के अर्थ में और कहीं पर केवल मात्र पदपूर्ति हेतु प्रयोग में लाया जाता है ताकि मन्त्र या श्लोक में छन्द भंग न हो ; इस कारण से निपातों को प्रयुक्त किया जाता है।

5.2 उद्देश्य

- .समस्त विधाओं में पारंगत करना।
- भाषायी ज्ञान और कौशल में वृद्धि करना
- निपात का बहुविध ज्ञान अर्जित करना।
- सभी नाम धातु अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होते हैं इस विषय में जानना।

5.3 निपात लक्षण

निपात का लक्षण बतलाते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि - “**उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपाताः**।”

निपात उच्चावचेषु ऊँचे और नीचे (अनेक प्रकार के) अर्थेषु अर्थों में निपतन्ति गिरते हैं (अनेक प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं, अत एव निपात कहलाते हैं)।

विमर्श-

(१) 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति निपाताः' अर्थात् ये अनेक अर्थों में गिरते हैं अतः निपात कहलाते हैं। निपतन होने की क्रिया करने के कारण 'निपात' अन्वर्थकं नाम है। ये गिरने वाले होते हैं।अर्थात् विभिन्न अर्थों या अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है।

उन निपातों में अपि उपमार्थे कुछ उपमा अर्थ में, अपि उपसङ्ग्रहार्थे कुछ अर्थोपसङ्ग्रह अर्थ में, अपि पादपूरणाः और कुछ पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।

विमर्श -

(१) यास्क ने प्रयोगों के आधार पर निपातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है- (क) उपमार्थक निपात, (ख) अर्थोपसङ्ग्रहार्थक निपात और (ग) पादपूरक निपात। उपमार्थक निपातों का प्रयोग किसी उपमान की उपमेय से उपमा देने के लिए होता है। अर्थोपसङ्ग्रहार्थक वे निपात होते हैं जो किसी दूसरे अर्थ का सङ्ग्रह करते हैं। पादपूरक वे निपात हैं जो वेद के मन्त्रों में पादों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनका विवेचन किया जा रहा है।

विभिन्न अर्थों या अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है। अर्थ की दृष्टि से निपात तीन प्रकार के हैं -

1) उपमार्थे निपात

2) कर्मोपसंग्रहार्थे निपात

3) पद-पूरणार्थक निपात

इन तीन प्रकार के निपातों का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार से है:-

5.3.1 उपमार्थक निपात:-

जिन निपातों का प्रयोग उपमा के अर्थ में किया जाता है, वे उपमार्थे निपात कहलाते हैं। उन निपातों में इव , न , चित् , नु ये चार निपात उपमा के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनका वर्णन इस तरह से है:-

क) **इव** - वैदिक और लौकिक संस्कृत में इव निपात उपमा के अर्थ में आता है। उदाहरण - " अग्निरिव " ; " इन्द्र इव " अर्थात् अग्नि की तरह , इन्द्र की तरह। अन्य भी वेद और लोक में इव निपात के पृथक् पृथक् उदाहरण मिलते हैं। जैसे- " अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व। " (ऋग्वेद 10/84/2) ; "वागर्थाविव सम्पृक्तौ " (रघुवंश 1/1) इस प्रकार इव - यह निपात वेद और लोक दोनों में उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

ख) **न** - यह निपात वेद में उपमा और निषेध दोनों अर्थों में आता है। यथा- " नेन्द्रं देवममंसत " (ऋ0 10/86/1) यहाँ यह निपात निषेधार्थ में है तथा " दुर्मदासो न सुरायाम् " (ऋ0 8/2/12) इसमें न-निपात उपमार्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसी तरह लोक में यह निपात केवलमात्र निषेध के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। जब प्रतिषेधार्थ में न का प्रयोग होता है तो यह सम्बन्धित शब्द से पहले प्रयुक्त होता है और जब उपमा के अर्थ में इसका प्रयोग होता है तो यह सम्बन्धित शब्द के बाद प्रयुक्त होता है।

ग) **चित्** - चित् यह निपात अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे- " आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् " यहाँ पर चित् निपात पूजार्थ में प्रयुक्त हुआ है ; " दधिचित् " इसमें चित् यह निपात उपमा के अर्थ में आता है;

“कुल्माषाँश्चिदाहर” उक्त उदाहरण में यह निपात निन्दा के अर्थ में प्रयोग में आया है। इस प्रकार चित्-निपात विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है।

आचार्यपदनिर्वचनम्

आचार्यः कस्मात् । **आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा ।**

आचार्यः आचार्य कस्मात् किस कारण से कहा जाता है? आचार्यः आचार्य आचारम् आचार (व्यवहार करने की विधि) को ग्राहयति (शिष्य के लिए) ग्रहण कराता (सिखलाता) है, अर्थान् (सूक्ष्म से सूक्ष्म) पदार्थों को (शिष्य के लिए) आचि- नोति चुन-चुन कर सञ्चय करता है, वा अथवा बुद्धिम् (शिष्य की) बुद्धि को आचिनोति चयन (परीक्षण) करता है, इति इसलिए (आचार्य कहलाता है)। विमर्श-

(१) यास्क ने आचार्य के तीन निर्वचनों को दिया है- (क) 'आचार्यः आचारं ग्राहयति' अर्थात् आचार शिष्य को आचार (सद्व्यवहार) को ग्रहण कराता है अर्थात् उसे सद्व्यवहार सिखलाता है।

(ख) 'आचिनोत्यर्थान्' अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को चुन-चुन कर शिष्य के लिए सङ्ग्रह करता है।

(ग) 'आचिनोति बुद्धिमिति' अर्थात् शिष्य की बुद्धि का चयन (परीक्षण) करता है।

(२) आचार्य पद 'आ' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है-आचार देने वाला। यास्क के निर्वचनों से ज्ञात होता है कि आचार्य स्वयं सदाचरण करते हुए विद्यार्थियों से भी सदाचरण करवाता था।

घ) **नु** - यह निपात अनेकार्थक है। कहीं पर यह निपात हेतुकथन में आता है।

जैसे - ” इदं नु करिष्यति “ अर्थात् इस कारण इस कार्य को करेगा। ” कथं नु करिष्यति “ अर्थात् वह इस कार्य को करेगा , पर करेगा कैसे ? इसमें अनुप्रश्न के रूप में न-निपात का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त यह निपात उपमा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे - “ वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः ” (ऋ0 6/24/3) यहाँ पर ये निपात उपमा के अर्थ में प्रयोग में आया है।

5.3.2 कर्मोपसंग्रहार्थक निपात

इसके विषय में आचार्य यास्क ने कहा है - **अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः**। अर्थात् जिस अश्रूयमाण निपात के अध्याहार से वस्तु के अलग होने का ही बोध होता है परन्तु वह देवदत्त यज्ञदत्त आदि की तरह स्वतन्त्र नहीं होती क्योंकि वहाँ - देवदत्तयज्ञदत्तौ -इत्यादि में विग्रह से ही पृथक्त्व होता है। अथवा वे निपात कर्मोपसंग्रह कहे जाते हैं जिनके आगम अर्थात् साक्षात् अथवा नहीं जिस रूप के शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करके उनके अर्थों का पार्थक्य पृथक् एक दूसरे से भिन्न प्रकार आकार या रूप के कारण ही उनके अर्थ का पार्थक्य जान लिया जाता है, किन्तु जो निपात उससे भिन्न प्रकार के पार्थक्य को प्रकट करते हैं वे कर्मोपसंग्रहार्थीय हैं। जैसे - अहं त्वं सः देवदत्तः यज्ञदत्तः कहने में इन परस्पर निरपेक्ष शब्दों का पार्थक्य सहजतया प्रतीत हो जाता है। दूसरी ओर अहं च त्वं च , देवदत्तश्च , यज्ञदत्तश्च कहने में शब्दों के अलग-अलग होने से अर्थों का पार्थक्य प्रकट होता है; यह भी प्रकट होता है कि ये परस्पर सापेक्ष हैं। इस तरह के पार्थक्य का बोध कराने वाले निपात

अन्य पदों को सापेक्ष बनाकर उनका संयोजन करने के कारण उपसंग्रहर्थीय निपात कहलाते हैं। ये निपात निम्नलिखित हैं:-

क) **च** - इति समुच्चयार्थ:,यह समुच्चय के अर्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों ही भाषाओं में प्रयुक्त होता है। वैदिक भाषा में " अहं च त्वं च वृत्रहन् " यहाँ पर च निपात का अहम् और त्वम् दोनों पदो ंके साथ सम्बन्ध है।

ख) **आ** - इति समुच्चयार्थ:, (देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ) समुच्चय अर्थ में कहीं-कहीं 'आ' निपात का भी प्रयोग हुआ है। (प्रेदु हव्यानि वोवाचि) 'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' इस उदाहरण में 'आ' निपात का प्रयोग भी समुच्चय के अर्थ में हुआ है।

ख) **वा** - वेति विचारणार्थे-'वा निपात विचारने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे- " हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा " इस मन्त्र में यह निपात विचारने के अर्थ में आता है क्योंकि इसमें वह विचार करता है कि पृथिवी को अन्तरिक्षलोक में रखूं या द्युलोक में ; इस तरह के विचार के अर्थ में वा का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त वा का प्रयोग विकल्प के अर्थ में भी पाया जाता है। जैसे - " **वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा** " अर्थात् यहाँ कहा गया है कि हे अश्व ! तुझे वायु और मनु रथ में जोड़ते हैं , इसलिए यहाँ पर समुच्चयार्थ में वा-निपात का प्रयोग किया गया है।

ग) **अह तथा ह** -विनिग्रहार्थीयौ, ये निपात अलग होने अर्थ में आते हैं और पूर्ववाक्यगत अर्थ के साथ मिले रहते हैं। जैसे- " अयम् अह इदं करोतु " तथा " इदं ह करिष्यति " यहाँ पर अह और ह ये दोनों निपात वाक्य को अलग करते हैं।

घ) **उ-निपात** ; विनिग्रहार्थीय, पादपूरक भी ,उ यह निपात भी इसी अर्थ में अर्थात् विनिग्रहार्थ में ही आता है। यथा - " मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्ति " अर्थात् ये वृषल झूठ बोलते हैं किन्तु वे ब्राह्मण सत्य बोलते हैं। इन दोनों वाक्यों में भिन्नता है और उ यह निपात इसको द्योतित कर रहा है।

ङ) **हि** - यह निपात हेतुकथन में आता है। जैसे - " इदं हि करिष्यति " अर्थात् यह देवदत्त इस कार्य को इस कारण करेगा। कहीं पर यह निपात अनुप्रश्न में भी आता है। यथा- " कथं हि करिष्यति " अर्थात् यह इस काम को कैसे कर देगा।

च) **किल-निपात** ;विद्याप्रकर्षे, किल यह निपात विद्या या ज्ञान के प्रकर्ष को बतलाता है। जैसे - " **एवं किल एतदासीद्युद्धमिति** " अर्थात् कहीं से सुनकर मन में बैठाकर दूसरे से इस प्रकार कहता है कि वह युद्ध इस तरह से हुआ था। किसी जगह यह निपात अनुप्रश्न अर्थ में भी प्रयोग में आता है। यथा- " न किलैवम् , ननु किलैवम् " क्या ऐसा नहीं है ? , क्या ऐसा है ?

छ) **मा** - यह निपात निषेधार्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे - " मा कार्षी र्मा काषीरिर्ति " अर्थात् मत करो , मत हरण करो।

ज) **खलु** -प्रतिषेधे, खलु कुत्वा, खलु कृतम्, आचार्य यास्क के अनुसार यह निपात भी प्रतिषेधार्थ में प्रयोग में आता है। यथा - " खलु कृत्वा खलु कृतम् " अर्थात् न करके , न किया।

झ) **नूनम्** - निपात ; विचिकित्सार्थीयो

नूनं यह निपात वेद तथा लोक में निश्चयार्थ के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे - "न नूनमस्ति नो श्वः " यहाँ पर नूनं निपात का प्रयोग निश्चय के लिए हुआ है। अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरुतों

को देने की इच्छा की (इस पर) वह इन्द्र आकर (निम्न मंत्र द्वारा) विलाप करने लगा। (हवि) निश्चित ही (आज) नहीं है। (और) न कल (ही) हैं जो हुआ नहीं उसे कौन जानता है। दूसरे का चित्त चंचल होता है। सोचा हुआ भी नष्ट हो जाता है।

अर्थात् (हवि का भोजन) निश्चित ही आज नहीं है। और न ही कल है। 'अद्य' (अर्थात्) आज के दिन। 'धु' चमकते हुए दिन का नाम है। श्वः (अर्थात्) जिनके आने की आशा की जाती है ऐसा समय (आने वाला कल) 'ह्यः' (अर्थात्) बीता हुआ समय (विगत कल) अर्थात् उसको कौन जानता है जो (अभी) हुआ ही नहीं है? यह दूसरा ('आश्चर्य' अर्थ वाला) 'अद्भुत्' (शब्द) भी 'न हुये' के समान ही है। दूसरे का चित्त 'अभिसंचरेण्यं' अर्थात् अभिसंचारी (चंचल) होता है। 'अन्य' (शब्द का अर्थ है) न आनेय (अर्थात्) अविश्वसनीय। 'चित्त' (सोचना) से बना है।

10. **शश्वत्-** विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् (संदेहार्थक)

(यह (निपात) लोकभाषा में संशय (सन्देह) अर्थ में प्रयुक्त होता है।

12. **सीम** परिग्रहार्थीयो वा (पादपूरण)

13. **त्व** - विनिग्रहार्थीय सर्वनामानुदात्तम्

14. **त्वत्** - समुच्चयार्थ (पादपूरक)

5.3.3 पद-पूरणार्थक निपात

नाम , आख्यात तथा उपसर्गों के अतिरिक्त अन्य निपातों की भी अपेक्षा रह जाती है। जहाँ प्रयुक्त निपात अर्थ की दृष्टि से आवश्यक नहीं होते। ये केवल वाक्य एवं छन्द के पाद की पूर्ति के लिए तथा अलंकार की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं, इस प्रकार प्रयुक्त निपात निरर्थक होते हैं और आचार्य यास्क इन निपातों को पद पूरण निपातों की कोटि में रखा है। इनमें कम् , इम् , उ , इत् , इत्यादि नौ निपात यास्क मुनि मानते हैं , शेष अन्य भी निपात प्राप्त होते हैं। कुछ पद पूत्यर्थ निपातों का विवेचन इस प्रकार है -

क) **उ-निपात ;** उ यह निपात पद-पूर्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे - " इदमु तदु " यहाँ पर यह निपात पद की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाया गया है। इसके अतिरिक्त " अयमु ते समतसि " इस उदाहरण में भी उ निपात का प्रयोग पद की पूर्ति के लिए किया गया है।

ख) **खलुः-** खलु निपात का प्रयोग भी कहीं पर पद पूर्ति के लिए किया जाता है। यथा - " एवं खलु तद्बभूव " इस उदाहरण में खलु नामक निपात का प्रयोग पद की पूरणता के लिए किया है।

ग) **नूनम्**: - इस निपात का प्रयोग भी कहीं पर वेद मन्त्रों में पदपूर्ति के लिए मिलता है। जैसे - " नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे " यहाँ पर नूनम् - निपात पद पूत्यर्थ प्रयुक्त हुआ है।

घ) **कम्** - यह निपात मिताक्षर आदि ग्रन्थों में पदपूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए जैसे -" निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो, जीवनाय कम् " इस उदाहरण में कम् निपात पदपूत्यर्थे प्रयुक्त किया गया है।

ङ) **ईम्-निपात** :- इस निपात का प्रयोग भी कहीं पर पदपूत्यर्थ ही होता है। यथा - " एमेनं सृजतासुते " यहाँ पर भी ईम् निपात पदपूर्ति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में उपरोक्त तीन प्रकार के निपातों का प्रयोग किया जाता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) निपातस्य किं लक्षणं भवति ?

2) निपातः कतिविधः ?

3) न' निपातः किमर्थे प्रयुज्यते?

4)'खलु निपातः किमर्थे प्रयुज्यते?

5.4 नामों का आख्यातजत्व

तत्र नामानि-आख्यातजानि-इति शाकटायनो नैरुक्तसमश्च। अर्थात् उस पदचतुष्ट्य में जो नाम हैं वे सब आख्यातज हैं अर्थात् सभी नाम धातुओं से ही बनते हैं। ऐसा शाकटायन और निरुक्तकारों का मत है। किन्तु आचार्य गार्ग्य एवं कुछ एक वैयाकरणों का मानना है कि सब नाम आख्यातज नहीं होते अर्थात् सभी नामों की उत्पत्ति धातुओं से नहीं होती है। इस प्रकार यहाँ पर दो पक्ष के माध्यम से इसके बारे में चर्चा की जा रही है। पूर्व पक्ष में आचार्य गार्ग्य और कुछ वैयाकरण नामों को आख्यातज नहीं मानते तथा कई प्रकार की शंकायें प्रस्तुत करते हैं, उत्तर पक्ष में शाकटायनादि एवं आचार्य यास्क पूर्व पक्ष द्वारा उपस्थापित शंकाओं का समाधान करते हुए प्रत्युक्तियाँ बतलाते हैं। इस प्रकार नामों के आख्यातजत्व के विषय में दोनों पक्षों के माध्यम से विस्तृत विवेचन किया जा रहा है '-

- **पूर्व पक्ष**

1) आचार्य गार्ग्य तथा वैयाकरणों का कहना है कि -"**तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् ,संविज्ञातानि तानि । यथा- गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।** अर्थात् जिन संज्ञा शब्दों या नामों में उदात्तादि स्वर और प्रकृति प्रत्यय आदि सुसंगत हों और प्रादेशिक गुण से क्रिया को लेकर वह नाम रखा गया हो , वे नाम अवश्यमेव आख्यातज हैं । जैसे - कर्ता , हर्ता , कारकः ,हारकः आदि। परन्तु रुढ़ शब्द जिनमें ऐसा नहीं होता , वे आख्यातज नहीं माने जा सकते। जैसे - गौ , अश्व , पुरुष , हस्ती आदि। ये शब्द तो बिना व्युत्पत्ति के ही प्रसिद्ध हो गए। अतः सभी नाम आख्यातज नहीं है।

2) गार्ग्य फिर कहते हैं कि यदि सभी नामों को आख्यातज माना जाए तो क्रिया के अनुसार उस कर्म को करने वाले का नाम हो जाए। जैसे- " यः कश्च अध्वानमश्नुवीत , अश्वः सः वचनीयः स्यात्। अर्थात् जो कोई भी मार्ग को व्याप्त करे , उसे अश्व कहना चाहिए केवल घोड़े को ही नहीं। और चुभने वाले को तृण बोलना चाहिए ; तो एक ही का नाम उस क्रिया के आधार पर क्यों रखा गया ? एक ही क्रिया को करने वाली अलग-अलग वस्तुओं का एक ही नाम क्यों नहीं रखा जाता ; अतः ये नाम आख्यातज नहीं हैं।

3) यदि सभी नाम आख्यातज हों तो , जो वस्तु जितनी क्रियाओं से युक्त हो उतनी ही क्रियाओं से उस वस्तु का नाम पड़ना चाहिए। जैसे - स्थूणा अर्थात् खम्भे को गड्ढे में पड़ा होने के कारण दरशया अथवा संजनी कहना चाहिए क्योंकि ये भी गड्ढे में ठहरे रहते हैं। लेकिन स्थूणा को लोक में कोई व्यवहार से भी दरशया नहीं कहता ; इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सभी नाम आख्यातज नहीं है।

4) यदि सारे नाम क्रिया के आधार पर हों तो इन अश्व पुरुष आदि नामों का लक्षण न्याय से युक्त क्रिया से पड़ने वाले नामों में होने वाला संस्कार है वह इनमें होना चाहिए। और इनके नामों को उसी आधार पर

बोलना चाहिए। जैसे - पुरुषं पुरिशय इति ; अर्थात् पुरुष को पुरिशय , अश्व को अष्टा तथा तृण को तर्दन ; इस तरह से पुकारा जाना चाहिए। परन्तु ऐसे कोई नहीं पुकारता है। इसलिए सब नाम आख्यातज नहीं हैं।

5) यदि वस्तुतः सब नाम आख्यातज होते तो उनका निर्वचन भी पहले ही किया हुआ होता परन्तु वास्तविक स्थिति तो यह है कि नाम तो पहले ही रखा जाता है। जैसे - पृथिवी नाम पता नहीं कब से चला आ रहा है। इस नाम को देखकर लोगों ने यह कल्पना की कि पहली क्रिया के कारण रखा है। यथा- प्रथनात् पृथिवीत्याहुः। अर्थात् फैलने से इसको पृथिवी कहते हैं। अब कोई उन लोगों से पूछे कि इसको किसने फैलाया और फैलाते समय वे अपने आप कहाँ खड़े थे ? तथा जिस पर यह फैलाई गई वह आधार क्या था ? जो पृथिवी सब जीवों का आधार है, तो उसको कौन फैला सकता है। अतः सभी नाम आख्यातज नहीं हैं।

6) शाकटायन जी ने आगे कहा है कि शब्द और उसमें विद्यमान धातु इन दोनों का अर्थ असंगत है। तो उन्होंने अपनी बात सिद्ध करने के लिए एक ही शब्द में एकसाथ अनेक धातुओं की कल्पना करके उसकी सिद्धि कर देते हैं ; इसलिए यह बात उचित नहीं है। यथा- " सत्य " यहाँ पर अस्-धातु से आदि सकार लेकर फिर इण्-धातु से अन्तिम यकार को लेकर और बीच में तुगागम करके " सत्य " को सिद्ध किया है। इसलिए यह अनुचित है। अतः ये सभी नाम क्रिया से उत्पन्न हुए नहीं हैं।

7) यह पुराने लोगों का कहना है कि पहले द्रव्य होता है बाद में उसमें कोई क्रिया होती है। जैसे - यदि शीघ्र जाने के बाद घोड़े का नाम " अश्व " रखा जाए , तो आपकी बात ठीक है। किन्तु ऐसा नहीं होता है अपितु अश्व पहले होता है और बाद में उसका तेज दौड़ना होता है। अतः इससे स्पष्ट हो गया कि सब नाम आख्यातज नहीं हैं। वस्तुतः 'यौगिक' या 'धातुज' शब्दों की यह विशेषता देखी जाती है कि उनका प्रयोग उन सब व्यक्तियों या वस्तुओं के लिये होता है जो-जो उस विशिष्ट क्रिया से सम्बद्ध होते हैं जो उस शब्द में विद्यमान मूलभूत धातु का अर्थ होती है जैसे कोई भी पढ़ाने का काम करता है, उन सबके । तत्रैवं लिये 'अध्यापक' शब्द का प्रयोग किया जाता है क्योंकि अध्यापन किया को कहने वाली 'अधि = इ' धातु से कर्त्ता कारक में 'ण्वुल' प्रत्यय होकर 'अध्यापक' शब्द बना है। जो कोई भी सुन्दर ढंग से गाना गाता है उन सबको 'गायक' कहा जाता है। इसी प्रकार 'धातुज' शब्दों की एक दूसरी विशेषता यह भी देखी जाती है कि एक ही व्यक्ति जिन क्रियाओं को प्रधान रूप से करता है उनके आधार पर उसके भिन्न-भिन्न नाम पड़ जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति को पढ़ाने के कारण 'अध्यापक', गाने के कारण 'गायक', उपदेश देने के कारण 'उपदेशक' इत्यादि कहा जाता है। ये तृष्णम् दोनों विशेषतायें 'रूढ़ि' शब्दों के विषय में नहीं मिलतीं। अतः उन्हें 'धातुज' या 'यौगिक' नहीं माना जा सकता।

उत्तर पक्ष

उपर्युक्त सभी समस्याओं का समाधान करते हुए आचार्य यास्क तथा शाकटायन आदि इस प्रकार कहते हैं कि:-

1) यह जो कहा गया है कि जिस नाम में स्वर और संस्कार सूपपन्न हों और प्रादेशिक गुण से युक्त हों , वही नाम धातुज हैं, अन्य नहीं। इसका उत्तर हम यह देते हैं कि हमारा तो कहना ही यही है कि सब ही नाम प्रादेशिक है तथा व्याकरणप्रक्रिया से अनुगत हैं। इस अवस्था में यदि वे ऐसा ही मानते हैं कि व्याकरणप्रक्रिया से अनुगत नाम ही आख्यातज हैं तो इसमें कोई आक्षेप की बात ही नहीं है। हम लोग तो

संसार के किसी भी शब्द को ऐसा नहीं समझते। सभी शब्द सिद्ध हो जाते हैं केवल ज्ञान और प्रयत्न की आवश्यकता है अतः सभी शब्द धातुज हैं।

2) एक ही काम करने के कारण संसार में विविध वस्तुओं में से किसी एक का नाम उसकी क्रिया के आधार पर रख दिया जाता है , ऐसा तो लोक में भी व्यवहार में देखने और सुनने को मिलता है। जैसे - कुम्भ का निर्माण करने वाले का कुम्भकार , लोहे का काम करने वाले को लोहार आदि कह दिया जाता है तो ऐसा कोई यह आवश्यक नहीं है कि क्रिया के आधार पर ही उसका नाम रखा जाता है। इसलिए संसार में सभी नाम आख्यातज हैं।

3) यह जो कहा कि एक द्रव्य अनेक क्रियाओं से युक्त होता है तो उसके अनेक नाम होने चाहिए ; ये भी कहना उचित नहीं है क्योंकि किसी क्रिया के कारण लोक में द्रव्यों का नाम विशेष पड़ जाता है और किसी क्रिया के कारण नहीं पड़ता है-उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि संसार का एक द्र् ्व्य एक ही काम करता है। किसी क्रिया विशेष के आधार पर नाम रखने या न रखने का तो लोक ही प्रमाण एवं कारण है। अतः समस्त नाम धातुज हैं।

4) और यह जो आपत्ति उठाई गई कि जिस तरह से भी ये सब नाम स्पष्टार्थक हों , उसी प्रकार से इनको कहा जाए। इसलिए इसके समाधान में हम कह सकते हैं कि कम प्रयोग वाले कृदन्त शब्द भी एकपद धर्मवाले गार्ग्य के मत में माने गए हैं। इसलिए यहाँ तो उनके एक-एक पद को लेकर भी निर्वचन करके उनका स्पष्टार्थ बतलाया गया है। जैसे - **दमूना**; दमन करने से बनता है, जाट्य-जटावाला इत्यादि। इसलिए सभी नाम आख्यातज हैं।

5) यह जो कहा कि क्रिया को देखकर नाम नहीं रखा जाता अपितु पहले ही नाम रख दिया जाता है; जैसे पृथिवी। यास्क इसके उत्तर में कहते हैं कि हमें कोई दोष नहीं दिखलाई देता। क्योंकि पृथिवी का नाम "पृथिवी" इसलिए रखा गया कि यह पृथु अर्थात् फैली हुई दिखाई देती है। चाहे इसे किसी ने फैलाया हो या नहीं। दूसरे सभी लोग देखकर ही नाम रखते हैं तथा रखे हुए नाम में आख्यातादि आधार को खोजना सर्वथा उचित ही है। अतः ये सभी नाम धातुज हैं।

6) यह जो कहा कि शब्द और उसमें विद्यमान धातु दोनों का ही अर्थ असंगत है, यह भी उचित नहीं है क्योंकि सम्बद्ध अर्थ से इस प्रकार की बनावट की कल्पना करना भी अनुचित नहीं है। यदि कोई इस प्रकार की बनावट की कल्पना असम्बद्ध अर्थ में करे तो वह निन्दनीय है और वह भी व्युत्पत्ति करने वाले उस व्यक्ति विशेष की ही निन्दा होगी, हमारे सिद्धान्त को नहीं। इसलिए संसार में समस्त नाम धातुओं से उत्पन्न हुए हैं।

7) " पहले द्रव्य होता है और फिर उसमें कोई क्रिया " ; गार्ग्य की इस युक्ति के विरोध में यास्क मुनि कहते हैं कि पूर्व में होने वाली वस्तुओं का नामकरण बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर कुछ दशाओं में हो जाता है , कुछ में नहीं ; जैसे लम्बचूड़ पक्षी की चोटी बहुत बाद में लम्बी होती है परन्तु लोग तो उसे पहले ही लम्बचूड़ कहने लगते हैं। जैसे बिल्वाद पक्षी जन्म से ही बेल खाने नहीं लगता , उसे बेल खाने की सामर्थ्य तो बड़े होने के बाद में आती है ; बिल्वाद तो लोग उसे जन्म से ही कहने लग जाते हैं।

संस्कृत व्याकरण का अंग या परिशिष्ट उणादिकोश है, जिसमें उपलक्षण के रूप में कुछ रूढ़ि शब्दों के स्वर संस्कार आदि के प्रदर्शन का प्रयास किया गया है। परम्परा इस ग्रन्थ को,सभी शब्दों को धातुज मानने वाले, शाकटायन की रचना मानती हैं। महाभाष्य में तीन कारिकायें मिलती हैं जिनमें पहली में यह कहा गया है कि उणादिकोश में बहुत थोड़ी प्रकृतियों का निर्देश किया गया है तथा कुछ थोड़े प्रत्ययों का

संग्रह किया गया है। साथ ही शब्द की सिद्धि रूप कार्य का विधान भी बहुत थोड़ा ही मिलता है। इसलिये पाणिनि के 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा. 3/6/1) सूत्र में 'बहुल' शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया कि जिस प्रकार 'उणादि' में कुछ शब्दों की सिद्धि की गयी उसी तरह अन्य शब्दों की भी सिद्धि कर लेनी चाहिये। इस प्रकार वेद के शब्दों तथा 'रूढ़ि' भूत शब्दों की सिद्धि हो जायेगी। दूसरी कारिका में यास्क के नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च इस बात को ही दूसरे शब्दों में उद्धृत किया गया है तथा यह कहा गया है कि जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि नहीं बताये गये उनमें यदि 'प्रत्यय' का ज्ञान हो जाये तो उसके आधार पर 'प्रकृति' का, तथा यदि 'प्रकृति' का ज्ञान हो जाये तो उसके आधार पर 'प्रत्यय' का अनुमान कर लेना चाहिये। तीसरी कारिका में यह कहा गया है कि संज्ञा शब्दों में पूर्व भाग में 'प्रकृति' और उसके बाद 'प्रत्यय' तथा शब्द में जो कार्य दिखाई दे उनके अनुसार अनुबंध की कल्पना कर लेनी चाहिये। सभी शब्दों को धातुज मानने वाले शाकटायन आदि की यही स्थिति है।

गार्ग्य का यह कथन तो ठीक है कि सभी शब्दों को 'धातुज' नहीं माना जा सकता। केवल वे शब्द जिसमें स्वर और संस्कार सुसंगत हों तथा शब्द के के अर्थ में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से युक्त हो, 'आख्यातज' मानना उचित है। सभी शब्दों के लिए यह कहना कि वे 'धातुज' ही हैं-वे सीधे धातु से बने हुये हैं, दुस्साहस मात्र है। क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्व काम करते दिखाई देते हैं, तथा देश, काल और वातावरण आदि के भेद से शब्द के रूप, ध्वनि तथा अर्थ में निरन्तर अनेकानेक परिवर्तन होते रहते हैं। यह भाषा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शब्द न जाने कब कितने वर्ष पूर्व किस रूप में अपनी प्राथमिक सत्ता में आये यह कह सकना किसी के लिये भी असंभव कार्य है।

यह तो बोलने वालों पर निर्भर होता है अतः कहना उचित नहीं है। कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु का नाम नहीं होता। अतः ये सभी नाम आख्यातज हैं।

इस प्रकार आचार्य यास्क गार्ग्य की सभी नामों के आख्यातजत्व अर्थात् धातुज होने के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रस्तुत युक्तियों का अच्छी प्रकार से खण्डन करते हैं और अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। सभी नामों आख्यातजत्व मानने वाले सिद्धान्त ने ही व्याकरण जगत् में उणादि कोष को जन्म दिया है। परम्परा तो इसे शाकटायन की ही रचना मानती है। उणादि प्रत्ययों की कल्पना तो रुढ़िभूत शब्दों की सिद्धि के लिए की गई है किन्तु इस प्रकार के शब्दों की व्याख्या करना तो उनके रूप तथा अर्थ के साथ खिलवाड़ करने के समाने है। अपने सभी नामों आख्यातजत्व के सिद्धान्त से यास्क सभी शब्दों के निर्वचन की सम्भावना को सिद्ध कर देते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) आचार्यः इत्यस्य किं निर्वचनम् ?
  2) नामानि कानि सन्ति ?
  3) **मा** निपातः किमर्थे प्रयुज्यते?

5.5 सारांश

प्रस्तुत पाठ का सारांश यह है कि वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध निपात अनेकविध तथा अनेकार्थक हैं। इनका सभी मन्त्रों में विविधरूप में प्रयोग प्रा्रस होता है। ये निपात निश्चितरूप से सार्थक एवं प्रयोजनात्मक ढंग से वर्णित हैं। इसके साथ साथ संसार के सभी नाम धातु अर्थात् क्रिया से उत्पन्न हैं। क्योंकि इस सकल चराचर जगत् में प्रत्येक जीव प्रतिक्षण कोई न कोई क्रिया करता रहता

है अर्थात् संसार का हर पदार्थ या जीव परिवर्तनशील है। और यह परिवर्तन क्रिया के कारण होता है जिसके अनुसार जीवों या प्राणियों के नाम भी रख दिए जाते हैं।

5.6 कठिन शब्दावली

निपातः = नीचे गिरना अथवा अव्यय

दुर्मदासः = भयंकर मद वाले

दधिचित् = दधि की तरह

समुच्चयार्थः =एक जगह अन्वय कर देना

अध्वर्युः = अध्वर्यु नामक ऋत्विक्

आख्यातज = धातुओं से बने हुए शब्द

5.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) उच्चावचेषु अर्थेषु निपन्ति

2)) त्रिविधः

3) निषेधार्थेउपमार्थेश्चनि

4) पदपूर्ति

अभ्यास प्रश्न 2

1) आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान् वा

2) नामानि आख्यातजानि सन्ति

3) निषेधार्थे

5.8 सहायक ग्रन्थ

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

5.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) उपमार्थे-निपातानां विस्तृत विवेचनं कुरुत।

2) सर्वाणि नामानि आख्यातजानि न वा इति पूर्वोत्तर पक्षाभ्यां साधयत।

3) निपातस्य लक्षणं विलिख्य तस्य भेदाः प्रतिपादनीयाः।

4) आचार्यः कस्मात् ? इति विवेचयत।

5)के नाम निपाताः कातिप्रकाराश्च सोदा्ृति सलक्षणं च प्रतिपादयत ।

¤¤¤¤

इकाई 6
वेद मन्त्रों की सार्थकता एवं निरूक्त प्रयोजन

संरचना

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 वेद मन्त्रों की सार्थकता
- स्वयं आकलन प्रश्न
6.4 निरूक्त प्रयोजन
- स्वयं आकलन प्रश्न
6.5 सारांश
6.6 कठिन शब्दावली
6.7 स्वयं आकलन प्रश्नो के उत्तर
6.8 सहायक ग्रन्थ
6.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत पाठ में निरुक्त के प्रथम अध्याय से वेद मन्त्रों की सार्थकता एवं निरूक्त प्रयोजन के विषय में चर्चा की जाएगी। यद्यपि कुछ आचार्यों का मत है कि वैदिक मन्त्र अनर्थक हैं क्योंकि इन मन्त्रों में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता परन्तु निरुक्तकार आचार्य यास्क मन्त्रों की सार्थकता को ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि वैदिक मन्त्र साक्षात् ईश्वर की देन है। इन मन्त्रों के अन्तर्गत जिन कठिन वैदिक शब्दों का ज्ञान व्याकरणादि के माध्यम से नहीं होता उसके लिए यास्क ऋषि के निवर्चन सिद्धान्त को वर्णित किया है अर्थात् निर्वचन के माध्यम से प्रत्येक वैदिक शब्द के अर्थ का ज्ञान कर सकते हैं। आचार्य यास्क के अनुसार निरुक्त में विशेषरूप से वैदिक कठिन शब्दों की निर्वचन सिद्धान्त के माध्यम से व्याख्या की गई है। अतः प्रस्तुत पाठ में वैदिक मन्त्रों की सार्थकता तथा निरूक्त प्रयोजन के विषय में चर्चा की जा रही है।

6.2 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन का हमारा मुख्य उद्देश्य है -

- वेद मन्त्रों के अर्थ को अच्छी प्रकार से समझना।
- वैदिक मंत्रों और ऋचाओं के अर्थ को स्पष्ट करने में निरुक्त की महत्वपूर्ण भूमिका को समझाना।
- धार्मिक, सांस्कृतिक, और शैक्षिक क्षेत्रों में निरुक्त के अनुप्रयोगों का विश्लेषण करना
- निरुक्त के विषय में ज्ञान प्राप्त कराना।

6.3 वेद मन्त्रों की सार्थकता

वेदमन्त्रों के अर्थ के विषय में प्राचीनकाल से ही अनेक प्रकार की शंकाएं उठाई जाने लगी हैं। आचार्य यास्क के निरुक्त में वेदमन्त्रों का अनर्थक मानने वाले ऋषि कौत्स हैं। कौत्स के मत में वेदमन्त्र अनुपपन्न , परस्पर विसंवादी , अस्पष्ट या भ्रमित अर्थ को प्रकट करने के कारण ये वैदिक मन्त्र अनर्थक हैं। वेदमन्त्रों का अर्थ है ; परन्तु अनेक अर्थदोषों से ग्रसित होने के कारण अनर्थक ही हैं। कौत्स ऋषि ने वेदमन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध करने के लिए कुछ यक्तियाँ दी हैं।

आचार्य यास्क ने कौत्स ऋषि की उन युक्तियों को पूर्वपक्ष में रखकर उत्तरपक्ष में उन युक्तियों का सफलतापूर्वक खण्डन किया है। तथा वेदमन्त्रों की सार्थकता को सिद्ध किया है।

यथो एतत् 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येत्। यथा 'इन्द्राग्नी', 'पितापुत्रौ' इति

यथो एतद् 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते' इति, उदितानुवादः स भवति।

यथो एतद् 'अनुपपन्नार्थाः भवन्ति' इति, आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत ।

यथो एतद् 'विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति', इति, लौकिकेष्वत्येतत् । यथा- 'असपत्नोऽयं'ब्राह्मण' अनमित्र राजा' इति ।

यथो एतद् 'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति जानन्तम् अभिवादयते, जानते मधुपर्क प्राहेति। यथो एतद् 'अदितिः सर्वम् इति, लौकिकेष्वप्येतत् । यथा-सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति ।

अयो एत्तद् 'अविस्पष्टार्थाः भवन्ति' इति, नैष। रथाणोर् अपराधो यद एनम् अन्धो न पश्यति । पुरुशापराधः स भवति ।

निरुक्त का मुख्य प्रयोजन मंत्रों का अर्थ स्पष्ट करना है, इस बात को हिंसा ऊपर 'इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थपत्ययों न विद्यते' तथा 'स्वार्थ-सार्थकं च' इन शब्दों में दो बार कहा गया। परन्तु कौत्स का विचार है कि मंत्र अनर्थक हैं। उनका महत्व केवल उनके पाठ मात्र में ही है तथा उनके उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट है। इसलिये कौत्स के अनुसार जब मंत्र अनर्थक हैं, भूमि तो मंत्रों के अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से प्रणीत निरुक्त-शास्त्र भी अनर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः बत् तास निरुक्त के प्रर्णता के लिये आवश्यक है कि वह इस बात की परीक्षा करें कि क्या सचमुच मंत्र अनर्थक हैं। इस दृष्टि से यास्क ने कौत्स के सात हेतुओं को पूर्व पक्ष के रूप में यहां प्रस्तुत किया ह-अंग है, जिनमें मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध की गई है:-

पूर्वपक्ष :- पूर्वपक्ष में कौत्स ऋषि मन्त्रों को निरर्थक बतलाते हुए इस प्रकार से कहते हैं कि -

1) **नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्य भवन्ति।** वैदिक मन्त्र निश्चित शब्दों की रचना वाले और निश्चितक्रम वाले ही होते हैं। अर्थात् लौकिक भाषा की तरह वैदिक मन्त्रों में हम परिवर्तन नहीं कर सकते हैं , न ही इनके शब्दों के स्थान पर पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। जैसे - " अग्न आयाहि वीतये " इसके स्थान पर " आयाहि अग्ने वीतये " या " आगच्छ हुताशन वीतये " इस प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। अतः ये वैदिक मन्त्र निरर्थक हैं।

2) दूसरे दोष का वर्णन करते हुए कौत्स ऋषि कहते हैं कि लिंग से सम्पन्न ये मन्त्र अपने लिंग की परवाह न करके - नियतलिंग की अविवक्षा करके ब्राह्मण के द्वारा इनका विनियोग होता है। जैसे - "**अथापि ब्राह्मणेन रूपसपन्नाः विधीयन्ते"।** यदि ये सार्थक होते तो अपने ही रूप से ये अपना विनियोग करवाते। यथा - " ऊरु प्रथस्वेति प्रथयति । **प्रोहाणीति** प्रोहति " इत्यादि मन्त्र प्रथन-क्रिया के लिए आता है परन्तु फिर भी "

इति प्रथयति " ऐसा ब्राह्मण वचन बोलकर इस मन्त्र का विनियोग होता है। इसी तरह प्रोहण कर्म के लिए जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसका विनियोग भी यह कहकर किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये मन्त्र स्वतः कुछ बल नहीं रखते । ये तो ब्राह्मण-वचनों के आधार पर ही सार्थक है। अतः ये वैदिक मन्त्र निरर्थक हैं।

3) **अथाप्यनुपपन्नार्थाः भवन्ति** - अर्थात् ये मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं। जैसे - "ओषधे त्रायस्वैनम्। स्वधिते मैनं हिंसीः।" यहाँ औषधि जड़ होने के कारण अपनी रक्षा करने में असमर्थ है , फिर भी उससे कहा जा रहा है कि हे ओषधि ! तू इसको बचा ले। इसी प्रकार हे खड्ग ! तू इस पशु को मत मार। मन्त्र बोल रहा रक्षा का और क्रिया कर रहा है मारने की। अतः ये मन्त्र निरर्थक हैं।

4) ये मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होते हैं। जैसे - " **अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। एक एव रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः। असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्। "** अर्थात् एक जगह तो कहता है - एक ही रुद्र संसार में है दूसरा नहीं अर्थात् रुद्र अद्वितीय है। इसी का उल्टा दूसरी जगह कहा गया है - पृथिवी पर असंख्य हजारों की संख्या में रुद्र हैं। इसलिए ये मन्त्र निरर्थक हैं।

5) **अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति। अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहीति।** अर्थात् यहाँ जानते हुए वेदज्ञ को वेद आज्ञा देता है कि जलती हुई अग्नि के लिए मन्त्रोच्चारण कर। भला , ये कौन नहीं जानता कि आहुति जलती हुई अग्नि में ही मन्त्र बोलकर दी जाती है। अतः मन्त्र निरर्थक हैं।

6) एक और भी मन्त्र में कह रहा है कि अदिति ही सबकुछ है , अदिति ही द्युलोक है , अदिति ही अन्तरिक्ष है। जैसे - अदितिः सर्वमिति । अर्थात् संसार में कभी एक ही वस्तु सब कुछ हो सकती है क्या ? और यह कितनी विचित्र बात है कि एक ही अदिति को माता , पुत्र , पिता यह सबकुछ बना दिया , ये कैसे सम्भव है। जरा ये विचार करने की बात है। इसलिए ये वैदिक मन्त्र निरर्थक हैं।

7) अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति - अम्यग् , यादृश्मिन् ,जारयायि , काणुका-इति। मन्त्रों की निरर्थकता के विषय में यह भी कारण है कि ये मन्त्र अस्पष्टार्थक अर्थात् गोलमाल होते हैं। जैसे - अम्यग् , जारयायि आदि। यदि ये स्पष्टार्थक होते तो इन शब्दों का ज्ञान सरलता से हो जाता। अतः ये मन्त्र निरर्थक हैं।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से कौत्स ऋषि ये स्पष्ट करना चाहते हैं कि ये वैदिक मन्त्र पूर्णरूप से निरर्थक हैं।

उत्तर पक्ष :- अब इन सभी का समाधान या खण्डन करते हुए उत्तर पक्ष में आचार्य यास्क इस प्रकार कहते हैं कि -

1) यह जो कौत्स ऋषि ने कहा कि वैदिक मन्त्रों में हम किसी तरह परिवर्तन नहीं कर सकते या शब्दों के स्थान पर पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते ; यह कहना अनुचित है कि हम मन्त्रों में शब्दों के स्थान पर परिवर्तन नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करने से वैदिक मन्त्रों में छन्द की हानि होती है तथा लोक में भी ऐसा बहुधा देखा जाता है , अतः मन्त्र सार्थक हैं।

2) ब्राह्मण भी वेदमन्त्रों को सार्थक समझकर ही विविध कर्मों में उनका विनियोग करता है। यदि उसकी दृष्टि में मन्त्र निरर्थक होते तो वह तत्तत्कर्मों में उसका विनियोग न करता , क्योंकि कर्म का बतलाना निरर्थक मन्त्रों का काम है या सार्थक मन्त्रों का -यह सोचने की बात है। इसलिए मन्त्र सार्थक हैं।

3) और यह जो शंका की थी कि ये मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं। इसलिए इसका भी समाधान लो , आम्नायवचनात् अर्थात् वेदमन्त्रों के भाव से वहाँ अहिंसा समझ लेनी चाहिए। क्योंकि धर्माधर्म के बारे में वेद से अधिक कोई नहीं जानता है। उस मन्त्र में ओषधि से प्रार्थना नहीं है अपितु ओषधिविशेषज्ञ से रोगी को बचाने के लिए प्रार्थना की गई है अतः वैदिक मन्त्र सार्थक हैं।

4) यह जो कहा गया था कि परस्पर विरोध वाले होने से मन्त्र निरर्थक हैं, सो भी ठीक नहीं क्योंकि लौकिक वचनों में भी इस प्रकार का परस्पर विरोध देखा गया है परन्तु वह आक्षेप योग्य नहीं समझा जाता। इसके समाधान में कहा जाता
है कि महिमाशाली होने से देवताओं में एक से अनेक होने का सामर्थ्य होता है। अतः यह विरोध नहीं बल्कि देवता की महिमा का वर्णन है। इसलिए वैदिक मन्त्र सार्थक हैं।

5) यह जो आक्षेप किया गया था कि जानते हुए वेदज्ञ पण्डित को आज्ञा देता है कि अमुक काम कर। तो ऐसा लोक में भी होता है। जैसे जानते पहचानते - जिनसे प्रतिदिन पढ़ते हैं उन गुरु जी को प्रणाम करते समय अपना नामोच्चारण करने का विधान है। जानते हुए अतिथि को भी यह कहा जाता है कि - मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्। अर्थात् मधुपर्क स्वीकार कीजिए। इसलिए लोक की तरह यह समझना चाहिए कि यह व्यवहार है। अतः मन्त्र सार्थक हैं।

6) और यह जो कहा गया कि वेद में एक ही अदिति को सबकुछ बना दिया गया है, तो ऐसा लोक में भी देखने को मिलता है। यथा - **सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति**। अर्थात् सबरस जल में मिले हुए हैं क्योंकि जल से ही सभी रसों की उत्पत्ति होती है अर्थात् लोक में सदैव सामान्य तौर पर यह कह दिया जाता है कि जल मिल गया तो मानो सबकुछ मिल गया। इसलिए ये वैदिक मन्त्र सार्थक होते हैं।

7) यह जो कहा था कि अविस्पष्टार्था भवन्ति - ये मन्त्र अस्पष्टार्थक होते हैं - जैसे अम्यक् आदि। इसके समाधान में कहते हैं कि नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। अर्थात् यह स्थाणु का अपराध नहीं कि जो इसको अन्धा नहीं देखता और ठोकर खाकर गिर जाता है। यह तो उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है जो वेद के अंगों को न समझकर वैदिक मन्त्रों को पढ़ने चला जाता है। अतः ये मन्त्र सार्थक हैं।

प्रथम-भारतीय परम्परा यह मानती है कि वैदिक मंत्रों में जहां जिन शब्दों का प्रयोग हुआ अधिति है सदा उन्हीं शब्दों का उच्चारण होगा, उनके स्थान पर पर्यायों का प्रयोग नहीं हो सकता जैसे- 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' के स्थान पर 'वहि स्तौमि पुरोहितम्' का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि मंत्रों में शब्दों का, यहां तक की वर्षों का क्रम भी सुनिश्चित है। उनमें अक्षर भी इधर से उधर नहीं किया जा सकता है। जैसे 'अग्निम् ईळे पुरोहितम्' ति के स्थान पर 'ईळे अग्नि पुरोहितम्' जैसे वाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। मंत्रों के संबंध में अति प्रवेति प्राचीन काल से चले आ रहे ये दोनों नियम इस बात को बताते हैं कि इन मंत्रों का अर्थ से कोई संबंध नहीं है। यदि अर्थ से सम्बन्ध होता है तो शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायों का प्रयोग या या अन्य चोयुक्त शब्दों के क्रम में परिवर्तन भी उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार, लौकिक संस्कृत दृष्टम त्रा इति भाषा के वाक्यों में ये दोनों बातें संभव हैं।

यहां भी जिसने मंत्रार्थ को अच्छी तरह से पढ़ा है तथा उसका अभ्यास किया है उसे कुछ भी अस्पष्ट नहीं प्रतीत होता और जो परम्परा से वेदार्थ को पढ़े हुए होते हैं उनमें जो बहुत अधिक ज्ञान वाला होता है, केवल वही प्रशंसनीय होता है। परन्तु यास्क की पंक्तियों से यह अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहां 'परोवर्यवित्सु' के बाद जो 'तु' का प्रयोग हुआ है वह स्पष्टतः इस वैषम्य का द्योतक है कि देहाती जनता में तो सामान्य ज्ञान से भी व्यक्ति पुरुष विशेष बन जाता है परन्तु आगमवित् विशिष्ट ज्ञानियों में तो 'भूयोविद्य' ही

प्रशंसनीय हो पाता है।यास्क और सम्भवतः सभी नैरुक्त मंत्रों को सार्थक मानते हैं। यदि मंत्र अनर्थक हों तो फिर मंत्रों के शब्दों का निर्वचन् इत्यादि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस रूप में निरुक्त में सारा प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। इसलिये कोई भी नैरुक्त विद्वान् मंत्रों को अनर्थक नहीं मान सकता। क्योंकि मंत्रों को अनर्थक मानने से उसके सम्प्रदान पर ही कुठाराघात होता है। इस कारण अनुमानतः, मंत्रों को अनर्थक मानने वाला वह कौत्स याज्ञिक सम्प्रदाय का आचार्य है जिसकी दृष्टि में वैदिक मंत्रों की महत्ता उनके उच्चारण, अथवा दूसरे शब्दों में, यज्ञों में विनियोग मात्र में ही है जिससे एक विशेष अदृष्ट या अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

नैरुक्त होने के नाते यास्क का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने मत- 'मंत्र सार्थक है' का प्रतिपादन कर चुकने के पश्चात् मंत्रों की अनर्थकता के विषय में कौत्स के द्वारा प्रस्तुत किये गये आक्षेपों अथवा हेतुओं का खंडन करें। इसी दृष्टि से यास्क ने संक्षिप्त शैली में निरुक्त में इन युक्तियों का खंडन किया जिसे नीचे दिया जा रहा है।

प्रथम हेतु में मंत्रों में शब्दों की निश्चित योजना तथा क्रम की जो बात कही गयी वह ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक संस्कृत में भी अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिसमें शब्द की योजना तथा क्रम दोनों ही निश्चित हैं। जैसे 'इन्द्राग्नि', 'पितापुत्री', 'मातापितरी' इत्यादि शब्द। इन प्रयोगों में भी न तो शब्द बदले जा सकते हैं और न क्रम। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि शब्दों का क्रम परिवर्तन कर देने से ऋचाओं में छन्दोभग का दोष भी उपस्थित हो सकता है। वस्तुतः किसी भी अच्छे कवि के काव्य की यह विशेषता होती है कि न तो उसमें शब्द बदले जा सकते हैं और न ही क्रम, जैसे कालिदास के किसी भी श्लोक में किसी प्रकार का परिवर्तन करना कवि के साथ अन्याय होगा।

दूसरे हेतु में जो यह कहा गया कि ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा मंत्र 'रूप' अर्थात् 'अर्थ' या 'सामर्थ्य' से 'सम्पन्न' अर्थात् युक्त बनाये जाते हैं तो उसका उत्तर यह है कि वेद-मंत्रों में जो बात कही गयी होती है उसी बात का ब्राह्मण वाक्य अनुवाद मात्र करते हैं-वे कोई नई बात नहीं करते। उदितानुवादः भवतिः का अर्थ है ऋचि उदितस्य (कथितस्य) अर्थस्य ब्राह्मणवाक्यै अनुवाद्य अंश अनर्थक नहीं हो जाता।

तीसरे में जो बात कही गयी है कि मंत्र असंगत अर्थ वाले होते हैं उसका उत्तर यह है कि चूंकि ऐसा कहते हैं-विधान करते हैं-इसलिये लौकिक दृष्टि से प्रतीत होने वाली हिंसा भी वस्तुतःहिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है क्योंकि भारतीय परंम्परा में वेदों को जो स्वतः प्रामाण्य की स्थिति ही गई है उसको ध्यान में रखते हुए, क्या हिंसा है तथा क्या अहिंसा है इस प्रश्न का अन्तिम निर्णायक तो वेद को ही मानना होगा और याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार वेद के शब्दों में वृक्ष को काटते हुए यजमान यह प्रार्थना करता है कि 'हे ओषधे! तू इस वृक्ष की रक्षा कर' (ओषधे त्रायस्व (एनम्) हे कुल्हाड़ी! तू इस वृक्ष को हिंसा मत कर' (स्वधिते मैन हिंसीः)। यहां यज्ञ में काटे जाते हुए वृक्ष तथा मारे जाते हुए पशु इत्यादि की रक्षा का तात्पर्य स्वयं ब्राह्मणों में यह बताया गया है कि इन्हें विशेष अभ्युदय तथा स्वर्ग की प्राप्ति हो।

चौथे आक्षेप में, जो यह कहा गया है कि मंत्र परस्पर विरोधी वाले हैं वह भी उविचत नहीं है क्योंकि वैसी बात तो लौकिक भाषा के प्रयोगों में भी मिलती है। जिसके एक दो या बहुत कम शत्रु होते हैं उसके 'असपत्न' 'अनमित्र' (शत्रु रहित) का प्रयोग किया जाता ही है। इसी दृष्टि से प्राचीन काल में युधिष्ठिर को कई बार युद्ध-भूमि में उतरना पड़ा या गांधी जी शत्रु की ही गोली से मृत्यु को प्राप्त हुए। ऐसे प्रयोगों में 'न' का अर्थ हो सकता है सापेक्षिक कल्पना-सर्वथा अभाव नहीं क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई नहीं हो सकता जिसके शत्रु या मित्र न हों।

छठे हेतु में जो एक मंत्र में, अदिति को सब कुछ कहे जाने की बात कही गयी वह भी कोई दोष नहीं है क्योंकि लौकिक प्रयोगों में भी ऐसे अनेक काव्य या श्लोक मिलते हैं जिनमें इस प्रकार के भाव उपनिवद्ध मिलते हैं। जैसे यह कहा गया कि 'सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम्' अर्थात् पानी में सभी रस विद्यमान है।

सातवें आक्षेप में मंत्रों के अनेक शब्दों के अस्पष्टार्थक होने की जो बात कही गयी है, वह तो कहने वाले का ही दोष है जिसे वे शब्द अस्पष्टार्थक प्रतीत होते हैं। इनमें उन शब्दों का क्या दोष है कि उन्हें अनर्थक मान लिया जाये ?

अतः इस प्रकार के शब्दों को अस्पष्टार्थक कहकर नहीं छोड़ देना चाहिये, अपितु विभिन्न उपायों से इस प्रकार के शब्दों के अर्थ को जानने का प्रयास किया जाना चाहिये।
इस प्रकार मंत्रों की सार्थकता का प्रतिपादन तथा मंत्रों की अनर्थकता के सिद्धान्त का खंडन कर देने से वैदिक मंत्र सार्थक हैं, यह बात प्रमाणित हो जाती है तथा मंत्रों के सार्थक हो जाने से इस निरुक्त शास्त्र की सार्थकता स्वतः सिद्ध है।

आचार्य यास्क कौत्स ऋषि की वेदमन्त्रों के निरर्थकता सिद्धि हेतु प्रस्तुत युक्तियों का सप्रमाण खण्डन कर वेदमन्त्रों की सार्थकता की स्थापना करते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) कस्य मतानुसारं मन्त्राः अनर्थकाः भवन्ति ?
2) मन्त्राः सार्थकाः इति कः स्वीकरोति ?

6.4 निरुक्त प्रयोजन-

यास्क को निर्वचन विद्या का प्रथम लेखक माना जाता है। यास्क ने सर्वप्रथम निर्वचन को एक पृथक् विज्ञान के रूप में स्थापित किया। निरुक्त में निर्वचन के साथ ही साथ यास्क ने अपने अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है किन्तु इनकी निर्वचन विद्या की महत्ता सर्वाधिक है। वैदिक पाठ्य के सम्यक् ज्ञान के लिये निरुक्त आवश्यक है। निरुक्त को व्याकरण का पूरक माना जाता है-**'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्'** (नि. 1.15)। संहिताओं के पद पाठ में तथा पदों को धातु प्रत्यय आदि में विभक्त करने हेतु निरुक्त आवश्यक है।

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र में एक से अधिक देवता होने पर प्रधान देवता का ज्ञान भी निरुक्त द्वारा होता है अतः इसका व्यावहारिक महत्त्व है। निरुक्त का अध्ययन स्वयं इसके लिये भी किया जाना चाहिये क्योंकि ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा भी की जाती है। भाषाविज्ञान के समान यास्क कृत निर्वचन शब्द के मूल अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अपितु यास्क के निर्वचन का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक अर्थों के साथ शब्द की संगति स्थापित करना है। इस कार्य में कुछ शब्दों का आदिम रूप और अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। निर्वचन में प्रचलित अर्थ का शब्द से अन्वय करने के लिये तथ्यों के आश्रय की अपेक्षा कल्पना का आश्रय लिया जाता है। अतः यास्क के निर्वचन में अर्थानुसार कल्पना के आधार पर शब्दों को अन्वित किया जाता है।

किसी भी शास्त्र के चार मुख्य घटक होते है- विषय, संबन्ध, अधिकारी और प्रयोजन। निरुक्त जैसे शास्त्र की उपयोगिता अथवा प्रयोजन क्या है? क्योंकि **"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**। आचार्य यास्क और उनके पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों ने अपने-अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को इस रचना में समर्पित किया। अतः यह प्रश्न महर्षि यास्क के मन में भी उपजा होगा तभी तो उनके द्वारा स्वयं निरुक्त के प्रथम अध्याय में इस शास्त्र की उपयोगिता के विषय में व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है।

निरुक्तशास्त्र के बिना लोक में और वेद में मंत्रों का विभाग होने पर भी मंत्रों के विशेष अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता और पद में तथा पद के अर्थ का भी ज्ञान निरुक्तशास्त्र के बिना नहीं हो सकता है। अतः निरुक्तशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। अर्थ को न जानने वाला व्यक्ति स्वर का यथार्थ ज्ञान और पद विभाग आदि का समुचित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि. स्वर और विभक्ति आदि के संस्कारों की स्थिति अर्थ के अधीन होती है। इस ज्ञान क भण्डार व्याकरण का पूरक पदों की यथार्थ ज्ञान का बोधक निरुक्तशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि व्याकरण लक्षण-प्रधान है और निरुक्त अर्थ निर्वचन प्रधान है तो इस प्रकार व्याकरण शास्त्र के पूरक निरुक्त का अध्ययन करना चाहिये।

इसके पश्चात् निरुक्तशास्त्र के द्वितीय प्रयोजन यह है कि निरुक्त शास्त्र के विना पद विभाग नहीं किया जा सकता है। जैसे "अवसाय पद्धते रुद्र मृड" इस मंत्र में "अवसाय" यह पद चतुर्थ्यन्त है' "विमुच्य वयोऽवसायाश्वान्" इस मंत्र में अब "उपसर्ग से निर्मितस्य" धातु से ल्यप् "प्रत्यय करने पर" अवसाय निष्पन्न होता है जिसका अर्थ छोड़कर होता है, तो उपर्युक्त मंत्रों में पठित चतुर्थ्यन्त और ल्बयन्त अवसाय का पद विभाग निरुक्त शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति कभी नहीं कर सकता है अतः उसे विभाग की यथार्थ प्रक्रिया को जानने के लिये निरुक्त शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये।

यज्ञ क्रिया में देवताओं के ज्ञान के लिये निरुक्तशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, यह निरुक्तशास्त्र के अध्ययन का तृतीय प्रयोजन है । अतः निरुक्त के अध्ययन के बिना मंत्रों में देवता ज्ञान नहीं हो सकता है। उदाहरणार्थ "इन्द्र नत्वा शवसा वायुं पृणन्ति" इस अग्नि के मंत्र में इन्द्र और वायु देवता के नाम का भी उल्लेख किया गया है। केवल लिङ्ग मात्र से यहां देवता प्रधान है और कौन देवता अप्रधान है।

निरुक्त से पूर्व अन्य निरुक्त ग्रन्थों की रूपरेखा क्या थी? इस विषय में वर्तमान युग में कुछ भी ज्ञात नहीं है। स्थान-स्थान पर आचार्य यास्क द्वारा दिये गये उद्धरणों से उनके विषय में आंशिक अनुमान अवश्य किया जा सकता है। महर्षि यास्क ने निरुक्त की उपयोगिता के विषय में जो तथ्य रखे थे वे आज भी यथार्थ ही हैं।

आचार्य यास्क निरुक्तशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रयोजन बताते हुए निरुक्त को मन्त्र ज्ञान अथवा अर्थज्ञान हेतु सहायक कहते हैं। इतना ही नहीं वे व्याकरण और निरुक्त में घनिष्ठ सम्बन्ध को भी मानते हैं। आचार्य यास्क के अनुसार निरुक्त शास्त्र के चार प्रयोजन निम्नलिखित हैं-अर्थज्ञान, पदविभाग का ज्ञान, देवता का ज्ञान, ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा। इन सभी का विस्तृत वर्णन नीचे किया जा रहा है।

. अर्थज्ञान-

वस्तुतः शब्दस्वरूप का निर्धारण व्याकरणशास्त्र का विषय तो है किन्तु अर्थनिर्धारण में व्याकरणशास्त्र की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। वह उन शब्दों के अर्थ निर्णय में असहाय सा प्रतीत होता है जिनमें प्रकृति प्रत्यय का विधान सम्भव नहीं होता है। शब्द सिद्धि की प्रक्रिया में आने वाली बाधाओं से आचार्य पाणिनी भी परिचित थे। अतः उन्होंने ऐसे शब्दों की सिद्धि हेतु पृथक् उणादि सूत्रों की रचना भी की है, परन्तु उनकी भी कुछ सीमायें हैं, जबकि निरुक्त अर्थ प्रधान शास्त्र है एवं अर्थनिर्धारण में व्याकरण का पूरक तो है ही साथ ही इसका स्वयं में भी अस्तित्व है। अतः अर्थ का ज्ञान कराना निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

पदविभाग का ज्ञान-

पदविभाग को सामान्य रूप से व्याकरण का विषय समझा जाता है, किन्तु आचार्य यास्क ने पद विभाग को मुख्यरूप से निरुक्तशास्त्र का विषय कहा है-

"अधापिदमन्तरेण पद विभागो न विद्यते"

वजह से भी यह निरुक्त का ही विषय है, क्योंकि अर्थज्ञान बिना निरुक्त के सम्भव नही है। यह तो उसी अर्थ का आश्रय लेकर किया जाने वाला पद विभाग बिना निरुक्त के कैसे सम्भव हो सकता है। जैसा की ऋग्वेद में कहा गया है-

मयोभूर्वातो अभिवातूख्खा उर्जस्वतीरोषधीरा रिषन्तम्।
पीवस्तीर्जवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृव्व।।*
योनिष्ठ इन्द्र निषदे अकांरितमा निषीद स्वानो नार्वा।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ।

देवता का ज्ञान-

यज्ञादि कर्मों में देवताओं के निमित्त आहुतियाँ प्रदान करने में वैदिक मन्त्रों की मुख्य उपयोगिता होती है, परन्तु किस मन्त्र से किस देवता को आहुति दी जाये और अन्य देवता सम्बन्धी सभी तथ्यों को जानने अथवा समझने हेतु निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है। अतः देवताविषयक ज्ञान निरुक्त का तृतीय प्रयोजन है।

ज्ञान की प्रशंसा एवं अज्ञान की निन्दा-

ज्ञान की प्रशंसा तथा अज्ञान की निन्दा यह संसार का नियम है- "अथापि ज्ञान प्रशंसा भवति। अज्ञान निन्दा च"। इसके अन्तर्गत आज्ञानतावश निन्दापात्र बनने से बचने के लिए भी निरुक्त शास्त्र को अनिवार्य रूप से पढ़ना चाहिए। आचार्य यास्क इस कथन के प्रमाण स्वरूप एक ऋचा प्रस्तुत करते हैं-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।*

अर्थात् वेद को पढ़कर जो उसके अर्थ को नहीं जानता वह भार उठाने वाले खम्भेके समान है। जो अर्थ को जानने वाला है, वह ज्ञान रूपी जल से धुले हुए पापों वालासम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है या स्वर्ग को प्राप्त होता है।

इस प्रकार बिना अग्नि के सूखा ईधन नही जल सकता उसी प्रकार अर्थ ज्ञान से रहित वेद पाठ कल्याणकारी नही हो सकता। इसके अतिरिक्त यास्क ने सिद्धान्त आदि के रूप में अनेक ऐसे तत्त्वों को उद्घाटित किया है जो भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिये आज भी उपयोगी हैं।अतः यह भी निरुक्त का मुख्य प्रयोजन है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) निरुक्तस्य मुख्यः प्रयोजनः किम्?

  2) अविस्पष्टार्थाः" इति शब्दः किं सूचयति?

6.5 सारांश

वैदिक पाठ्य के सम्यक् ज्ञान के लिये निरुक्त आवश्यक है। निरुक्त को व्याकरण का पूरक माना जाता है । संहिताओं के पद पाठ में तथा पदों को धातु प्रत्यय आदि में विभक्त करने हेतु निरुक्त आवश्यक है। यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र में एक से अधिक देवता होने पर प्रधान देवता का ज्ञान भी निरुक्त द्वारा होता है अतः इसका व्यावहारिक महत्त्व है।आचार्य यास्क कौत्स ऋषि की वेदमन्त्रों के निरर्थकता सिद्धि हेतु प्रस्तुत युक्तियों का सप्रमाण खण्डन कर वेदमन्त्रों की सार्थकता की स्थापना करते हैं। क्योंकि वैदिक मन्त्र साक्षात् ईश्वर की देन है। निरुक्त का अध्ययन स्वयं इसके लिये भी किया जाना चाहिये क्योंकि ज्ञान की प्रशंसा और

अज्ञान की निन्दा भी की जाती है। भाषाविज्ञान के समान यास्क कृत निर्वचन शब्द के मूल अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अपितु यास्क के निर्वचन का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक अर्थों के साथ शब्द की संगति स्थापित करना है। इस कार्य में कुछ शब्दों का आदिम रूप और अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं।

6.6 कठिन शब्दावली

उदितानुवादः- उद्धृत अनुवाद

आम्नाय - वैदिक उच्चारण परंपरा

नियतानुपूर्व्याः - निश्चित क्रम

अविस्पष्टार्थाः - अस्पष्ट अर्थ वाले

अनुपपन्नार्थाः - असंगत अर्थ

विप्रतिषिद्ध – विरोधाभासी युक्तयः - युक्तियाँ, तर्क

विधीयन्ते - निर्धारित होते है

स्थाणोः- स्थाणु, शिव का एक नाम

6.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) कौत्सस्य
2) आचार्य यास्क

अभ्यास प्रश्न 2

1) वैदिक शब्दानां व्याख्या
2) अनिश्चितार्थ

6.8 सहायक ग्रन्थ-

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, अन्सारी रोड़, दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई- दिल्ली 110007

6.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) निरुक्तस्य प्रयोजनं लिखत ।
2) अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते" निरुक्तमनुसत्य स्पष्टीक्रियताम्।
3) मन्त्र: सार्थका: निर्थका: वा इति स्पष्टी क्रियताम्। यास्कानुसारं वेद मन्त्राणां सार्थकत्व साध्यत।
4) मंत्राः सार्थकाः अनर्थकाः वेति पूर्वापरपक्षो सोपपत्ति समाधेयौ ।

¤¤¤¤

इकाई 7
निर्वचन-सिद्धान्त

सरंचना

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 निर्वचन सिद्धांत
7.4 वर्ज्य एवं ग्राह्य-शिष्य निरूपण
- स्वंय आकलन प्रश्न
7.5 वैदिक शब्दों के निर्वचन
- स्वयं आकलन प्रश्न
7.6 सारांश
7.7 कठिन शब्दावली
7.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
7.9 सहायक ग्रन्थ
7.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में निरुक्त के द्वितीय अध्याय से निर्वचन सिद्धान्त के साथ साथ वर्ज्य एवं ग्राह्य शिष्य के विषय में चर्चा की जाएगी। निरुक्त के संदर्भ में निर्वचन का अभिप्राय वेदों के शब्दों और वाक्यों की व्याख्या करना, उनके मूलार्थ को स्पष्ट करना, और संदर्भ के अनुसार उनका सही अर्थ निकालना है।इस इकाई में, हम निर्वचन के महत्व को समझेंगे और जानेंगे कि किस प्रकार यह वेदों की भाषा और उनके गूढ़ अर्थों को समझने में सहायता करता है। निर्वचन की प्रक्रिया केवल शाब्दिक अर्थ तक सीमित नहीं है, बल्कि यह वेदों के गहरे तात्त्विक और आध्यात्मिक संदेशों को भी उद्घाटित करता है। आचार्य यास्क के अनुसार निरुक्त में विशेषरूप से वैदिक कठिन शब्दों की निर्वचन सिद्धान्त के माध्यम से व्याख्या की गई है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का हमारा मुख्य उद्देश्य है--

•निर्वचन के माध्यम से कठिन वैदिक शब्दों को जानना ।

•पृथिवी से सम्बन्धित अन्य वैदिक शब्दों के विषय में जानना

•निर्वचन सिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्ट करना।

• वैदिक साहित्य में इसकी प्रासंगिकता को समझाना।

7.3 निर्वचन सिद्धांत

'निर्वचन' शब्द निर् उपसर्ग पूर्वक √ वच् धातु तथा 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है जिसका शाब्दिक अर्थ है पद में विद्यमान अर्थ को शब्दों के द्वारा निष्कासित करना ही 'निर्वचन' कहलाता है। प्रायः यह देखा जाता

है कि निर्वचन के लिये समानार्थक 'निरुक्त' शब्द प्रयोग किया जाता है। 'निरुक्त' शब्द भी निर् उपसर्ग पूर्वक √वच् परिभाषणे धातु तथा 'क्त' प्रत्यय के योग से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ है - अपिहित अर्थों का प्रकाशन। शब्दों की समग्र व्याख्या निरुक्त में दिखलाई पड़ती है। सम्प्रति निर्वचन के लिये हिन्दी में व्युत्पत्ति शास्त्र का विधान होता आ रहा है। इसका अर्थ विशिष्ट उत्पत्ति होता है तथा शब्दों का मूलान्वेषण का प्रधानोद्देश्य है। इन सबके अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में ETYMOLOGY (इटिमालॉजी) का प्रयोग होता है। यह मूल रूप से यूनानी भाषा का शब्द है जिसमें Etumos का अर्थ यथार्थ एवं Logos लेखा जोखा का वाचक है। इस प्रकार 'इटिमालॉजी' का पूर्णार्थ हुआ यथार्थ लेखा-जोखा। जब किसी शब्द की मूल एवं भाषा-वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है, तब उसे इटिमालौजी से अभिहित करते हैं।

दुर्गाचार्य के अनुसार - परोक्ष या अतिपरोक्ष वृत्ति वाले शब्दों में अन्तर्निहित अर्थों को निकालकर कहना ही निर्वचन कहलाता है।' निर्वचन में शब्दों के प्रत्येक भागों को अलग-अलग करके तथा उससे सम्बद्ध विचार प्रस्तुताभिव्यक्ति किये जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि निर्वचन, व्याख्या, व्युत्पत्ति निरुक्त के पर्याय है। निरुक्त ग्रन्थ निर्वचन शास्त्र का ही नाम है।

भाषात्मक वर्णमात्र या ध्वनिसमूह से अभिव्यक्ति वाले पदार्थ को ध्यान में रखकर तत्पदगत ध्वनियों का अध्ययन निर्वचन कहलाता है। जैसे- 'निघण्टवः' बहुवचनान्त है। इसका अर्थ है संग्रह में विद्यमान संग्रहित नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात।' उक्त पद में 'नइ घ् अ ण्ट् अ व् अः' ध्वनि वर्ण हैं। इन वर्षों से उक्त पद निष्पन्न हुआ है। पद के अर्थ को केन्द्र में स्थापित करते हुये वर्षों में उसकी विद्यमानता ढूढना या खोजना ही 'निर्वचन' कहलाता है।

प्रायः व्यवहार में पद द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का विश्लेषण एवं अर्थ का पूर्ण रूप से विश्लेषण या पद द्वारा मूर्त व्यवस्थाओं का प्रतिपादन निर्वचन से अभिहित किया जाता है। अर्थ को सम्पूर्ण रूप से बतलाने वाले हेतु पद का पूर्ण रूप से ही प्रतिपादन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थ का क्रिया पक्ष के कौन-सा कौन वाच्य है एवं कारक पक्ष किस अंश द्वारा इसी को निर्वचन कहा गया है। उक्त में 'अपिहित के अर्थ' से तात्पर्य रूड़ार्थ की यौगिकता से है। अर्थात् व्यवहारार्थ में भाव कौन-कौन सा है। इसी को अपिहितार्थ से अभिहित किया जाता है।

निर्वचन के सन्दर्भ में स्कन्द स्वामी का मानना है कि अर्थ अनेक भावों के साथ पद में समाहित रहता है, इनमें से कुछ पद स्व-रूप को स्पष्ट कर देता है।

निर्वचन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें शब्द के वर्तमान स्वरूप से मूलार्थ स्वरूप की ओर जाया जाता है या प्रयास किया जाता है। जिसका स्वरूप व्याकरण में प्रसिद्ध व्युत्पत्ति से अलग होता है। जहाँ पर केवल व्युत्पत्ति में शब्द के प्रकृति- प्रत्यय के बारे में बताया जाता है, तो वहीं निर्वचन में ध्वन्यात्मकता के आधार पर इतिहासाश्रय लेकर अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। मूलार्थ यह है कि वाह्य एवं आन्तरिक रूप के साथ शब्द दूसरी तरह से कहा जाय तो निव का साम्य स्थापित किया जाता है। यदि नर्थ एवं ध्वनि के साम्याधार पर शब्द के

मूलार्थ तक पहुँचाने के मार्ग का अन्वेषण किया जाता है।

निरुक्त की परम्परा महर्षि यास्क से बहुत पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। इसके संकेत भी यास्ककृत निरुक्त से प्राप्त होते हैं। महर्षि यास्क के निरुक्त में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पूर्व आचार्यों द्वारा प्रतिपादित निर्वचन के सिद्धान्तों का प्रमाण प्राप्त होता है।

आचार्य यास्क ने द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में निर्वचन के कुछ सिद्धान्त बतलाए हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

1) **तद्येषु पदेषु स्वर-संस्कारो समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तानि निर्ब्रूयात्।** अर्थात् जिन शब्दों में उदात्तादि स्वर और व्याकरण के प्रत्यय तथा उनके लगने से होने वाले परिवर्तन संस्कार समर्थ हों या अर्थ के अनुकूल हों , उन शब्दों का निर्वचन उसी प्रकार कर देना चाहिए।

2) किन्तु जब स्वर व्याकरण की प्रक्रिया शब्द के अनुकूल न हो तथा उचित धातु का विकार भी न हो अर्थात् किसी भी तरह से उस शब्द की सिद्धी न हो तो वहाँ पर अर्थ को मुख्यता देकर किसी भी क्रिया की समानता से निर्वचन कर ले अर्थात् अमुक शब्द में किस धातु का साम्य है यह विचार करके उसी से निर्वचन ले। क्योंकि अर्थ ही प्रधान है शब्द तो गौण है। यथोक्तं निरुक्तशास्त्रे - अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत् केनचिद् वृत्ति-सा-मान्येन।

3) **अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयः भवन्ति।**

अर्थात् जहाँ शब्द में किसी तरह से भी समानता न हो तो उस शब्द के किसी अक्षर अथवा वर्ण से समान अर्थ वाले किसी दूसरे शब्द की तरह निर्वचन कर लेना चाहिए।

यास्क का कहना है कि जिन वैदिक शब्दों में उसके उदात्तादि स्वर और लोप-आगम आदि व्याकरण की प्रक्रिया उन शब्दों के अनुकूल हो तथा उसके अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु अपने मूल रूप में अथवा किंचिद् विकृत रूप में उनमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रही हो, उनका निर्वचन उनमें प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर सामान्य रूप में कर देनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वैदिक शब्द में उदात्तादि स्वर का कहीं न कहीं स्थिति अवश्य होती है और उसी के आधार पर यह निश्चित होता है कि वह शब्द संज्ञा है या क्रिया आदि। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के अर्थ के अनुसार ही उसमें व्याकरण की प्रक्रिया भी विद्यमान होती है। शब्द का अर्थ यदि इन दोनों के अनुसार हो और उस अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु भी उसमें (शब्द में) दिखाई पड़ रही हो तो ऐसे शब्दों का निर्वचन कुछ कठिन नहीं होता है, क्योंकि उसके सभी घटक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, उदाहरण के लिए 'पाचक' शब्द लिया जा सकता है। इसमें पच् ण्वुल (अक्) के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा पच् धातु का पाच् के रूप में परिवर्तन स्पष्ट रूप में चीख रहा है। उदात्तदि स्वर भी यथास्थान हैं। उन सबके आधार पर 'पाक क्रिया को सम्पन्न करने वाला' रूप (विशेषण) अर्थ को यह व्यक्त कर रहा है। फलतः इसका निर्वचन (पचतीति पाचकः) पच् + अक् के रूप में स्पष्ट रूप में हो जाता है। धावक, गायक, गन्ता आदि ऐसे वे शब्द हैं। कभी-कभी धातु में कोई भी विकार नहीं होता है, जैसे-पच् + अ (पचः)।

'संस्कार' शब्द का अर्थ है-व्याकरण की प्रक्रिया जिसमें प्रकृति और प्रत्यय में विभिन्न रूप आ जाते हैं। 'समर्थों' का तात्पर्य है अनुकूल अर्थ वाले-संगतो अनुकूलोऽर्थो यतोस्तौ-यह 'स्वरसंस्कारी' का विशेषण है। 'प्रादेशिक' शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ किए गए हैं, किन्तु उसका उपयुक्त अर्थ 'धातु का' है। प्रदिश्यते प्रयुज्यते इति प्रदेशः धातुः। प्रदेश का अर्थ है धातु और प्रदेश के विकार को प्रादेशिक कहा जायेगा (प्रदेश + ठक् + इक्) । विकार शब्द यहां धातु के परिवर्तन और उसके उसी रूप में प्रयोग, इन दोनों अर्थों को व्यक्त करते हैं।

4) निर्वचन करते समय शब्दों में होने वाले विविध परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना चाहिए। ये परिवर्तन निम्नलिखित हैं -

निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति - स्तः सन्तीति । अथापि अन्त- लोपो भवति - गत्वा गतमिति । अथापि उपधालोपो भवति - जग्मतुः, जग्मुः इति । अथापि उपधाविकारो भवति - राजा दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति - 'तत्त्वा यामि' इति । अथापि द्विवर्णलोपः- तृचः इति । अथापि आदिविपर्ययो भवति - ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्यः इति । अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति - स्तोकः, रज्जुः, सिकताः, तर्कुः इति । अथापि अन्तव्यापत्तिः मवति ॥ १ ॥

क) धातु के कुछ रूपों में आदि का अक्षर ही शेष रहता है शेष सभी लुप्त हो जाते हैं । प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादौ एव शिष्येते ।। जैसे - प्रत्तम् या अवत्तम् में दा-धातु का केवल द् या त् ही शेष बचता है अवशिष्ट सभी का लोप हो जाता है।

ख) कहीं कहीं पर किसी धातु का आदि के स्वर का लोप हो जाता है जैसे- अस् धातु का निवृत्ति स्थानों में -स्तः एवं सन्ति शेष रहता है।

ग) और कहीं पर धातु के अन्त अर्थात् उपधा का लोप हो जाता है , उदाहरण के लिए " गत्वा " में गम् धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर मकार उपधा का लोप होने पर गत्वा रूप बन जाता है। इसी प्रकार गतम् में भी गम् धातु से क्त प्रत्यय करने पर अन्त्य अक्षर म् का लोप होने के कारण गतम् बन गया है।

घ) कहीं पर किन्हीं शब्दों में उपधा में विकार आ जाता है जैसे- राजा ; यहाँ मूलभूत राजन् शब्द में विकार आने पर या व्याकरण की दृष्टि से सिद्ध करने पर राजा शब्द बनता है।

ङ) कहीं पर वर्ण का लोप भी हो जाता है जैसे -" तत्त्वा यामि " यहाँ पर " तं त्वा याचामि " में "याचामि" के च का लोप होने पर यामि ही शेष बच गया है , परन्तु यह चकार लोप वेदों में है , लोक में नहीं होता।

च) **अथापि द्विवर्ण-लोपस्तृच इति**। अर्थात् कहीं कहीं दो-दो वर्णों का एक साथ लोप हो जाता है। जैसे -" तृचः " तिस्र ऋचः एवं त्रि $ ऋचः यहाँ पर त्रि को सम्प्रसारण करके तृ $ऋचः ; इसके उपरान्त ऋ का लोप हुआ । ऋ में र् भी विद्यमान है। अतः ऋ तथा र् दो वर्णों का लोप होकर तृचः बना।

छ) कहीं पर आदि वर्ण का विपर्यय हो जाता है। जैसे - द्योतिः का ज्योतिः ; हनः का घनः ; भिन्दुः का बिन्दुः ; भाट्यः का याट्यः , यह सब आदि वर्णों में परिवर्तन हो जाता है।

ज) कहीं कहीं पर अन्तिम अक्षर बदल जाता है। जैसे - ओघः में वह् धातु से अन्तिम ह् को घ हो गया, मेघः में मिह् धातु से ह् के स्थान पर घ बन गया, नाघो तथा गाघो शब्दों में णह् एवं गाह् धातुओ से भी अन्तिम ह् को घ हो गया है। अतः इन सभी शब्दों में अन्तिम अक्षर में परिवर्तन हो गया है।

झ) कहीं पर शब्द निर्माण करते समय वर्ण का आगम हो जाता है। जैसे - आस्थत् में अस् धातु से लुङ् लकार में थुक् का आगम हो पर आस्थत् शब्द बनता है।

इस प्रकार जब व्याकरण जैसे शब्द प्रधान शास्त्र में भी कहीं पर स्वर का आदि-लोप , कहीं अन्त का लोप , कहीं पर दो वर्णाेें का लोप आदि शब्दों का विपरिणाम देखा गया है, तब निरुक्त जैसे अर्थ प्रधान

शास्त्र में क्यों न इस तरह से कर लिया जाए ? इसलिए किसी प्राचीन आचार्य ने निरुक्त को पाँच प्रकार का माना है:-

वर्णागमो वर्ण-विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ।।

अर्थात् निरुक्त पांच प्रकार का है - वर्ण का आगम , वर्ण का आद्यन्त - विपर्यय , वर्ण - विकार , वर्ण - नाश और धातु का उससे भिन्न अर्थ के साथ योग।

जिन शब्दों में स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर अपने अधीनस्थ अर्थ सम्बन्धी प्रादेशिक विकार से सम्बद्ध हो उनका निर्वचन उसके अनुसार ही करें। निर्वचनम् निष्कृष्य-विगृह्य वचनं-निर्वचनम्।

1. वर्णागम- आस्थत्, द्वारः, भरुजा।

2. **वर्णविपर्यय-** आदि विपर्ययः- ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, बाट्यः। आद्यन्त विपर्ययः- स्तोका रज्जुः सिकतास्तक्र्हिति। (तर्क) अन्तविपर्ययः- ओघो, मेघो, नाघो, गाघो, वधूर्मध्विति।

3. **वर्णविकार-**उपधाविकारः- राजा, दण्डी।

4. **वर्णनाश-** आदिशेषः- प्रत्तम्, अवत्तम्।

आदिलोपः- स्तः सन्ति।

अन्तलोपः- गत्वा, गतम्।

उपधालोपः जग्मतुः, जग्मुः।

वर्णलोपः तत्त्वा यामीति। (तं त्वा याचामि) द्वारः। द्विवर्णलोपः- तृचः। (तिस्रः ऋचः)

5. **धात्वर्थातिशय-**

यज् धातु सम्प्रसारण इष्टम्, इष्टवा । यज् धातु असम्प्रसारण यष्टुम्, यष्टव्यम्। दम् उपशमने - दाम्यति, दमयति दान्तः, दमूना । कुछ धातुएं सम्प्रसारण रूप में कम प्रयोग वाली होती हैं- अतिः, मृदुः (लौकिक) से वैदिक कृदन्त शब्द दमूनाः, क्षेत्रसाधा । वैदिक से लौकिक कृदन्त शब्द उष्णम् घृतम्। पृथुः, पृषतः, कुणारू।

इस तरह विविध प्रकार के निरुक्त से कठिन वैदिक शब्दों के निर्वचन करने में सहायता मिलती है और वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझना सुलभ हो जाता है।

7.4 वर्ज्य एवं ग्राह्य-शिष्य निरूपण

वर्ज्य एवं ग्राह्य-शिष्य का निरूपण आचार्य यास्क ने क्रमशः इस प्रकार से किया है -

वर्ज्य-शिष्य निरूपण

आचार्य यास्क वर्ज्य- शिष्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि -

"नावैयाकरणाय , नानुपसन्नाय , अनिंदविदे वा ।" अर्थात् जो व्याकरणशास्त्र न पढ़ा हो या जिस शिष्य को व्याकरण के बारे में बिल्कुल भी ज्ञान न हो , ऐसे शिष्य को निरुक्त नहीं पढ़ाना चाहिए। और जो शिष्य भाव से या अच्छी तरह से पढ़ने के लिए गुरु के पास न आवे , इस तरह के शिष्य को भी निरुक्त न पढ़ावे।

इसी प्रकार जो अयोग्यता के कारण इस निरुक्त - शास्त्र को समझ न सके , अथवा जिस शिष्य को किसी भी प्रकार की कोई भी समझ न हो या जो कुछ भी न जानता हो , उस शिष्य को निरुक्तशास्त्र नहीं पढ़ाना चाहिए । इसके अतिरिक्त वर्ज्य-शिष्य के विषय में यास्क मुनि ने कही है कि -

" **नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया** ।" अर्थात् जो शिष्य इस निरुक्तशास्त्र को जानने में रुचि नहीं रखता है अथवा पढ़ने की क्षमता नहीं है या आचार्य को दोष देता है अथवा आचार्य की निन्दा करता है ऐसे शिष्य को कभी भी निरुक्त नहीं पढ़ाना चाहिए।

- **अथ ग्राह्य-शिष्य निरूपण**

ग्राह्य-शिष्य का निरूपण करते हुए यास्क मुनि इस प्रकार कहते हैं कि -

"उपसन्नाय तु निब्रूयाद्यो वाऽलं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा" - अर्थात् जो शिष्य-भाव से सम्यक् प्रकार से उपस्थित होकर श्रद्धायुक्त होकर आए , उसे निरुक्तशास्त्र पढ़ाना चाहिए। और जो व्याकरणशास्त्र का ज्ञान रखता हो या जिसने व्याकरण पढ़ा हो, ऐसे शिष्य को निरुक्त अवश्य पढ़ाना चाहिए। जो शिष्य इस निरुक्तशास्त्र को समझने की क्षमता रखता है या जो इसे पढ़ने में रुचि लेता है, उस शिष्य को निरुक्त पढ़ावे। जो शिष्य आचार्य की निन्दा नहीं करता या जो सम्मानपूर्वक पढ़ने में जिज्ञासु है, उसे निरुक्तशास्त्र पढ़ाना चाहिए। और जो मेधावी हो तथा साथ में तपश्चर्या भी करता हो, ऐसे शिष्य को निरुक्त अवश्य पढ़ाना चाहिए।

ग्राह्य एवं वर्ज्य-शिष्य के विषय में कथानक के रूप में श्लोक इस तरह से वर्णित हैं:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ।।

कभी बहुत प्राचीन कथानक है कि एक बार विद्या निश्चय से ब्राह्मण के पास आई और बोली कि मेरी रक्षा करो। मैं तेरी निधि हूँ। अतः हे ब्राह्मण निन्दक के लिए , कपटाचरण के लिए तथा असंयमी के लिए मुझको मत पढ़ा, ऐसा करने पर मैं तेरे लिए वीर्यशालिनी हो जाऊँगी।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ।।

अर्थात् जो गुरु सत्य-वेद-ज्ञान से जरा भी कष्ट न पहुँचाता हुआ मोक्षप्राप्ति हेतु ज्ञान को देता हुआ , शिष्य के दोनों कानों को खोल देता है, उस गुरु को पिता और माता समझे उससे कभी द्रोह न करे।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।।

पढ़ाये हुए जो ब्राह्मण मन से , वाणी से , कर्म से गुरु का आदर नहीं करते या उनकी सेवा से जी चुराते हैं, जैसे ही पढ़ाये गये शिष्य गुरु के काम नहीं आते , उसी प्रकार वह पढ़ी हुई विद्या भी उनके काम नहीं आती या उनकी रक्षा नहीं करती।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ! इति ।।

अर्थात् हे ब्राह्मण ! जिसे ही तू यम-नियम से युक्त, अत्यन्त बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त जाने और जो किसी भी दशा में आपका द्रोह न करे, उन निधि की रक्षा करने वाले को मुझको पढ़ाना चाहिए ,तभी मैं सब

के लिए कल्याण करने वाली बनूँगी। इस प्रकार से आचार्य यास्क के द्वारा वर्ज्य एवं ग्राह्य-शिष्य का निरूपण निरुक्तशास्त्र में किया गया है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) के वर्ज्याः शिष्याः भवन्ति ?

2) ग्राहया: शिष्या: के के भवन्ति ?

7.5 वैदिक शब्दों के निर्वचन

गौः - गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद्दूरंगता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वोकारो नामकरणः ।

अर्थात् गौ यह पृथिवी का नाम है। क्योंकि यह दूर तक गई हुई है। इसलिए भी कि इस पर सभी प्राणी गति करते हैं अर्थात् यह सब प्राणियों की आधार भूत है। अथवा गाङ्-गतौ से ओकार प्रत्यय करके गो बना है।

गौरित्येतत्-पशु-नाम भवति। अर्थात् गौ यह एक पशु का नाम भी है।

हिरण्यम् कस्मात् ? -

ह्रियत आयम्यमानमिति वा , ह्रियते जनाज्जनमिति वा , हित-रमणं भवतीति वा , हृदय-रमणं भवतीति वा , हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा कर्मणः ।

हिरण्य क्यों बोला जाता है - हिरण्य का क्या निर्वचन है ? इस के विषय में यास्क मुनि इस तरह वर्णन करते हैं कि जो लम्बा किया हुआ खींचा जाता है अथवा एक मनुष्य से दूसरे के पास ले जाया जाता है या यह हिरण्य औषधरूप से हितकारक है , धारण करते ही जो रमणीय लगता है अथवा धारण करने पर जो सुन्दर दिखता है या सब के हृदय को जो अच्छा प्रतीत होता है और हर एक मनुष्य को जिसकी इच्छा रहती है , अतः यह हिरण्य कहाता है।

अन्तरिक्षम् कस्मात् ? - अन्तरां क्षातं भवत्यन्तरेमे इति वा , शरीरेष्वन्तर-क्षयमिति वा ।

अन्तरिक्ष कैसे बना ? - जो द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में है और पृथिवी तक अवस्थित है , अतः अन्तरिक्ष कहलाता है। अर्थात् पृथिवीलोक तथा द्युलोक के बीच में जो सदा स्थित रहता है , वह अन्तरिक्ष है। अथवा शरीरों के भीतर यही एक अविनश्वर है , शेष पृथिव्यादि सब भूत नश्वर हैं। क्योंकि पाँच भूतों से यह शरीर बना है।

समुद्रः कस्मात् ? - समुद्द्रवन्त्यस्मादापः , समभिद्रवन्त्येनमापः , सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि , समुदको भवति , समुन्नत्तीति वा ।

अर्थात् समुद्र नाम क्यों पड़ा ? क्योंकि इस सागर से जल तरंगों के रूप में ऊपर उठता है , अतः इस सागर का नाम समुद्र रखा अथवा इसको जल सब ओर से अभिमुख होकर प्राप्त होते हैं , या इस समुद्र में सभी जलचर प्रसन्न रहते हैं, अथवा यह अत्यधिक जल वाला होता है, यह सबका भिगोता रहता है इसलिए समुद्र कहलाता है।

आदित्यः कस्मात् ? - आदत्ते रसान् , आदत्ते भासं ज्योतिषाम् , आदीप्तो भासेति वा , अदितेः पुत्र इति वा ।

आदित्य कैसे ? - रश्मियों के द्वारा यह रसों का ग्रहण करता है। चन्द्रिकाओं के प्रकाश को यह ले लेता है , आदित्य के उदय होने पर चन्द्रमा आदि सब कान्ति से हीन हो जाते हैं अथवा तेज से यह आवृत है तथा अदिति का पुत्र या अपत्य होने से यह आदित्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त स्वः , पृश्निः , नाकः , गौरित्यादि से सब आदित्य के वाचक हैं।

दिशः कस्मात् ? - दिशतेः , आसदनात् , अपि वाभ्यशनात् ।

अर्थात् दिशायें क्यों कही जाती हैं ? दिश् धातु से बनी हैं। अतः दिशा कहाती हैं। देवताओं के लिए बलि इन्हीं दिशाओं में दी जाती हैं अथवा ये तत्तत् पदार्थों को पहुँची हुई हैं अतः दिशायें कहलाती हैं। **प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः।**

रात्रिः कस्मात् ? - प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि , उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति । रातेर्वा स्यात् दानकर्मणः।

रात्रि क्यों कहते हैं ? - यह रात्रि में विचरण करने वाले पिशाच आदि को प्रसन्न करती है। दूसरे प्राणियों को जो दिन में काम करते है, उनसब को यह विश्राम देती है , अथवा रा धातु से रात्रि बनता है। क्योंकि इस रात्रि में ही ओस दी जाती है।

उषाः कस्मात् ? **- उच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः ।**

अर्थात् उषा का नाम उषा क्यों पड़ा ? क्योंकि या अन्धेरे को विवासित करती है या अन्धेरे को दूर भगाती है। अथवा रात्रि का पश्चिम भाग उषा है।

अहः कस्मात् ? **-अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात् ? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति-वैश्वानरीयायामृचि ।**

बारह नाम 'अहर्' (दिन) के हैं। (दिन को) 'अहर्' क्यों कहते हैं। (लोग) इसमें काम करते हैं (इसलिए इसको 'अहर्' कहा जाता है)। वैश्वानर की (इस) ऋचा में इसका यह गौण प्रयोग है।

अर्थात् इसमें सम्पूर्ण कार्यों को करते हैं अतः इसे अहः कहा जाता है।

मेघः कस्मात् ? **मेधनामान्युत्तराणि त्रिंशत् । मेघः कस्मात् ? मेहतीति सतः। आ उपर, उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपरः उपलः मेघो भवति। उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि। उपरता आप इति वा। तेषामेषा भवति** ।

तीस नाम मेघ के हैं। (इसे) मेघ क्यों कहते हैं? (क्योंकि यह जल से) सेचन करता है, इसलिए (यह मेघ कहलाता है)। (इन नामों में) उपर, उपल इन दोनों तक के समस्त नामपर्वत नामों के साथ सामान्य हैं। उपर, उपल मेघ होते हैं (क्योंकि) इसमें भ्रम (बादल का हलका रूप) आकर ठहरते हैं, अथवा जल टिकते हैं, इसलिए। यह (वक्ष्यमाण) ऋचा उनकी (उपर) होती है । मेघ क्यों कहते हैं क्यों यह सींचता है या बरसता रहता है।

वाक् कस्मात् ? **-वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात् ? वचेः। तत्र 'सरस्वती' इत्येतस्य नदीवद्, देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद्देवतावद् उपरिष्टात तद् व्याख्यायास्यामः । अथैतन्नदीवत् ।**

सत्तावन नाम 'वाक्' के पर्याय हैं। (सह) 'वाक्' शब्द किस (धातु) से (व्युत्पन्न) है! वच् से। उनमें (वाणी के 57 नामों में) 'सरस्वती' इस शब्द के देवता के समान और नदी के समान (दोनों ही प्रकार के वैदिक उदाहरण मिलते हैं। तो जो (इसका वैदिक उदाहरण) देवता के समान है, उसकी व्याख्या हम बाद में

करेंगे। अब यह नदी के समान (वैदिक मंत्र) है। वचेः । वाक् वच् धातु से बनता है। जिससे बोला जाए , वह वाक् कहलाती है।

उदकम् कस्मात् ? - उनत्तीति सतः । अर्थात् जो भिगो देता है या आर्द्र कर देता है उसे उदक कहते हैं।

नद्यः कस्मात् ? - नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत् । नद्यः कस्मात् ? नदनाः भवन्ति शब्दवत्यः । बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम् आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्रेतिहासमाचक्षते- विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । विश्वामित्रः- सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कलयाणदानः । पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः । पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा अभिश्रीभवगतिर्वा । स वित्तंगृहीत्वा विपाट्छुतुद्रयोः सम्भेदमाययौ । अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव 'गाथा इस पर पवते' ति । अपि द्विवद, अपि बहुवत् । तद यद् द्विवद उपरिष्टात् तद्व्याख्यास्यामः । अथैतद् बहुवत् ।

सैंतीस नाम 'नदी' के पर्याय हैं। (इन्हें) 'नदी' क्यों कहते हैं? (ये) नदन होगी अर्थात् शब्द करने वाली होती हैं, इसलिए इन (नदियों) का बहुत सा चरित्र गौण है (और वह) मुख्य रूप से आश्चर्यजनक सा है। इस संबंध में (विद्वान् लोग एक) इतिहास बतलाते हैं-ऋषि विश्वामित्र पैजवन सुदास् के पुरोहित थे। विश्वामित्र (का अर्थ है) सबका मित्र। 'सर्व' (का अर्थ है) अच्छी प्रकार व्याप्त। सुदास् (का अर्थ है) अच्छा दान देने वाला। 'पेजवन' (का अर्थ) पिजवन का पुत्र। >सान और 'पिजवन' (का अर्थ है) स्पर्द्धनीय वेग वाला या न मिलने वाली गति वाला। वह धन लेकर व्यास और सतलज के संगम पर आ गया। दूसरों ने (उसका) अनुसरण किया। उस विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की 'उथली हो जाओ' इस प्रकार की। (वह स्तुति) दो (नदियों की स्तुति) के समान भी थी और बहुत (नदियों की स्तुति) के समान भी। तो, जो दो की तरह है, उसकी व्याख्या (हम) बाद में (9/39) करेंगे। इस समय यह (स्तुति) बहुत की तरह की है। । क्योंकि हमेशा शब्द करती रहती हैं , इसलिए नदियाँ कहलाती हैं।

अश्वः कस्मात् ? - अश्नुतेऽध्वानम् । महाशनो भवतीति वा । अश्व-नामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत-अश्वः कस्मादश्नुतेऽ ध्वानम्।

अश्व नाम क्यों पड़ा ? क्योंकि यह मार्ग का व्याप लेता है , बहुत तेजी से दौड़ता है और बहुत खाने वाला होता है , इसलिए इसको अश्व कहा जाता है।

मनुष्यः कस्मात् ? - मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति । मनस्यमानेन सृष्टाः । मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे । मनोरपत्यम् , मनुषो वा ।

अर्थात् मनुष्य क्यों कहते हैं क्योंकि यह सोच समझकर कार्यो को करते हैं या विचार करते हुए प्रजापति से ये मनुष्य बनाए गए हैं अतः इन्हें मनुष्य कहने लगे। और प्रसन्नचित मन वाला या मनु का अपत्य मनुष्य कहलाया। मनु एवं मनुष मनुष्य के वाचक हैं।

सङ्ग्रामः कस्मात् ? - संगमनाद्वा । संगरणाद्वा । संगतौ ग्रामाविति वा । तत्र इत्येतस्य निगमा भवन्ति ।

संग्राम कैसे ? या तो इस युद्ध में योधा लोग लड़ने के लिए इकट्ठे होते हैं, अतः संग्राम नाम पड़ा। अथवा शूरवीर वहाँ पर भयंकर शब्द करते हैं एक दूसरे को ललकारते हैं या दो समूह परस्पर युद्ध करने के लिए एकत्र होते हैं। इसलिए इसका नाम संग्राम कहलाया।

यज्ञः कस्मात् ? - प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः । यांचो भवतीति वा । यजुरुन्नो भवतीति वा । बहु-कृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः । यजंूष्येनं नयन्तीति वा ।

अर्थात् यज्ञ शब्द का अर्थ यजन करना है यह प्रख्यात ही है ऐसा निरुक्तकार मानते हैं। अथवा यह यज्ञ किसी फल विशेष की कामना से किया जाता है - यह यज्ञ याचनीय है अतः इसे यज्ञ कहते हैं। क्योंकि यह यज्ञ यजुर्मन्त्रों से उन्नः क्लिन्न होता है , इसलिए यज्ञ कहा जाता है और इसमें कृष्णाजिन बहुत से बिछाए जाते हैं अतः कहते हैं तथा इस यज्ञ को यजुर्मन्त्र सफलता को प्राप्त कराते हैं इसलिए इसे यज्ञ कहा जाने लगा।

लक्ष्मीः कस्मात् ? - लक्ष्मीर्लाभाद्वा । लक्षणाद्वा । लप्स्यमानाद्वा । लांछनाद्वा । **लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मण । लग्यतेर्वा स्यात् आश्लेष-कर्मणः । लज्जतेर्वास्यादश्लाघा-कर्मणः ।**

लक्ष्मीः - क्योंकि इस लक्ष्मी के आने पर सब पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, किसी भी चीज की कमी नहीं रहती , अतः लक्ष्मी के विषय में सब विचार करते हैं, यह सब से लक्षित है, सब लोग इसे चाहते हैं। लक्ष्मी सब की इच्छा का विषय है, लक्ष्मी का सभी आलिंगन करते हैं और उत्तम लक्ष्मी-पति लज्जाशील होते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी का सभी लोग आदर करते हैं।

कच्छपः कस्मात् ? - कच्छपः कच्छं पाति । कच्छेन पातीति वा । कच्छेन पिबतीति वा । कच्छः खच्छः खच्छदः ।

अर्थात् कच्छप अपने मुख-सम्पुट की रक्षा करता है, या कच्छ-कटाह से अपने अंगों की रक्षा करता है। अथवा मुख-सम्पुट से पीता है। क्यों इसका मुख आकाश से आच्छादित है अतः खच्छ भी कहलाता है। इस प्रकार आचार्य यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र में और भी बहुत सारे निर्वचन कहे हैं, जिनका विस्तार से आप मूल ग्रन्थ से अध्ययन कर सकते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) पृथिव्याः किं नामधेयम् ?
  2) आदित्य नामानि कति ?
  3) कति नामानि हिरण्यस्य ?
  4) पृश्निः कस्य नाम वर्तते ?
  5) यज्ञनामानि कति ?
  6) कूप नामानि कति ?

7.6 सारांश

प्रस्तुत पाठ से हम ये जान सकते हैं किनिर्वचन सिद्धांत 'निरुक्त' शास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है, जिसमें शब्दों और उनके अर्थों की व्याख्या की जाती है। 'निरुक्त' का मुख्य उद्देश्य वैदिक शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करना है ताकि वेदों का सही ज्ञान और समझ हो सके। निर्वचन सिद्धांत के अंतर्गत शब्दों की उत्पत्ति और संरचना, शब्दार्थ की विवेचना, व्याकरणिक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य, और उदाहरणों के माध्यम से स्पष्टीकरण जैसे महत्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डाला जाता है। शब्दार्थ की विवेचना के अंतर्गत वैदिक शब्दों के विविध अर्थों की व्याख्या की जाती है, ताकि एक ही शब्द के विभिन्न संदर्भों में

भिन्न अर्थ समझे जा सकें। व्याकरणिक दृष्टिकोण में व्याकरणिक नियमों के माध्यम से शब्दों की सही रूपरेखा और उनके प्रयोग को समझाया जाता है, जिससे वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण और सही अर्थ ग्रहण करने में सहायता मिलती है। निर्वचन सिद्धांत में विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से शब्दों की व्याख्या की जाती है, जिससे पाठकों को जटिल वैदिक शब्दों को समझने में आसानी होती है।इस प्रकार, निर्वचन सिद्धांत न केवल वैदिक शब्दों के सही अर्थ को उजागर करता है, बल्कि वेदों के गूढ़ ज्ञान को सरल और सुलभ बनाता है। यह अध्ययनकर्ता को वेदों की मूल भावना और उनके उच्चतम उद्देश्य तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इसके अतिरिक्त इससे हमें वर्ज्य तथा ग्राह्य-शिष्यों के बारे में भी ज्ञान होता है और निर्वचन सिद्धान्त के द्वारा कठिन वैदिक शब्दों के मूलभूत अर्थ को भी जान लेते हैं।

7.7 कठिन शब्दावली

त्रायस्व = रक्षा कर

अविस्पष्टार्थाः = अस्पष्ट अर्थ वाले या उल्ट पल्ट अर्थ वाले

अनुपपन्नाः = असंगत अर्थ वाले

साक्षात्कृत = प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त

कुचरः = कुत्सित कर्म करने वाला

अनुपसन्नः = शिष्य भाव से समीप न आने वाला

उपसन्नः = शिष्य भाव से युक्त श्रद्धावान्

पृश्निः = एक प्रकार का सूर्य जो सब को प्रकाश से व्याप्त किए हुए है

संग्रामः = परस्पर युद्ध के लिए दो या अधिक का इकट्ठे होना

7.8 स्वयं आकलन प्रश्नो के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) अवैयाकरणाः , अनुपसन्नाः , अनिंदविदाश्च

2) वैयाकरणाः, उपसन्नाः, मेधाविनः, तपस्विनश्च

अभ्यास प्रश्न 2

1) गौरिति 2) द्वादश 3) पंचदश

4) सूर्यस्य 5) पंचदश 6) चतुर्दश

7.9 सहायक ग्रन्थ:-

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड्, दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

7.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) निरुक्तशास्त्रस्य ज्ञानं कं दातव्यम् ?

2) ग्राह्य-शिष्याणां निरूपणं कुरुत।

3) निर्वचन-सिद्धान्तानां विवेचनं कुरुत।

4) यास्काचार्येण निर्वचनस्य के प्रकारा: प्रतिपादिता: ?

5) किं नाम निर्वचनम्? 'निर्वचनम्' अधिकृत्य स्वविचारान् प्रकटयताम्' ।

6) अधोलिखितेषु चतुर्णां शब्दानां निर्वचनं क्रियताम्-

आचार्यः, .पृथिवी,. हिरण्यम्, .अन्तरिक्षम,. समुद्रः, .नदी, .वृत्रः, अग्निः, तद्धितः, दिशः।

7) अधस्तनेषु केषाञ्चन द्वयोरेव निरुक्तदृष्ट्या व्याख्या करणीयाः-

क) अश्व-नामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत-अश्वः कस्मादश्नुतेऽ ध्वानम्। महाशनो भवतीति वा।

ख)आदित्यः कस्मात् ? - आदत्ते रसान् , आदत्ते भासं ज्योतिषाम् , आदीप्तो भासेति वा , अदितेः पुत्र इति वा।

ग) गौः - गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद्दूरंगता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वोकारो नामकरणः।

¤¤¤¤

इकाई 8
ऋचा के प्रकार

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 ऋचा के प्रकार

8.3.1 परोक्षकृत ऋचाएँ

8.3.2 प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ

8.3.3 आध्यात्मिक ऋचाएँ

- स्वयं आकलन प्रश्न

8.4 सारांश

8.5 कठिन शब्दावली

8.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

8.7 सहायक ग्रन्थ

8.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आचार्य यास्क द्वारा विरचित निरुक्त के सप्तम अध्याय से ऋचाओं.के प्रकार पर चिन्तन किया जाएगा। वस्तुतः वैदिक मन्त्रों का प्रयोग कल्याण हेतु कई तरह से किया जाता है। कुछ मन्त्र दूसरों के लिए , कुछ अपने लिए और कुछ मन्त्र सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं।ऋचाओं के प्रकार विषय पर आधारित यह अध्याय वैदिक मंत्रों की व्यापकता और उनकी महत्ता को स्पष्ट करता है। इसके माध्यम से पाठक न केवल ऋचाओं के विभिन्न प्रकारों को समझ पाएंगे, बल्कि उनके धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व को भी जान सकेंगे। यह अध्ययन वेदों की गहराई और उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सरल और सुलभ रूप में प्रस्तुत करता है। अतः प्रस्तुत पाठ में विविध मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं के विषय में वर्णन किया जाएगा।

8.2 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के माध्यम से आप -

- विविध ऋचाओं या मन्त्रों को जानेंगे।
- ऋचाओं के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करना
- अनेकविध देवस्वरूपों को जानेंगे।
- अग्नि के विविधरूपों या नामों के विषय में समझेंगे।

8.3 ऋचा के प्रकार

प्रथम अध्याय यदि निरुक्त-साहित्य की भूमिका है तो सप्तम अध्याय वैदिक- वाङ्मय के देवता-विज्ञान (Theology) की भूमिका है। दैवतकाण्ड की व्याख्या के पूर्व यास्क देवताओं और मन्त्रों के सम्बन्ध में वहुत सुन्दर और प्रामाणिक ज्ञान देते हैं । वेदों में देवताओं की स्तुति ही प्रधान विषय है। महर्षि यास्क ने निरुक्त के

सप्तम अध्याय में देवताओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें उन देवतावाचक शब्दों का संकलन किया गया है जिनकी स्तुति मंत्रों या सुक्तों में प्रधान रूप से की गई है। इस पकार ऋषि जिस विषय की कामना और उसके स्वामित्व की इच्छा करता हुआ जिस देवता की स्तुति करता है, वह मंत्र उस देवता का होता है- **"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् प्रयुङ्क्ते, तद्देवतः स मन्त्रो भवति।"**

प्रत्येक मंत्र में उसका ऋषि किसी न किसी पदार्थ का वर्णन करता है। इस स्तुति के मूलभाव के रूप में ऋषि की कोई न कोई कामनापूर्ति की इच्छा निहित होती है। वह यह कामना करता है कि मैं इस वस्तु का स्वामी हो जाऊं और फलतः वह वस्तु को देने वाली शक्ति की स्तुति करता है। यह स्तूयमान शक्ति ही देवता है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के स्वामित्व को प्राप्त करने की कामना से उस वस्तु को देने में समर्थ जिस शक्ति की स्तुति जिस मंत्र में की जाती है, वह मंत्र उस देवता से ही संबंधित होता है।

यास्क ने मंत्रों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मंत्र तीन प्रकार के होते हैं। वैदिक ऋचाओं का त्रैविध्य स्तवनार्थक वेदमन्त्रों की संज्ञा ऋक् अथवा ऋचा है-**'ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋक्**। ऋचाओं को यास्क तीन प्रकार की बतलाते हैं-परोक्षकृत् ऋचाएँ, प्रत्यक्षकृत् ऋचाएँ और आध्यात्मिक ऋचाएँ। ऋचाओं का यह विभाग व्याकरणशास्त्रीय निमित्तों के आधार पर किया गया है

इन ऋचाओं में परोक्षकृत ऋचाएँ एक प्रधान आख्यात अर्थात् क्रियावाची शब्द से युक्त, प्रथम पुरुषान्त, कारक की प्रथमा आदि सभी विभक्तियों में स्थित नाम पदों से समन्वित होती हैं। इनमें देवता का परोक्षतः स्तवन या कथन रहा करता है।

प्रत्येक मन्त्र का कोई-न-कोई देवता होता है। जब किसी मन्त्र में कई देवताओं के नाम आयें तो उसमें जिसको प्रधानता हो उसे ही मन्त्र-देवता मानते हैं।ऋग्वेद की सारी ऋचाओं को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं-

(१) परोक्षकृत

(२) प्रत्यक्षकृत

(३) आध्यात्मिक

(१) परोक्षकृत ऋचायें वे हैं जिनमें अन्य पुरुष का प्रयोग हो,

(२) प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में मध्यमपुरुष का तथा

(३) आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है, अर्थात् देवता स्वयं बोलते हैं। ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है और पुरुषवाचक सर्वनाम (Personal Pronoun) तथा देवता की स्थिति के आधार पर किया गया है।

ऋचाओं में वर्णित विषयों (Subject-matter) के सम्वन्ध में यास्क ने एक लम्बी सूची दी है स्तुति, कामना, शपथ और अभिशाप, अवस्था-विशेष, निन्दा और प्रशंसा आदि का वर्णन ऋचाओं के विषय हैं। सायण ने भी अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में मन्त्रों के लक्षण करते समय उनके पदार्थों की गणना कराई है, जैसे- अनुष्ठान का स्मरण करानेवाले, स्तुतिवाले, अन्त में 'त्वा' वाले (त्वान्ताः); आमन्त्रण युक्त, प्रेरक विचार करनेवाले, परिदेवना (शिकायत) करनेवाले, प्रश्नार्थक, उत्तरवाचक आदि। इन पदार्थों का अन्त नहीं, इसलिए वे कहते हैं-

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।

लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ।॥

अर्थात् यदि पदार्थों का अलग-अलग वर्णन किया जाय तो अन्त हो ही नहीं सकता; बुद्धिमानों को चाहिये कि लक्षण से ही इनका बोध करें।

ऋचा के प्रकार के विषय में निरुक्तकार कहता है कि -

अथातौ दैवतम् । तत् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां' देवतानां तत् दैवतमिति आचक्षते । सा एषा देवतोपपरीक्षा । यत्कामः ऋषिः यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते, तद्देवतः स मन्त्रो भवति । ताः त्रिविधाः ऋचः परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्या त्मिक्यः च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिः नामविभक्तिभिः युज्यन्ते, प्रथमपुरुषैश्च आख्यातस्य ॥ १ ॥

अब दैवत-काण्ड [आरम्भ होता है। जिन नामों में मुख्यरूप से देवताओं का स्वरूप-वर्णन है [उनका संग्रह] 'दैवत' कहलाता है। आगे (इस काण्ड में) देवताओं की पूरी परीक्षा (वर्णन) है। [किसी मन्त्र में] कोई कामना लेकर, कोई ऋषि, जिस देवता का प्रधान अर्थ चाहता हुआ, स्तुति करता है-उसी देवता का वह मन्त्र होता है। तो, ये ऋचायें (मन्त्र) तीन तरह की हैं- परोक्षतः कही गई, प्रत्यक्षतः कही गई और स्वयं कही गई। (१) परोक्षतः कही गई ऋचायें नाम की सभी विभक्तियों में तथा क्रिया के प्रथम (= अन्य) पुरुष में रहती हैं जैसे - ।। १ ॥

निघण्टु तथा निरुक्त के इस अंश को दैवतकाण्ड कहते हैं। इस खण्ड में उन नामों को पढ़ा गया है जो यद्यपि दूसरे अर्थों में भी होते हैं तथापि मुख्य रूप से वे देवताओं का स्वरूप बतलाते हैं अर्थात् उन नामों का उच्चा- रण करके देवताओं की स्तुति की जाती है।

देवताओं की स्तुति चार प्रकार की होती है (दुर्गाचार्य)- (१) उनके नाम से, (२) सम्बन्धियों के द्वारा (३) कार्यों का उल्लेख करके तथा (४) उनके रूप का वर्णन करके (स्तुतिर्नामरूप- कर्मबन्धुभिः) । इनमें किसी भी रूप में जिस देवता की चर्चा या स्तुति किसी मन्त्र में पायी जाय उसी का वह मंन्त्र भी होता है। प्रत्येक मन्त्र का देवता तथा ऋषि तो होना ही चाहिए ।

8.3.1 परोक्षकृत ऋचाएँ

इनमें सम्पूर्ण नाम विभक्तियों तथा तिङन्त के प्रथम पुरुष से युक्त होते हैं अर्थात् इन ऋचाओं में नाम सम्पूर्ण विभक्तियों में तथा तिङन्त के अन्तर्गत प्रथम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया जाता है

'इन्द्रो दिवः इन्द्र ईशे पृथिव्याः' । 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' 'इन्द्रे- णते तृत्सवो वेविषाणाः' । 'इन्द्राय साम गायत'। 'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किंचन' । 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' । 'इन्द्रे कामा अयंसत' इति ।।

'इन्द्र स्वर्ग और पृथ्वी पर शासन करते हैं' (ऋ० १०/८९।१०) । 'गायक गण इन्द्र की उच्च स्वर से (ऋ० १।७११) । 'इन्द्र के साथ ये कर्मठ तृत्सु- गण (ऋ० ७।१८।१५) । 'इन्द्र के लिए साम गाओ' (ऋ० ८१९८८१) । 'इन्द्र के बिना कोई ज्योति-स्थान पवित्र नहीं (ऋ० ९।६९/६) 'मैं अब इन्द्र के वीरकर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१) । 'इन्द्र में कामनायें स्थिर हैं' 11

विशेष- इन उद्धरणों में प्रथमा, द्वितीया आदि में उदाहरण दिखाकर परोक्ष में कही गई ऋचाओं का स्पष्टीकरण हुआ है ।।

इसमें कुछ एक उदाहरण प्रस्तुत हैं जैसे -

"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या:।" अर्थात् इन्द्र द्युलोक और पृथिवीलोक का स्वामी है। यहाँ पर इन्द्र में प्रथमा विभक्ति है तथा ईशे यह प्रथम पुरुष है। अतः यह परोक्षकृत ऋचा या मन्त्र है।

"इन्द्राय साम गायत" अर्थात् यहाँ कहा गया है कि हे! सामगायन करने वालो आप इन्द्र के लिए गान करो। यहाँ पर इन्द्र नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है।

" इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् " अर्थात् यहाँ पर इन्द्र के वीर कार्यों का वर्णन करता है। इस उदाहरण में इन्द्र के साथ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ पर ये परोक्षकृत ऋचा है।

यास्क ने प्रथमा से लेकर सप्तमी विभक्ति तक के इन्द्रपद-विशेष्य वाली ऋचाओं का आंशिक उल्लेख किया है।

उदाहरण-

प्रथमा विभक्ति- इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः।
द्वितीया विभक्ति इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्।
तृतीया विभक्ति - इन्द्रेणैते तत्सवो वेविषाणाः।
चतुर्थी विभक्ति - इन्द्राय साम गायत।
पंचमी विभक्ति नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन।
षष्ठी विभक्ति इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्।
सप्तमी विभक्ति इन्द्रे कामा अवंसत ।

8.3.2 प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ

अथ प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषयोगाः । त्वमिति च एतेन सर्वनाम्ना 'त्वमिन्द्र बलादधि' । 'वि न इन्द्र मृधो जहि' इति । अथापि प्रत्यक्ष- कृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । 'मा चिद- न्यद्वि शंसत' । 'कण्वा अभि प्र गायत' ।

'उप प्रेत कुशिकाश्चेत- यध्वम्' इति ।

(२) प्रत्यक्षतः कही गई ऋचाएँ मध्यमपुरुष में होती हैं 'तुम' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे- 'हे इन्द्र, तुम बल से उत्पन्न (ऋ० १०/१५३।२), 'है इन्द्र, हमारे शत्रुओं को मारो' (ऋ० १०/१५२।४) ।

कहीं-कहीं स्तुति करनेवाले प्रत्यक्षतः कहे जाते हैं और स्तोतव्य वस्तुएँ परोक्षतः कही जाती हैं जैसे- 'दूसरों की स्तुति मत करो' (ऋ० ८/१११); 'हे कण्ववंश- वाले, गाओ' (ऋ० १।३७७१); 'हे कुशिको, पहुँचो, सावधान रहो' (ऋ० ३।५३।११) ।।

जैसे -

" त्वमिन्द्र बलादधि " अर्थात् हे इन्द्र ! तू बल से पैदा हुआ है अथवा तू बलस्वरूप है। यहाँ पर त्वम् सर्वनाम है और अगले चरण में मध्यमपुरुष है। अतः ये प्रत्यक्षकृत ऋचा है।

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति । परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि ।

अर्थात् कहीं पर स्तोता प्रत्यक्षकृत होते हैं और स्तुत्य देवता परोक्षकृत होते हैं। जैसे - " कण्वा अभि प्रगायत " अर्थात् हे ऋत्विजो ! तुम बहुत स्तुति करो। तो यहाँ प्रत्यक्ष में स्तोता है और परोक्ष में स्तुति कार्य है। ऐसा भी ऋचाओं में बहुधा वर्णन प्राप्त होते हैं।

8.3.3 आध्यात्मिक् ऋचाएं

अथ आध्यात्मिक्यः उत्तमपुरुषयोगाः, अहमिति च एतेन सर्व- नाम्ना । यथा एतत् - 'इन्द्रो वैकुण्ठः' । लवसूक्तम् । वागाम्भृणीयम् इति ॥ २ ॥

(३) स्वयं कही गई ऋचायें उत्तम-पुरुष में होतो हैं = 'मैं' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे 'इन्द्रो वैकुण्ठः' से आरम्भ होनेवाला सूक्त (ऋ० १००४८)

विशेष - इन सूक्तों में मन्त्र के देवता स्वयं बोलते हैं। उदाहरण के लिए वागाम्भृणीय सूक्त ('वाक्सूक्त' या 'देवीसूक्त') लें- अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि । इस प्रकार यास्क ने ऋचाओं के तीन भेद किये हैं। ये भेद आख्यात के पुरुषों के आधार पर हुए हैं। देवताओं का सम्बोधन या उल्लेख यदि परोक्षतः किया जाय तो स्वभावतः प्रथमपुरुष का प्रयोग होगा जैसे- अमुक देवता ऐसे हैं । चर्चित देवता के नाम ऐसी स्थिति में सभी विभक्तियों में पाये जाते हैं। ऐसी ऋचाओं की संख्या सर्वाधिक है। प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ वे हैं जहाँ देवताओं का साक्षात् सम्बोधन या आम- न्त्रण हो- आप इस प्रकार के हैं इत्यादि । यहाँ मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। यहाँ यास्क स्पष्ट करते हैं कि कभी-कभी यह मध्यम पुरुष देवताओं के लिए न होकर स्तुतिकर्ताओं के लिए होता है- हे ऋत्विग्गण ! आप इन्द्र की स्तुति करें। ऐसी स्थिति में स्तोतव्य देवता परोक्षकृत ही रहते हैं। चूंकि इस विभाजन में पुरुष के साथ-साथ देवताओं को भी आधार-भूत माना गया है, (जिसमें देवता को सम्बोध्यता का प्रमुख स्थान है), अतः ऐसी ऋचाए परोक्षकृत हो हैं। यास्क इस विषय में मौन हैं। दुर्गाचार्य कहते हैं-- **एवंलक्षणं मन्त्रजातमुपेक्षणीयम्** । इसी प्रकार आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग तो होता ही है, देवता स्वयं अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। यदि केवल उत्तम पुरुष का आधार लेकर ऋचाओं को आध्यात्मिक कहें तो 'अग्निमीळे' को भी आध्यात्मिक ही कहना पड़ेगा ।

अतः ऋचाओं के इस वर्गीकरण के मूल में पुरुष के माध्यम से प्रकट होने वाली देवताओं की स्थिति है- देवता निर्दिश्यमान हैं (परोक्षकृत), संबोध्यमान (प्रत्यक्ष- कृत) हैं या भाषणकर्ता हैं (आध्यात्मिक) इसी पर यह वर्गीकरण स्थित है।

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्राः भूयिष्ठाः, अल्पशः आध्या- त्मिकाः । अथापि स्तुतिरेव, नाशीर्वादः 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' इति यथा एतस्मिन् सूक्ते । अथापि आशीरेव, न स्तुतिः-- 'सुचक्षा अहम् अक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति । तदेतत् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

परोक्षतः और प्रत्यक्षतः कही गई ऋचायें बहुत अधिक हैं, स्वयं कही गई ऋचायें बहुत कम हैं।

(१) [किसी ऋचा में देवता की स्तुति ही होती है, कामना [का वर्णन] नहीं जैसे- 'मैं अब इन्द्र के वीर कर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१) इस (मन्त्रवाले) सूक्त में।

(२) कहीं-कहीं कामना ही रहती है, स्तुति नहीं जैसे- 'मैं आँखों से अच्छी तरह देखूँ, मुख से सुन्दर कान्तिवाला बनूँ, कानों से अच्छी तरह सुनूँ' (मानव गृ० १।९।२५) ऐसा अधिकांशतः यजुर्वेद में और याज्ञिकमन्त्रों में होता है ।।

'अथापि शपथाभिशापौ- 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि' । 'अधा स वीरैर्दशभिर्भावयूयाः' इति । अथापि कस्यचिद् भावस्य आचि- ख्यासा- 'न मृत्युरासीदमृतं न र्ताह्' । 'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे' । अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्- 'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्' ।न वि जानामि यदि वेदमस्मि' इति । अथापि निन्दाप्रशंसे-'केवलाघो भवति केवलादी' । 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' इति । एवम् अक्ष- सूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च । एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः भवन्ति ॥ ३ ॥

(३) कहीं-कहीं शपथ लेना और अभिशाप देना भी रहता है- 'यदि मैं मायावी राक्षस हूँ तो आज ही मरू' (ऋ० ७।१०४।१४); नहीं तो उसके दस वीर पुत्र अलग हो जायें मर जायें (ऋ० ७।१०४/१५) ।

(४) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष के वर्णन की इच्छा रहती है- 'उस समय न मृत्यु थी और न अमरता' (ऋ० १०/१२९।२); 'पहले केवल अन्धकार से अन्धकार छिपा हुआ था' (ऋ० १०।१२९।३) ।

(५) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष से ज्ञान उत्पन्न होता है- 'वे सुन्दर देवता आज ऐसा उड़ें कि फिर न लौटें' (ऋ० १०।९५।१४); 'मैं नहीं जानता कि क्या मैं यही हैं (ऋ० १।१३४।३७) ।

(६) कहीं-कहीं निन्दा और प्रशंसा रहती है जैसे- 'अकेला खानेवाला ही एकमात्र पापी है' (ऋ० १०/११७।६); 'खिलानेवाले (दानी) का घर मानों कमलों से भरा सरोवर है' (१००१०७/१०) । इसी प्रकार अक्ष-सूक्त (१०।३४) में द्यूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा हुई है।

इस प्रकार मन्त्र के विषय में ऋषियों की दृष्टि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से रहती है ॥ ३ ॥

अर्थात् जिन ऋचाओं का उत्तमपुरुष के साथ सम्बन्ध होता है। वे आध्यात्मिक्य ऋचाएँ होती है। अर्थात् स्तोता अपने आप को ब्रह्म या परमेश्वर समझता है तो वहाँ पर इन ऋचाओं का प्रयोग करता है। जैसे-

“अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः” यहाँ पर स्तोता अपने आप को अनेकस्वरूपों में स्वीकार करता है इसलिए यहाँ पर उत्तमपुरुष के प्रयोग के कारण आध्यात्मिक्य ऋचा है।

तत् ये अनादिष्टदेवताः मन्त्राः, तेषु देवतोपपरीक्षा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्ग वा, तद्देवताः भवन्ति । अथान्यत्र यज्ञात्-प्राजा- पत्याः इति याज्ञिकाः, नाराशंसाः इति नैरुक्ताः । अपि वा, सा काम-देवता स्यात्, प्रायोदेवता वा । अस्ति हि आचारो बहुलं लोके - देव- देवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम् । याज्ञदैवतो मन्त्र इति । अपि हि, अदेवताः देवतावत् स्तूयन्ते । यथा, अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्य- न्तानि । अथापि अष्टौ द्वन्द्वानि ॥

जिन मन्त्रों में देवता का उल्लेख नहीं, उनके देवता का निर्णय करते हैं। जिन देवता का यज्ञ हो, या यज्ञ का खण्ड भी हो- उन्हीं देवता के वे (मन्त्र) होते हैं। यज्ञ से भिन्न-स्थानों में- याज्ञिकों के अनुसार प्रजापति [मन्त्र के] देवता होते हैं, निरुक्तकारों के अनुसार नराशंस, अथवा ये ऐच्छिक देवता या देवताओं के समूह के [लिए] हों। संसार में सचमुच यह व्यवहार देखने में आता है कि देवता के लिए, अतिथि के लिए और पितरों के लिए पवित्र वस्तु [दी जाती है ।। मन्त्र उस देवता का है जिसके लिए यज्ञ हुआ ।

कुछ लोग पूछते हैं कि] अ-देवता की स्तुति भी देवता के समान क्यों होती है जैसे-घोड़े से लेकर औषधि तक (निघ० ५।३।१-२२) और आठ जोड़े भी ।

प्रायः प्रत्येक मंत्र में, उसके देवता के कोई न कोई चिह्न अवश्य होते हैं। ऐसे मंत्रों यः- को 'आदिष्टदेवताक' कहा जा सकता है। अब तक मंत्रों में देवताज्ञान का जो तरीका बताया गया है, वह ऐसे ही मंत्रों के लिए है। किन्तु बहुत से मंत्र ऐसे भी होते हैं, जिनमें देवता के चिह्न स्पष्ट नहीं होते, इसलिए उनमें देवताओं का ज्ञान सरलता से नहीं हो पाता। ऐसे मंत्र 'अनादिष्टदेवता' कहे गए हैं- 'अनादिष्टा अनिर्दिष्टा देवता येषु ते'। यास्क ने प्रस्तुत अवतरण में ऐसे ही मंत्रों में 'देवता' को जानने के उपाय बतलाए हैं-

(i) इस प्रकार के जिन मंत्रों का प्रयोग किसी यज्ञ या यज्ञ के अङ्गभूत कर्म में होता है, इन्हीं उसके बारे में यह देखना चाहिए कि उस यज्ञ के कर्म का देवता कौन है? जो देवता उसका होगा, वही उसमें प्रयुक्त मंत्रों का भी देवता होगा।

(ii) किन्तु ऐसे जिन मंत्रों का प्रयोग किसी यज्ञ अथवा यज्ञ के कर्म में नहीं होता, उनके इति 'देवता' के संबंध में विभिन्न धारणाएं हैं, जैसे-

(क) याज्ञिकों या मीमांसकों का विचार है कि ऐसे मंत्रों का देवता प्रजापति होता है, क्योंकि जिस प्रकार इस प्रकार के मंत्रों के विनियोग का पता नहीं होता, उसी प्रकार प्रजापति किन कर्मों का अधिष्ठाता है, इसका ज्ञान नहीं होता। यही दोनों में समानता है।

(ख) नैरुक्तों का कथन है कि ऐसे मंत्रों का देवता 'नराशंस' है या ये मंत्र 'नाराशंस' हैं। यहां 'नाराशंस' या 'नराशंस' के अर्थ के संबंध में अनेक विचार हैं। कुछ आचार्यों के विचार में 'यज्ञ' ही 'नराशंस' है और स्वयं 'यज्ञ भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में विष्णु, सूर्य और क्रतु आदिका वाचक है। आचार्य शाकपूणि का मत है कि 'नराशंस' का अर्थ अग्नि है, इसलिए अग्नि ही इनका देवता है, इत्यादि ।

(ग) कतिपय आचार्यों का विचार है कि ऐसे मंत्रों में अपनी इच्छानुसार कोई भी देवता मान लेना चाहिए।

(घ) कुछ लोगों का विचार है कि ऐसे मंत्रों का देवता कोई एक न होकर देवताओं का समूह होता है। 'प्रायोदेवता' शब्द में 'प्रयास्' का अर्थ समूह है। यह ठीक वैसे ही है-जैसे घर की किसी वस्तु के देवता देव, अतिथि और पितृगण सभी होते हैं।

(ङ) कुछ अन्य लोगों के विचार में ऐसे मंत्रों का देवता स्वयं यज्ञ होता है- 'यज्ञ एव याज्ञः दैवतं यस्य सः' ।

स न मन्येत आगन्तून् इव अर्थान् देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यम् एतद् भवति । माहाभाग्यात् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपि च सत्त्वानां प्रकृति- भूमभिः ऋषयः स्तुवन्ति इत्याहुः । प्रकृतिसार्वनाम्याच्च इतरेतर- जन्मानः भवन्ति । इतरेतरप्रकृतयः, कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः । आत्मा एव एषां रथः भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधम्,

आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।। ४ ।।

कोई देवता-विषयक अर्थ को आगन्तुक (अनित्य) न मान ले, यह तो प्रत्यक्ष रूप से देखने की चीज है-देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति (वर्णन) भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न अंग हैं। अथवा, जैसा लोग कहते हैं- वस्तुओं (नामों) की प्रकृति (धातु) की विभिन्नता के कारण और उसकी सर्वव्यापकता के कारण ऋषि-गण स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से जन्म पाते हैं (जैसे- दक्ष अदिति दक्ष), वे एक दूसरे की प्रकृति (उत्पत्तिस्थान) हैं। उनका जन्म कर्म से भी और आत्मा से भी होता है; आत्मा ही इनका रथ है, आत्मा शस्त्र है, आत्मा बाण है- आत्मा ही देवताओं का सब कुछ है ।। ४ ।।

विशेष- इन पंक्तियों में यास्क अद्वैतवाद का संकेत करते हैं। पूर्वपक्षी ने प्रश्न किया है कि अदेवताओं का वर्णन देवरूप में क्यों होता है? क्या औषधि, वृक्ष, घोड़े इत्यादि देवता हैं ? यास्क उत्तर देते हैं कि ये तथाकथित अदेवता उस एक ही आत्मा (या ब्रह्म-तत्त्व) के विभिन्न रूप हैं। देवता और मनुष्य में ऐश्वर्य-अनेश्वर्य का महान् अन्तर है। मनुष्यों के साथ ये औवष्यादि पदार्थ आगन्तुक रूप से सम्बद्ध हैं, उन्हें इनको पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है अर्थात् मानव-सम्बद्ध पदार्थ अनित्य हैं। इसके विपरीत देवताओं से जो पदार्थ सम्बद्ध होते हैं वे नित्य हैं, आग- न्तुक नहीं । देवताओं के कर्म, रथादि वाहन, मुखादि अंग - सब नित्यतया सम्बद्ध हैं। आत्मा ही के रूप में ये सभी हैं। देवताओं का यह ऐश्वर्य है जिसे मनुष्य समझ ही नहीं सकता, पाना तो दूर रहे।इस प्रकार आचार्य यास्क के अनुसार वेद में परोक्षकृत , प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक्य इन तीन प्रकार की ऋचाओं का प्रयोग मिलता है। यास्क ने ऐसे मंत्रों में देवताओं को ज्ञात करने के अनेक उपाय बताए हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) जिन मंत्रों का प्रयोग किसी यज्ञ या यज्ञ के अंगभूत कर्म में होता है, उनके विषय में यह जानना चाहिए कि उस यज्ञ के कर्म का देवता कौन है? जो उसका देवता होगा, वही उसमें प्रयुक्त मंत्रों का भी देवता होगा।

(2) जिन मंत्रों का प्रयोग यज्ञादि कर्मों में नहीं होता, उनके 'देवता' ज्ञात करने के विषय में अनेक दृष्टान्त दिए गए हैं:

(i) मीमांसकों के अनुसार ऐसे मंत्रों का देवता प्रजापति होता है, क्योंकि जैसे इस प्रकार के मंत्रों का विनियोग पता नहीं होता, उसी प्रकार प्रजापति किन कर्मों का अधिष्ठाता है, इसका ज्ञान नहीं होता अथान्यत्र यज्ञात् 'प्राजापत्या' इति याज्ञिकाः ।

(ii) नैरुक्तों का विचार है कि ऐसे मंत्रों का देवता नराशंस हैं। या ये मंत्र नाराशंस हैं- 'नाराशंसा इति नैरुक्ताः"

(iii) कुछ विद्वानों का मानना है कि ऐसे मंत्रों में अपनी इच्छानुसार कोई भी देवता मान लेना चाहिए।

(iv) कुछ आचायों का कथन है कि ऐसे मंत्रों का देवता कोई एक न होकर देवताओं का समूह होता है।

(v) कुछ लोगों का मानना है कि ऐसे मंत्रों का देवता स्वयं यज्ञ होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यज्ञ की उन क्रियाओं को करते हुए जिन देवताओं का नामोच्चारण किया जा रहा है, यदि उन मंत्रों में उस समय होने

वाली क्रियाओं का उल्लेख हो तो यज्ञ की वे क्रियाएं, या के वे अंग अथवा दूसरे शब्दों में स्वयं यज्ञ सार्थक माना जाएगा उससे अभीष्ट की प्राप्ति हो सकेगी। इसके विपरीत यदि किसी यज्ञ में उन देवताओं से संबंधित मंत्रों में उन क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता तो उस यज्ञ को अधूरा मानना पड़ेगा तथा ऐसे यज्ञ से किसी वांछित फल की आशा नहीं की जा सकती। (जो पदार्थ) देवता नहीं है उनकी भी (वेदमंत्रों में) देवता के समान स्तुति की गई है, जैसे अश्व से लेकर औषधि तक के (शब्दों से सूचित पदार्थ) और आठ जोड़े। उसे देवताओं के (इन) पदार्थों को (सांसारिक पदार्थों के समान) आगन्तुक नश्वर नहीं मानना चाहिए (क्योंकि) यह प्रत्यक्ष रूप से देखने योग्य है। महान् ऐश्वर्यशाली होने के कारण एक ही आत्मा की अनेक रूपों में स्तुति होती है। एक ही आत्मा के अन्य देवता प्रत्यङ्ग होते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थों के कारणों की अनेकता से ऋषि लोग (उनकी) स्तुति करते हैं; ऐसा (आचार्य लोग) कहते हैं। प्रकृति अर्थात् कारणतत्त्व के ही सर्वनाम अर्थात् समस्त नामरूपात्मक जगत के रूप में होने के कारण (भी सब देवता है)। (देवता) एक-दूसरे से जन्म लेने वाले तथा एक-दूसरे की प्रकृति रूप होते हैं। कर्म के लिए उत्पन्न होने वाले (होते हैं)। आत्मा से जन्म लेने वाले होते हैं। आत्मा ही इनका रथ है। आत्मा अश्व है। आत्मा आयुध है। आत्मा बाण है। आत्मा देवता का सब कुछ है

- **स्वयं आकलन प्रश्न**
  1) कतिधा ऋचः ?
  2) प्रत्यक्षकृताः ऋचः कस्मिन्पुरुषे भवन्ति ?
  3) उत्तमपुरुषेण युक्ताः काः ऋचः भवन्ति ?

8.4 सारांश

इस अध्याय में निरुक्त के संदर्भ में ऋचाओं के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ऋचा, जो कि वैदिक साहित्य का मूलभूत हिस्सा है, विभिन्न प्रकारों में विभाजित होती है, जिनमें १) परोक्षकृत(२) प्रत्यक्षकृत(३) आध्यात्मिक शामिल हैं। इन प्रकारों के माध्यम से, वेदों की व्यापकता को समझा जा सकता है, जो प्राचीन भारतीय ज्ञान और संस्कृति की धरोहर है।

8.5 कठिन शब्दावली

प्रत्यक्षकृताः = प्रत्यक्षरूप में अर्थ को बतलाने वाले मन्त्र

परोक्षकृताः = परोक्षरूप में अर्थ प्रकट करने वाले मन्त्र

आध्यात्मिक्यः = आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अर्थ को प्रकाशित करने वाले मन्त्र

8.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

1) त्रिविधाः
2) मध्यमपुरुषे
3) आध्यात्मिक्यः

8.7 सहायक ग्रन्थ

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री): चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

8.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) प्रत्यक्षकृत-ऋचां विस्तृत विवेचनं कुरुत।

2) ताः त्रिविधाः ऋचः परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्या त्मिक्यः च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिः नामविभक्तिभिः युज्यन्ते, प्रथमपुरुषैश्च आख्यातस्य "निरुक्तदृष्ट्या व्याख्या करणीया।

3) का नाम ऋक् किं च तस्या लक्षणम् कतिधा च ताः यास्केन प्रतिपादिताः।

4) निरुक्तदृष्ट्या व्याख्या करणीयाः-

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्राः भूयिष्ठाः, अल्पशः आध्या- त्मिकाः । अथापि स्तुतिरेव, नाशीर्वादः 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' इति यथा एतस्मिन् सूक्ते । अथापि आशीरेव, न स्तुतिः-- 'सुचक्षा अहम् अक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति । तदेतत् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

¤¤¤¤

इकाई 9
देवता के प्रकार

संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 देवता के प्रकार

- 9.3.1 पृथिवीस्थानीय देवता
- 9.3.2 अन्तरिक्षस्थानीय देवता
- 9.3.3 द्युस्थानीय देवता

- स्वयं आकलन प्रश्न

9.4 देवों का आकार चिन्तन

- स्वयं आकलन प्रश्न

9.5 सारांश

9.6 कठिन शब्दावली

9.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

9.8 सहायक ग्रन्थ

9.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में निरुक्त के सप्तम अध्याय से प्रतिपादित देवताओं का स्थानक्रमानुसार वर्गीकरण एवं सामान्य परिचय का वर्णन किया जा रहा है। यास्क ने निरुक्त में 'दैवत काण्ड' के अन्तर्गत सप्तम अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय पर्यन्त वैदिक देवताओं का निरुपण किया है। ऋग्वेदके तीन विभागों का अनुसरण करके यास्क ने विभिन्न देवताओं को एक ही देवता के विभिन्न रूपों को, जिनकी गणना निघण्टु के पञ्चम काण्ड में है, उनको पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान या मध्यमस्थान और द्युस्थानइन तीन वर्गों में बांटा है। साथ ही वे इतना और जोड़ देते हैं कि उनके पूर्ववर्ती नैरुक्तों के अनुसार देवता केवल तीन हैं-पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु अथवा इन्द्र, और द्युलोक में सूर्य है।। ये सभी देवता अपने अपने स्थान से समस्त प्राणी जगत् का उद्धार करते हैं। इन सभी देवी-देवताओं को संसार में अनेक नामों से जाना जाता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप -

- विविध ऋचाओं या मन्त्रों को जानेंगे।
- देवताओं के स्थान के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- अनेकविध देवस्वरूपों को जानेंगे।
- अग्नि के विविधरूपों या नामों के विषय में समझेंगे।

9.3 देवता के प्रकार

निरुक्त का सप्तम अध्याय वैदिक वाङ्मय के देवता-विज्ञान की भूमिका है। दैवतकाण्ड की व्याख्या के पूर्व यास्क देवताओं और मंत्रों के सम्बन्ध में बहुत ही प्रमाणिक ज्ञान देते हैं।

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा"।

निरुक्तशास्त्र में आचार्य यास्क देवता के प्रकार के विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि - यास्क ने देवताओं के तीन भाग किये हैं-पृथ्वी के देवता अग्नि, अन्तरिक्ष के वायु या इन्द्र, स्वर्ग के सूर्य। यह विभाजन ऋग्वेद के एक मंत्र' पर आधारित है। इस प्रकार ये तीन ही प्रधान देवता है यास्क का यह अभिप्राय नहीं कि और सभी देवता इन तीनों के ही विभिन्न रूप है किन्तु एक स्थान में रहने वाले सभी देवताओं के रूप में साम्य रहता है।

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।

अर्थात् निरुक्तकार के अनुसार तीन ही प्रकार के देवता हैं:-

1) पृथिवीस्थानः 2) अन्तरिक्षस्थानः 3) द्युस्थानः

(1) **पृथ्वि स्थानीय देवता-** अग्नि, सोम, बृहस्पति, प्रजापति, विश्वकर्मा अदिति-दिति, देवियां, नदियां।

(2) **अन्तरिक्ष स्थानीय देवता-** इन्द्र, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य, वात, मातरिश्वा, आप, अपानपात्, त्रित आस्य, अहिर्बुध्य, वायु।

(3) **द्युस्थानीय देवता-** आदित्य, (ऋताधिपति) सविता, सूर्य, पुषा, पूषन, मित्र, वरुण, उषस्, अर्यमा, अश्विनौ, द्यौ, विष्णु विवस्वत् "

इन तीन प्रकार के देवताओं का विस्तृत विवेचन इस तरह से है –

परमैश्वर्यशाली होने के कारण ही ये देवता विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं: **तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपित बहूनि नामधेयानि भवन्ति ।**

यह मत त्रित्ववाद पर आधारित है। यहां पर एक शंका यह उठती है कि अंतरिक्ष के दो देवता बताए गए हैं और पृथ्वी तथा द्युलोक के एक-एक देवता बताए गए हैं जो कुल मिलाकर चार हो जाते हैं। जबकि नैरुक्त कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। इसका समाधान करते हुए नैरुक्त कहते हैं कि वायु तथा इन्द्र ये दोनों देवता वास्तव में दो नहीं हैं। एक देवता के भिन्न-भिन्न दो रूप हैं। अलग-अलग अवस्थाओं के नाम ही वायु तथा इन्द्र हैं। जिसे इन्द्र कहा जाता है वह वर्षा कराने वाली वायु ही है। वह वृहद् वायु का ही एक अंश है। वेदों में इन्द्र का उल्लेख अधिक है, इसलिए वायु के साथ-साथ उसका उल्लेख भी कर दिया गया है।

इस त्रित्व मत को प्रस्तुत करने के बाद देवताओं की संख्या के विषय में एक अन्य मत भी दृष्टिगोचर होता है जिसे एकत्ववाद के नाम से जाना जाता है। इसके आधार पर कहा गया है कि कार्यभेद से देवता विभिन्न नामों से जाने जाते हैं जैसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता। कर्म की पृथकता के कारण एक ही व्यक्ति के ये भिन्न-भिन्न नाम हैं-अपि वा कर्मपृथक्त्वात् यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जिस व्यक्ति का जो कार्य होता है, उस कार्य के आधार पर ही उस व्यक्ति का नाम निश्चित किया जाता है। जैसे-सामान्य संचरणशील वायु के रूप में वह 'वायु' कहलाएगा किन्तु वर्षा कराने वाली वायु के रूप में 'इन्द्र' कहलाएगा।

इन दोनों मतों का खंडन करते हुए याज्ञिक बहुत्ववाद को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक ही देवता के पृथक् पृथक् नाम नहीं होते अपितु पृथक् पृथक् कार्यों से सम्बद्ध देवता भी पृथक् पृथक् ही हैं-अपि

वा पृथगेव स्युः पृथग्धि स्तुतयो भवन्ति । तथाभिधानानि। इस प्रकार देवताओं की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक है और सभी देवताओं की स्तुति अलग-अलग की गई है। नैरुक्तों के मतानुसार कई कर्म करने के कारण एक ही व्यक्ति के कई नाम हो सकते हैं। इसका खंडन करते हुए याज्ञिकों ने दो तर्क दिए हैं- (1) सभी देवताओं की स्तुतियां अलग-अलग की गई हैं जिनकी संख्या बहुत अधिक है। यदि देवता तीन ही होते तो इतने अधिक नामों से कीगई स्तुतियों की क्या आवश्यकता थी? (2) उनके नाम भी बहुत अधिक हैं, इससे देवताओं के बहुत्व की सूचना मिलती है। यदि देवता तीन ही होते तो इतने अधिक नाम न होते। लोक व्यवहार ते भी सिद्ध है कि बहुत से मनुष्य कार्यों को बांटकर करते हैं परन्तु उनके नाम वही रहते हैं, कार्य के अनुसार बदलते नहीं हैं-यथो एतत् कर्मपृथक्त्वात् इति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

निरुक्तकार यास्क ने एकत्व, त्रित्व, बहुत्ववाद की समानार्थता सिद्ध करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि सभी देवताओं के समान स्थान तथा समान भोग से एकता समझनी चाहिए अर्थात् एक स्थान पर निवास करने वाले तथा एक ही वस्तु का उपयोग करने वाले व्यक्तियों में जिस प्रकार केवल निवास करने और उपभोग को लेकर ही एकता होती है और शेष बातों में वे अलग होते हैं। जैसे मनुष्य पशु इत्यादि सभी भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्थान की दृष्टि से समान होते हैं-**तत्र संस्थानैकत्वं, संभोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्** । यथा

पृथिव्या पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य ।

जिस प्रकार नरों के एकताबद्ध समूह को ही राष्ट्र कहा जाता है और इस रूप में वह एक है किन्तु जब उसका नरों के रूप में विभाजन कर दिया जाता है तो वही अनेक रूपों वाला हो जाता है। इसी प्रकार सभी देवता एक हैं। उसी परमात्म देव की भिन्न-भिन्न विभूतियों को लेकर भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की गई है।

9.3.1 **पृथिवीस्थानीय देवता**

जिन देवताओं का सम्बन्ध पृथिवी से है अथवा जो देवता पृथिवी विचरण करते हैं, वे पृथिवीस्थान देवता हैं। जैसे - अग्नि। अग्निदेवता का सम्बन्ध मुख्यरूप से पृथिवी के साथ होने से अग्नि पृथिवीस्थानीय है। वैसे तो देवता सकल ब्रह्माण्ड में विचरण करते रहते हैं। परन्तु जब वे देवता अपने मुख्य स्थान पर होते हैं तो सदैव कल्याणकारी होते हैं।

इसलिए अग्निदेवता पृथिवी पर विराजमान् रहते हुए सबका कल्याण करते हैं।

अग्नि -

पृथिवीस्थानीय देवताओं में प्रमुख देवता अग्नि ही है। अतः इससे सम्बन्धित 'अग्नि सूक्तम्' आता है, जो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में है। इस सूक्त के ऋषि मधुछन्दा, देवता अग्नि एवं छन्द गायत्री है। 'अग्नि सूक्तम्' में अग्नि देवता की नौ (9) मन्त्रों में स्तुति की गई है, जिसका स्तुतिपरक उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है -

यज्ञ के पुरोहित, प्रकाशयुक्त, देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाले ऋत्विक् और रत्नों के सर्वाधिक दाता मैं अग्नि देवता की स्तुति करता हूँ-

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।।'

पूषा-

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

(अनष्टपणु:) जिसके पशु नष्ट नहीं होते, (भुवनस्य गोपाः) पृथ्वी का जो पालक है, (विद्वान्) वह ज्ञानी (पूषा) पूषा नामक देवता (त्वा)है ।

पूषा तुम्हें यहाँ से च्युत करे, वह ज्ञानी है, उसके पशु नष्ट नहीं हुए हैं, वह संसार का रक्षक है। वह आदित्य ही सभी जीवों का पालक है।

सोम -

ऋग्वेद का नवम् मण्डल मुख्यतः सोम देवता को समर्पित है। इस मण्डल में सोम की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसकी विशेषता तथा उसकी महिमा का वर्णन किया गया है। आधुनिक युग में सोम की विभिन्न व्याख्यायें तथा अर्थ किये गये हैं। नवम् मण्डल में सोम की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्यायें अलग-अलग स्थानों पर दी गई है। अतः आधिभौतिक स्वरूप में सोम एक औषधि विशेष का नाम था। इसका रस यज्ञ में देवताओं को दिया जाता था। सोम रस देवताओं को प्रिय थी, किन्तु इन्द्र को सर्वाधिक प्रिय था। सोम का रंग भूरा तथा प्रभाव हर्षक कहा गया है

नदियाँ -

नदियों का निर्वचन करते हुए यास्क ने कहा है कि यह शब्द वाली होती है अतः नदी कहलाती है।' यह णद अव्यक्ते शब्दे से बनती है, इसलिए शब्द करती रहती है।

पृथ्वी

पृथिवीस्थानीय देवताओं के अन्तर्गत पृथ्वी नामक देवता का भी उल्लेख किया गया है। पृथ्वी देवता का वर्णन अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त के "पृथ्वीसूक्त" में वर्णित पृथिवीस्थानीय देवताओं का स्तुतिपरक उद्धरण गया है। पृथ्वी अथवा भूमिसूक्त के द्रष्टा ऋषि अथर्वा हैं एवं देवता पृथ्वी हैं। इस सूक्त के कुल 63 मन्त्रों में पृथ्वी देवता के विषय में वर्णन तथा इनसे सम्बद्ध स्तुतिपरक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इन मन्त्रों में मातृभूमि के प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय ऋषि ने दिया है। हमारी इस पृथ्वी का भी एक चिन्मय स्वरूप है। यही इस स्थूल पृथ्वी का अधिदेवता है।

9.3.2 अन्तरिक्षस्थानीय देवता

जो देवता अन्तरिक्ष में रहते हुए सब प्राणी जगत् का कल्याण करते हैं , वे अन्तरिक्षस्थानीय हैं। जैसे वायु और इन्द्र। वायु तथा इन्द्र ये देवता भी किसी न किसी तरह से सकल प्राणीजगत् का उद्धार करते हैं।

वायु देवता-

निरुक्त में अन्तरिक्षस्थ देवताओं में 'वायु' देवता का निरुपण प्रथम स्थान पर किया गया है। यथा- "तासां वायुः प्रथमागामी भवती"।' इसकी व्याख्या में यास्क ने कहा है कि मध्यम का वर्षकर्म उपलक्षण होने के कारण वायु का ही वर्षकर्म में विशिष्ट अधिकार होने से इन्द्र की देवों प्रधानता होने के उपरान्त भी वायु की ही प्रथम व्याख्या की जा रही है। वायु के लिये ऋग्वेद में एक स्वतन्त्र पूर्ण सूक्त तथा अंशतः अनेकों सूक्त प्राप्त होते हैं। लगभग छः सूक्तों में वायु की इन्द्र के साथ स्तुति की गयी है। वायु शब्द गत्यर्थक "वा' गति गन्धनयोः से या गत्यर्थक 'वी' धातु से बनता है। स्थौलाष्ठीव आचार्य कहते हैं कि 'इण्' गतौ से आयुः बनता है और आयु ही वायु है।

रुद्र देवता-

आचार्य यास्क के द्वारा मध्यमस्थानीय या अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में 'रुद्र' देवता का निरुपण तीसरे क्रम पर किया गया है। निरुक्त में रुद्र की व्युत्पत्ति निम्न रूप में प्राप्त होती है- **" रुद्रो रौतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा, 'यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति काठकम् 'यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' बति हरिद्राविकम्"।"** ऋग्वेद मे कहा गया है कि मेघ गर्जन के कारण वायु का नाम रुद्र पड़ा क्योंकि वह शब्द करता है रु' शब्द से 'रक् प्रत्यय और तुगागम' या बहुत शब्द करता हुआ वह वायु गति करता है इसलिए रुद्र हो गया।

इन्द्र देवता-

निरुक्त में वैदिक देवताओं में प्रधान इन्द्र का अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं के क्रम में चतुर्थ स्थान पर निरुपण किया गया है। ऋग्वेद में २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति की गयी है, सभी देवताओं से बहुत अधिक है। इन्द्र की निरुक्ति करते हुए यास्क कहते हैं- **"इन्द्रं इरां इणातिति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा । इरां दारयत इति वा। इरां धारयत इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा।** अर्थात् इरा अन्न को कहते हैं। उस अन्न का कारण है जल और जल का आधार है मेघ, उस मेघ से जो जल बरसाता है, वह इन्द्र है। या अन्न के बीज का जो आद्र अंकुर है उसे जो वर्षा से फोड़ता है वह इन्द्र है। इस प्रकार इरादारः सन् इन्द्रः-इरा। दार इन्द्र कहलाया। या इरा-अन्न को जो देता है। ये इन्द्र के विभाग हैं- अन्तरिक्षलोक, दोपहर का (माध्यन्दिन) सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पन्द्रह बार का स्तोम, बृहत् नाम का साम, मध्य स्थान में गिनाये गये देवगण (निघ० ५।४) और स्त्रियाँ। इनके काम हैं- रस दान करना और वृत्र को मारना। जो कुछ बल का काम है वह इन्द्र का ही काम है। इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं-- अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु । पुनः, मित्र की स्तुति वरुण के साथ होती है, सोम की पूषा और रुद्र के साथ, पूषा की अग्नि के साथ और पर्जन्य की वात के साथ ।

पर्जन्य देवता-

अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में 'पर्जन्य' का निरुपण आचार्य यास्क ने पांचवे क्रम पर किया है। यास्क ने पर्जन्य को "पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः" कहा है, अर्थात् पर्जन्य शब्द 'तृप्' तृप्तौ धातु से बनता है आदि और अन्त के अक्षरों को उल्टा करके। वह पर्जन्य तृप्त कर देने वाल है। तृप् का उलटा पत् और 'जन्य' साथ लगाकर पर्जन्य हो जाता है । अर्थ है सब जनपदों का तर्पयिता।" वह पर्जन्य सबसे उत्कृष्ट अकाल को जीतने वाला है। या वह पर्जन्य सबसे उत्कृष्ट अन्नादि का उत्पादक है।" या वह पर्जन्य रसों का प्रार्जयिता- अर्जन करने वाला है।

9.3.4 द्युस्थानीय देवता

जिन देवताओं का वास द्युलोक में है अथवा जो देवता द्युलोक या स्वर्गलोक में विराजमान रहते हुए सम्पूर्ण संसार का कल्याण करते हैं , वे द्युस्थानीय देवता हैं । जैसे - सूर्य ।

सूर्यदेव सदैव द्युलोक में स्थित रहते हुए समस्त ब्रह्माण्ड को आलोकित करते हुए सदैव चराचर जगत् का उद्धार करते हैं।

इस प्रकार आचार्य यास्क के अनुसार तीन ही देवता हैं - अग्नि जो पृथिवीस्थानीय है , दूसरा वायु एवं इन्द्र जो अन्तरिक्षस्थानीय हैं और तीसरा द्युस्थानीय सूर्य है।

जैसे एक ही पुरुष किसी यज्ञ में कहीं पर होता बन जाता है, कहीं पर दूसरे यज्ञ में वही पुरुष ब्रह्मा की जगह बैठ जाता है तो कहीं पर वही उद्गाता बन जाता है - पुरुष एक ही है , किन्तु कर्म-भेद से भिन्न-भिन्न स्थान पर अलग-अलग संज्ञा उसकी हो जाती है उसी प्रकार मुख्य देवता तीन ही हैं, परन्तु विकार भेद से एक ही देवता के विभिन्न नाम हो जाया करते हैं।

सूर्य -

द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता है। इसका उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने निघण्टु में द्युस्थानीय देवताओं के रूप में किया है।' यास्क के अनुसार सूर्य शब्द का निर्वचन इस प्रकार है- सूर्य द्युलोक में गमन करता है अथवा समस्त प्राणियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है अथवा द्युलोक में वायु द्वारा प्रेरित होकर गमन करता है, इसीलिए सूर्य कहलाता है। इस निर्वचन के अनुसार सूर्य शब्द सृ गतौ से निष्पन्न हुआ है।'

ऋग्वेद के चौदह सम्पूर्ण सूक्तों में सूर्य की स्तुति किया गया है। अनेक स्थलों पर सूर्य से भौतिक सूर्य (सौरमण्डल) का भी बोध होता है। सौर देवताओं में सूर्य सर्वाधिक स्थूल देवता है जिसका भौतिक सूर्य से निकट सम्बन्ध सर्वत्र दिखाई पड़ता है। सूर्य को आदितेय भी कहा जाता है।द्युस्थानीय देवता सूर्य को स्पष्टीकरण के लिए यास्क ने "उदुत्यं जातवेदसम्सूर्यम्।" इस ऋग्वेदीय ऋचा को उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया है,

वरुण देवता

आचार्य यास्क ने मध्यस्थानीय देवताओं में वरुण की द्वितीय क्रम पर गणना की है। यास्क कहते हैं कि वरुण नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह देवता मेघ जाल से आकाश को आच्छादित कर लेता है- "वरुणो वृणेतीति सतः"।" वरुण के सम्बन्ध में एक ऋचा है- **नीचीनवातं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्यनत्ति भूम्।।**

अर्थात् वरुण मेघ को नीचे की ओर करके द्युलोक और पृथिवीलोक की ओर तथा अन्तरिक्ष की ओर जल को छोड़ता है। जिस प्रकार किसान जल सेचन से यवादि धान्यों को आर्द्र कर देता है इसी तरह इस वरुण की प्रेरणा से वर्षा भूमि को आर्द्र कर देती है। "वरुण की स्तुति की कृपा से सब शत्रुओं का नाश हो जाय।

सविता देवता-

"सविता सर्वस्य प्रसविता" के रूप में निरुक्त में 'सविता" देवता की व्युत्पत्ति आचार्य यास्क ने की है। यह सबकी प्रेरक वायु है। सविता की ऋचा निम्न प्रकार से है- **सविता यन्त्रैः पृथिवीमरग्णादस्कभने सविता द्यामहंहत् । अश्व मिवाधुक्षधुनि मन्तरिक्ष मतूर्ते वद्धं सविता समुद्रम् ॥"**

इस सविता ने अपने वृष्टि प्रदानादि उपकारक कर्मों से पृथिवी को नियमित किये हुए हैं। यह सविता अवलम्ब रहित आकाश में द्युलोक को दृढ़ किया हुआ है। आदित्य भी सविता कहलाता है, जैसे कि हिरण्यसूक्त में प्रस्तुत है।

उषा -

द्युस्थानीय देवताओं में उषा का उल्लेख निघण्टु 5/6/2 में किया गया है। निघण्टु में उषा के 16 नामों का उल्लेख मिलता है। काल की दृष्टि से अश्विन् देवताओं के पश्चात् उषा का स्थान प्राप्त होता है। रात्रिकाल

के अन्तिम समय को उषाकाल कहा जाता है।' अर्थात् सूर्योदय से पूर्व की अभिमानिनी देवता ही उषा है।उषा शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने दो धातुओं से मानी है। कान्त्यर्थक वश् एवं उच्छी विवासे धातु से उषस् शब्द निष्पन्न है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1) द्युलोकस्य पृथिवीलोकस्य च स्वामी कः वर्तते ?

  2) कति देवताः ?

  3) द्युस्थानः देवः कः वर्तते ?

  4) अग्निः कीदृशः देवः वर्तते ?

9.4 देवों का आकार चिन्तन :-

आचार्य यास्क ने देवताओं के आकारनिर्णय के सन्दर्भ में अनेक मतों की चर्चा की एवं स्वाभिमत की स्थापना की है। देवता विषयक पारम्परिक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह अवगत होता है कि ऐश्वर्यमयी चित्-शक्ति ही देवता है। यह सातिशय तथा निरतिशय के भेद से दो प्रकार का माना गया है। ऐश्वर्य के चारम्य में अवस्थित हुई चित्-शक्ति में परदेवतात्व एवं वैसा न होने पर अपर- देवतात्व मानना संगत है। परदेवतात्व एकमात्र अखण्ड, अविनाशी परमात्मा में ही सम्भव है, किन्तु अपर देवतात्व प्रयोजनवशात् व्यक्त होने वाली किसी भी चित्-शक्ति में देखा जा सकता है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सविता आदि में यही अपरदेवतात्व प्रतिष्ठित है। आचार्य यास्क देवताओं के स्वरूप को उभयविध मानते हैं और सप्तमाध्याय के प्रथम पाद में उन्होंने इस सिद्धान्त को स्थापित भी किया है।अब निरुक्त में देवताओं के आकार के विषय में विचार किया जा रहा है।

अथ आकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युः इत्येकम् । चेत- नावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति, तथा अभिधानानि । अथापि पौरुष- विधिकैः अङ्गः संस्तूयन्ते - 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू' । 'यत्संग- भ्णा मघवन् काशिरित्ते' । अथापि पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगः 'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि' 'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते' । अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः- 'अद्धीन्द्र पिव च प्रस्थितस्य' । 'आश्रुत्कणं श्रुधी हवम्' ।।

अब देवताओं के स्वरूप का वर्णन होगा। कुछ लोगों के विचार से ये मनुष्य के समान हैं क्योंकि (१) इनकी स्तुतियाँ और सम्बोधन भी चेतन जीवों के समान होते हैं। पुनः, (२) इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अङ्गों से (इन्हें) संयुक्त करके होती हैं जैसे हे इन्द्र, बलवान् के ये तुम्हारे हाथ अच्छे हैं, (ऋ० ६।४७७८), 'हे धनपति, जिस [द्यावा-पृथिवी को तुमने पकड़ा है वे तेरी कलाइयाँ है (ऋ० ३।३००५) । पुनः, (३) मनुष्यों की वस्तुओं से संयुक्त करके [इनकी स्तुतियाँ होती हैं जैसे- 'हे इन्द्र, दो घोड़ों पर आओ, (ऋ० २।१८८४) 'तुम्हारे घर में सुन्दरी स्त्री और रमणीय वस्तुएँ हैं, (ऋ० ३।५३।६) । पुनः (४) मनुष्यों के कामों से संयुक्त करके स्तुति होती है जैसे- 'इस रखे (सोम), को, इन्द्र, पियो खाओ तुम' (ऋ० १०।११६।७), 'हे सुनने लायक कानवाले, मेरी आवाज सुनो' (ऋ० १।१०।९) ॥

9.4.1 पुरुषविध

विविध ऋषियों का एक मत तो कि देवताओं का आकार मनुष्य की तरह होता है जैसे -

च) चेतनावद्धद्धि स्तुतयो भवन्ति - अर्थात् देवताओं की स्तुतियाँ चेतना वालों की तरह होती हैं। अर्थात् कहने का भाव यह है कि देवता मनुष्य की आकृति वाले हैं , क्योंकि उनकी जो स्तुति की गई है वह मनुष्यों के सदृश ही की गई है। यद्यपि चेतनावत् शब्द से मनुष्य ही न लेकर गवादि भी लिए जा सकते है। कारण यह है कि गवादि में भी चैतन्य समान है, क्योंकि हिताहित-विवके-लक्षण-विशिष्टज्ञान गवादि में नहीं होता और मनुष्य में होता है अतः चैतन्येन साम्य रखते हुए भी मनुष्य में विशेषता है, इसलिए देवता की मनुष्य की आकृति के साथ तुलना की गई है।

छ) तथाभिधानानि - जैसे मनुष्यों में अभिधान या सम्बोधन को लेकर परस्पर विवाद होता है ठीक उसी प्रकार देवताओं में भी एक दूसरे को सम्बोधन वाद-विवाद देखे गये हैं ; अतः देवताओं का स्वरूप मनुष्य के समान ही है।

ज) देवताओं की पुरुषविधता में यह भी कारण है कि -

अथापि पौरुषविधिकैरंगः संस्तूयन्ते। अर्थात् देवताओं की स्तुति मनुष्य के अंगों की तरह की गई है। जैसे - ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू । अर्थात् हे इन्द्र ! बूढ़े तेरी शत्रुओं की नाशक भुजाओं की शरण में हम आते हैं। इस मन्त्र में बाहु यह मनुष्य का अंग है। अतः इसकी तरह देवता की स्तुति की गई है इसलिए यह पता चलता है कि देवताओं का आकार मनुष्य के सदृश है।

झ) जैसे मनुष्यों का वर्णन घोड़े , स्त्री आदि विलास के साधनों के साथ होता है , वैसे ही देवताओं का वर्णन अश्व , रथ , गृह , पत्नी आदि द्रव्यों से युक्त किया जाता है।

उदाहरण - अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । " आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि "

यहाँ पर मनुष्य सम्बन्धी द्रव्यों देवताओ की स्तुति की गई है। जैसे - हे इन्द्र ! दो घोड़ों से आजा। यदि तेरे पास दो घोड़े हैं, तो आप उन्हीं को जोड़कर चले आओ।

ञ) मनुष्य के समान खाना , पीना , सुनना आदि कर्मों से युक्त देवताओं की भी स्तुति की गई है।

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः। अर्थात् मनुष्य के सदृश कर्मों से देवताओं की स्तुति है। जैसे -

अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य । अर्थात् हे इन्द्र ! आप यहाँ उपस्थित होकर इस सोम को खाओ और पीओ।

9.4.2 अपुरुषविध

दूसरे पक्ष के अनुसार देवताओं का आकार मनुष्य जैसा नहीं है -

अपुरुषविधाः स्युः- इत्यपरम् । अपि तु यद् दृश्यतेः ॥ ६ ॥ अपुरुषविधं तत् । यथा, अग्निः, वायुः, आदित्यः, पृथिवी, चन्द्रमाः इति ॥

कुछ लोगों के विचार से [देवता] मनुष्यों के समान नहीं हैं क्योंकि (इनके विषय में) जो देखते हैं, ।। ६ ।। वह मनुष्यों से भिन्न है जैसे-अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा इत्यादि ।।

यथो एतत्- 'चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति' इति, अचेतनानि अपि एवं स्तूयन्ते यथा-अक्षप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि ॥ यथोएतत्- 'पौरुषविधिकैः अङ्गः संस्तूयन्ते' इति, अचेतनेषु अपि एतत् भवति- 'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' इति ग्रावस्तुतिः ।। यथो एतत्--'पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगैः' इति, एतदपि तादृशमेव 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुतिः ।। यथो एतत्- 'पौरुष- विधिकैः कर्मभिः' इति एतदपि तादृशमेव 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमा- शत' इति ग्रावस्तुतिः एव ।।

यह जो कहा कि 'चेतन के समान स्तुतियाँ होती है', वैसी तो अचेतन की भी स्तुतियाँ होती हैं जैसे- पासे से लेकर ओषधि तक की (निघण्टु ५।३।४-२२)।

(२) यह जो कहा कि 'इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अङ्गों से संयुक्त करके होती हैं, वैसी तो अचेतन की भी होती हैं जैसे- 'अपने हरे मुह से चिल्लाते हैं' (१०।९४।२) - यह पाषाण की स्तुति है।

(३) यह जो कहा कि 'मनुष्यों की वस्तुओं से संयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी तो यहाँ (अचेतन में) भी है जैसे- 'सिन्धु ने घोड़े का सुखद रथ जोता' (ऋ० १०।७५।९) - यह नदी की स्तुति है।

(४) यह जो कहा कि 'मनुष्यों के कामों से संयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी ही तो यहाँ भी है जैसे- 'होता के हो सामने भोज्य हवि खाया' (ऋ० १०।९४।२) यह भी पाषाण की स्तुति है ।।

क) देवताओं का आकार पुरुषों जैसा नहीं है अपितु जो देवता जैसा दृष्टिगत होता है वह वैसा ही है। सभी देवता पुरुष जैसे नहीं हैं, जैसे - अग्नि , वायु ,आदित्य , पृथिवी , आदि। ये सभी देवता मनुष्य के आकार के नहीं हैं। वस्तुतः उपरोक्त देवता पुरुषविध आकार के दिखलाई नहीं पड़ते , अतः इन्हें किस प्रमाण से पुरुष विध माना जाए।

ख) यह जो कहा गया है कि चेतनावत् प्राणियों की तरह स्तुति किये जाने के कारण ये देवता पुरुषविध हैं, इसके उत्तर में हमारा कहना है कि - अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते। यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि। अर्थात् इन देवताओं की अचेतनों की भी तरह स्तुति की गई है, जैसे अक्ष से लेकर ओषधि तक।

उदाहरण - " ओषधे त्रायस्व एनम् " एवं " स्वधिते मैनं हिंसीः "

ग) ये जो कहा है कि पुरुष के अंगों के समान देवताओं की स्तुति की गई है, वह भी ठीक नहीं क्योेंकि अचेतनाओं में भी ऐसा होता है।

जैसे - " अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः " (ऋग्वेद 10/94/02)अर्थात् हरे

मूखों से युक्त ये शिलाएँ मानों बुला रही हैं क्योंकि जिन पर सोम पीसा जाता है, वे हरे रंग की हो जाती हैं।

घ) यह जो कथन है कि पुरुषविध द्रव्यों से संयुक्त करके देवताओं का विवेचन किया गया है अतः वे पुरुषविध हैं। ये भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा वर्णन तो सिन्धु आदि नदियों का भी पाया जाता है।

जैसे - " सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् " (ऋग्वेद 10/75/09)अर्थात् सिन्धु नदी आदि अचेतन को वर्णन के आधार पर कैसे पुरुषविध मान लिया जाए।

ङ) और यह जो कहा गया है कि मनुष्य जैसे कर्मों से देवताओं की स्तुति की गई है , तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कर्म जड़ों में भी वर्णित किए गए हैं। जैसे - " होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमासत " (ऋ0 10/94/2)

अर्थात् होता से पहले ही ये शिलाएँ हवि द्रव्य को खा गई। अतः देवता को हम कैसे पुरुषविध मान सकते हैं।

9.4.3 उभयविध

अपि वा, उभयविधाः स्युः । अपि वा पुरुषविधानाम् एव सतां कर्मात्मानः एते स्युः । यथा, यज्ञो यजमानस्य । एष च आख्यान- समयः ॥ ७ ॥

अथवा ये (देवता) दोनों तरह के हैं--पुरुषविध तथा अपुरुषविध। अथवा ये मनुष्यों के रूप में होकर [पृथिवी आदि वस्तुओं] के कर्म के रूप में हैं जैसे- यज्ञ यजमान का [कर्म स्वरूप] है। यह मत कथा में प्रवीण लोगों का है ॥ ७ ॥

अर्थात् कुछ लोगों का मानना है कि देवता दोनों ही प्रकार के होते हैं - पुरुषविध भी और अपुरुषविध भी अथवा जड़ भी एवं चेतन भी। जैसे कहा गया है - " अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य। " अर्थात् देवता दोनों प्रकार के होते हैं परन्तु पुरुषविध स्वतन्त्र हैं और अपुरुषविध अर्थात् जड़ अधिष्ठातृत्व में हैं कहने का भाव यह है कि जड़ या अपुरुषविध देवता , चेतन या पुरुषविध के अधीन हैं। जैसे यजमान का यज्ञ। यद्यपि यज्ञ किन्हीं मन्त्रों का देवता है , परन्तु वह यजमान के अधीन है।

देवताओं के स्वरूप-चिन्तन में यास्क का निष्कर्ष है कि देवता पुरुष- विध ही हैं।

अपने अङ्गों, द्रव्यों तथा कर्मों से ये नित्य सम्बद्ध हैं। क्षिति, जल आदि यद्यपि अपुरुषविध है किन्तु इनके अधिष्ठाता तो पुरुषविध ही होंगे । देवताओं का यह दृश्यमान रूप क्षिति, जलादि उन पुरुषरूप देवताओं के कर्म के रूप में है। यजमान से जैसे उसके कर्मस्वरूप यज्ञ का सम्बन्ध है वैसे ही पुरुषविध देवताओं से इन कर्म रूप दृश्यमान (क्षिति आदि) पदार्थों का भी सम्बन्ध है।

पौराणिक आख्यानों में इसकी अत्यधिक चर्चा है। पृथ्वी अपना भार दूर करने के लिए स्त्री रूप में ब्रह्मा के पास गयी। अग्नि ब्राह्मण के रूप में कृष्ण और अर्जुन से खाण्डव-दाह की प्रार्थना करने गये। समुद्र पुरुष रूप में राम के पास आया। अग्नि यज से प्रषरूप में पायम लेकर प्रकट हुए। सूर्य कुन्ती के पास पुरुषरूप में गये। आख्यानों में वैदिक प्रतीकों का रूपकात्मक वर्णन है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1): देवता" इति शब्दस्य व्युत्पत्तिः का अस्ति?

  2) यास्कस्य मते देवता अस्ति

9.5 सारांश

निरुक्त के सप्तम अध्याय में 'देवता के प्रकार' का वर्णन अत्यंत महत्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक है। यह अध्याय विभिन्न देवताओं की प्रकृति, उनके कार्य, और उनकी उपासनाओं के संदर्भ में विस्तृत जानकारी प्रदान करता है। निरुक्त का सप्तम अध्याय 'देवता के प्रकार' एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है, जो वैदिक धर्म और संस्कृति की गहराईयों को समझने में सहायक है। यह अध्याय हमें विभिन्न देवताओं की महत्ता, उनकी भूमिकाओं, और उनकी उपासना की विधियों का ज्ञान कराता है। इस प्रकार चार प्रकार के देवतावाद हैं-पुरुषविध, अपुरुषविध, उभयविध और कर्मार्थात्मोभयविध। देवता स्वतंत्र रूप से माने गए हैं और चौथे में पुरुषविध के प्रयोजनार्थ अतएव उसके अधिष्ठातृत्व में अपुरुषविध देवताओं की कल्पना की गई है। देवताओं के स्वरूप-चिन्तन में यास्क का निष्कर्ष है कि देवता पुरुष- विध ही हैं।इस प्रकार, यह अध्याय न केवल धार्मिक दृष्टि से, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

9.6 कठिन शब्दावली

द्युस्थानः = स्वर्ग में निवास करने वाले देवता   केवलाघः = केवलमात्र पाप को ही खाने वाला

ककुप् = एक प्रकार का वैदिक छन्द

स्तोमः = स्तवन या स्तुति करने से स्तोमः नाम पड़ा

स्तुतयः - स्तुतियाँ, प्रशंसा

अभिधान - नामकरण, शब्द

पर्जन्य - वर्षा, मेघ

ऋष्व - ऊँचा, महान

स्थविर - वृद्ध, प्राचीन

मघवन् - इंद्र का एक नाम

हविः - हवन सामग्री

अश्विन - अश्विन कुमार

ग्राव - पत्थर

9.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) इन्द्रः

2) त्रिविधाः

3) सूर्यदेवः

4) पृथिवीस्थानः

अभ्यास प्रश्न 2

1) दीप्यते इति देवता

2) पुरुष- विध

9.8 सहायक ग्रन्थ

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,नई-दिल्ली 110007

9.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) अन्तरिक्षस्थानीय देवतानां नामपूर्वकं वर्णनं कुरुत।

2) पृथिवी-स्थानीय देवतानां नामपूर्वकं वर्णनं कुरुत।

3) देवाः पुरुषविधाः अपुरुषविधाः वा इति पूर्वोत्तर पक्षाभ्यां साधयत।

4) देवताकारचिन्तन-विषये यानि यानि मतानि तानि सम्यगुपन्यस्य सिद्धान्तं समर्थयत ।

¤¤¤¤

इकाई 10
सप्तम अध्याय में प्रयुक्त पदों की समीक्षा

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 मन्त्र

10.4 छन्द

10.5 देव

10.6 अग्नि

- स्वंय आकलन प्रश्न

10.7 जातवेदाः

10.8 वैश्वानरः

10.9 सारांश

- स्वयं आकलन प्रश्न

10.10 कठिन शब्दावली

10.11 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

10.12 सहायक ग्रन्थ

10.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में निरुक्त के सप्तम वैदिक पदानुक्रमरूप निघण्टु का पाँचवां अध्याय दैवतकाण्ड है। इस अध्याय में छः खण्ड हैं, जिनकी व्याख्या आचार्य यास्क ने निरुक्त के सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, तथा बारह अध्यायों में यथाक्रम की है। निघण्टु ग्रन्थ में पञ्चमाध्यायस्थ छठे खण्ड में अग्नि के तीन नाम पढ़े गये हैं- अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर। मुख्य रूप से सप्तम अध्याय में निरुक्तकार यास्क इन्हीं तीन नामों का निर्वचन करते हैं। इसके साथ प्रसंगतः प्राप्त चौंतीस अन्य पदों की भी निरुक्ति यास्कमुनि ने सप्तम अध्याय में की है, जिनमें गायत्री और वैदिक छन्दों के भी नाम हैं। इन छन्दों के निर्वचनों की समीक्षा इस अध्याय के तृतीय समालोच्य बिन्दु के रूप में की जायेगी। शेष जिन पदों का निर्वचन आचार्य यास्क ने किया है, वे इस विचार्य बिन्दु के अन्तर्गत समीक्षणीय हैं।

10.2 उद्देश्य-

- अनेकविध देवस्वरूपों को जानेंगे।
- अग्नि के विविधरूपों या नामों के विषय में समझेंगे।
- छंद के विषय में ज्ञान अर्जित करेगें।

10.3 मन्त्राः

यह पद मन्त्र शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप है। यास्क के अनुसार मनन किये जाने के कारण इन्हें मन्त्र कहा जाता है-**मननात् मन्त्राः**। चिन्तनार्थक मन् धातु एवं ष्टुत् प्रत्यय के योग से मन्त्र शब्द निष्पन्न होता है। कतिपय व्युत्पत्तिकार इसे ष्ट्रन् प्रत्ययान्त भी मानते हैं। मन्त्रि गुप्तभाषणे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर, मत्रि ज्ञाने धातु से अच् प्रत्यय करने पर भी यह शब्द निष्पन्न होता है। मन्त्र शब्द की कतिपय व्युत्पत्तियाँ अधोनिर्दिष्ट हैं-

क-मन्त्रयते गुप्तं परिभाष्यते इति मन्त्रः।

ख- मन्त्रयते गुप्तं भाषते इति मन्त्रः ।

ग- मननात् त्रायते इति मन्त्रः ।

घ- मननात् मन्त्रः ।

ङ- मन्यते ज्ञायते विचार्यते वा अनेन इति मन्त्रः ।

यह शब्द वैदिक ऋचा, मन्त्रस्वरूप भाग, गुप्त रहस्य, परामर्श, जाप्यविशेष आदि अर्थों में प्रसिद्ध है। मन्त्रस्वरूप भागार्थक मन्त्र शब्द ऋग्वेद की इस ऋचा में प्रयुक्त है।

प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थम् । '

यास्क उपर्युक्त अर्थ में ही मन्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं।

ह्यध्यात्माधिदेवाधियज्ञादि-मेदिनीकोशकार ने विभिन्ननिरुक्त विवृतिकार लिखते हैं- **"तेभ्योमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्राणां मन्त्रत्वम्।**'अर्थों में नियत इस पद को बताया है-

मन्त्रो वेदविशेषः स्याद् देवादीनां च साधने ।

10.4 छन्दः

यास्क के अनुसार छादन अर्थात् आच्छादन करने के कारण वेद मन्त्रों तथा पद्य बन्ध के लिये छन्द शब्द का प्रयोग होता है। यास्क की इस अभिमति का मूल छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होता है, जहाँ लिखा है-'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिराच्छा- दयन्, यदेभिरात्मानमाच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् । अर्थात् मृत्यु या.पाप से भयभीत हुए देवगण वेदत्रयी में प्रविष्ट हुए और उन्होंने छन्दों से अपने को आच्छन्न कर लिया। यही छन्दों का छन्दस्त्व अर्थात् आच्छादकत्व है। उणादि कोशकार ने चदि आह्लादने धातु से 'चन्देरादेश्च छः' इस सूत्र से असुन् प्रत्यय करके 'छन्दस्' शब्द का निष्पादन किया। तदनुसार इसकी व्युत्पत्ति है- 'चन्दयति आह्लादयति अथवा चन्द्यते आह्लाद्यते अनेन इति छन्दः।' छन्द शब्द की उपपत्ति छदि आच्छादने धातु से भी होती है। यह शब्द पुल्लिग एवं नपुंसक लिंग-दोनों ही लिंगों में प्राप्त होता है। नानार्थार्णवकोश के अनुसार पुल्लिगान्त छन्द शब्द-

वृक्षपत्रेऽप्यथच्छन्दोवंशेऽभिप्रायवाञ्छयोः । २

वृक्ष का पत्र, वंश, अभिप्राय एवं कामना-इन अर्थों में प्रयुक्त होता है

गायत्री

गायत्री-गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा स्याद् विपरीता। गायतो मुखादुदपतद् इति च ब्राह्मणम्। उष्णिक्-उत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । उष्णीषिणीवेत्यौ- पमिकम् । उष्णीषं स्वायतेः। ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुजतेर्वा । उब्जतेर्वा । कुब्जश्च अनुष्टुप्-अनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति । इति च ब्राह्मणम्। बृहती परिबर्हणात्। पङ्क्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप्

स्तोभत्युत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दः । त्रिवृद् वज्रः। तस्य स्तोभनीति वा। 'यत्त्रिरस्तोभत्, तत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते ।

गायत्री शब्द स्तुत्यर्थक गै धातु से (निष्पन्न है), अथवा 'त्रिगमन' शब्द उल्टा होकर 'गायत्री' हो गया, 'गाते हुए (व्यक्ति के) मुख से गिर पड़ी' ऐसा भी (किसी ब्राह्मण का वाक्य है)। उष्णिक् ऊपर से लिपटी हुई है, अथवा कान्ति-अर्थ वाली स्निह् धातु से निष्पन्न है,कोयास्क निरुक्तम-प्रथम, द्वितीय तथा सप्तम अध्याय अथवा (वह) पगड़ी वाली है, से सहारा उज् धातु से हैं। अनुष्टुप्-पीछे पाद से सहारा देता है यह भी कारण (है)। पंक्ति-पांच पैरों , यह उपमामूलक है। 'उष्णीष' शब्द स्नै धातु से है। ककुप्-कूबड़ जाती है। 'ककुप्' और 'कुब्ज' (ये दोनों शब्द) कुज् अथवा देने के कारण (है)। तीन पदों वाली गायत्री को चतुर्य (किसी) ब्राह्मण (का वाक्य है)। 'बृहती' चारों ओर बढ़ी होने के वाती है। त्रिष्टुप् का उत्तर पद स्तुभ् से निष्पन्न है। किन्तु (इसमें) 'त्रि' का क्या अर्थ है? अत्यन्त प्रचलित छन्द है अथवा 'त्रिवृद' वज्र को कहते हैं। यह उसकी स्तुति करता है। जो उसने तीन बार स्तुति की, वह त्रिष्टुप् का त्रिष्टुप्त्व है, (किसी ब्राह्मण से) जाना जाता है।

उष्णिक-

यह गायत्री के ही समान चरणों का छन्द है। किन्तु इसके अंतिम चरण में 12 - अक्षर होते हैं। इसी अभिप्राय को लेकर इसके तीन निर्वचन किये गए हैं- (i) क्योंकि इसके प्रत्येक चरण में एक-एक-अक्षर और बढ़ा हुआ है, इसलिए यह ऊपर से लपेटी हुई (उत् + स्नाता) प्रतीत है, इसलिए यह 'उष्णिह्' है। यह व्याख्या निम्न निर्वचन को संकेतित करती है-'उत् + √ स्नै (लपेटना) + ह् > उत् + स्नि > > उष्गिह। (ii) यह लोगों के द्वारा बहुत चाहा जाता है, इसलिए 'उष्णिहू' है-इसका संकेत 'उत्+ स्निहू (इच्छा) + ० > उ + स्टिहू > उणिगृह (iii) यह पगड़ी वाली-सी है- 'उष्णीविणी' के समान है, इसलिए 'उष्गिह्' कहलाती है। यह तुलना के(1) (क) उब्ज् > जउबू > कउबू > ककुभु, (ख) उब्जू > कुब्ज । कुमुज् कुछ।

बृहती-

यह 12, 12 अक्षरों वाले चार चरणों का छन्द है। अतः इसमें 36 अक्षर होते हैं और इस दृष्टि से 'अनुष्टुभ्' से बृहत् होता है। अपनी इसी बृहता के कारण यह 'बृहती' कहलाता है-बृहती परिबर्हणात्। निर्वचन इस प्रकार होगा- वृह + अत् + ई > बृहती ।

पङ्क्ति-यह आठ-आठ अक्षरों के पांच चरणों का 'पञ्चपदा' छन्द है। इस 'पञ्पदा' का 'पञ्चत्व' इसके नामकरण का आधार है। निर्वचन यह होगा-पञ्च ति पङ्क ति > पट्टि ।

त्रिष्टुप्

-इसके दो निर्वचन हैं- (i) प्रथम निर्वचन में इसके दो भाग किए गए हैं-'त्रि' और 'स्तुभ्' 'त्रि' का अर्थ 'तीर्ण' या व्यापक किया है (क्योंकि यह ऋग्वेद का सबसे व्यापक और प्रचलित छन्द है) और 'स्तुभ्' से तात्पर्य है 'स्तुभ्' उत्तर पद वाला। निष्कर्ष यह कि जो छन्द अत्यन्त तीर्ण या व्यापक होने के साथ-साथ 'स्तुभ्' इस उत्तरपद से युक्त हो उसे 'त्रिष्टुभ्' कहते हैं। शब्द-विकास इस प्रकार है-तीर्ण स्तुभ् > तिर् + स्तुभ् त्रि स्तुभ् + त्रिष्टुम् । (ii) दूसरे निर्वचन में बताया गया है कि वेदों में 'त्रिवृद्' वज्र के लिए आया है। इन्द्र भी

वज्रधारी होने के कारण 'त्रिवृद' कहलाता है। इस छन्द में, क्योंकि उस 'त्रिवृद' (इन्द्र) की स्तुति हुई है- इसलिए इसे 'त्रिष्टुभू' कहते हैं। निर्वचन होगा- 'त्रिवृत्+ √ स्तुभ् (स्तुति) > त्रि स्तुभ् > त्रिष्टुम् ।

जगती

-गततम छन्दः। जलचरगतिर्वा । 'जल्गल्यमानोऽसृजत् इति च ब्राह्मणम् । विराट् विराजनाद् वा विराधनाद् वा। विप्रापणाद् वा । विराजनात् सम्पूर्णाक्षिरा। विराधानादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपलीलिकामध्येत्यौपमिकम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ।

(अनु.) 'जगती' बहुत अधिक गया हुआ छन्द है, अथवा जलचर की-सी गति वाला है, विधाता ने 'अत्यन्त प्रशंसित होते हुए (इसकी) रचना की' ऐसा ब्राह्मण वाक्य भी है। विराजू-या तोविशिष्ट शोभा के कारण; या विशिष्ट हीनता के कारण, या विशिष्ट वृद्धि के कारण, निमान्न है।विशिष्ट शोभा के कारण सम्पूर्ण (33) अक्षरों वाली, विशिष्टहीनता के कारण न्यून, न होता बाली, विशिष्ट वृद्धि के कारण अधिक, (40) अक्षरों वाली ('विराज्' सिद्ध होती है। पिपीलिकामध्या' यह सादृश्वाधारित (नाम है)। 'पिपीलिका' शब्द गत्यर्थक √ पेत् धातु से निष्पन्न होता है।

जगती- (i) यास्क के शब्दों में यह 'गततम छन्द'। (सभी छन्दों में आगे गया हुआ (बड़ा) छन्द है-क्योंकि इसमें 48 अक्षर पाए जाते हैं।

10.4 देव

- यह शब्द ब्राह्मी सृष्टि के अन्तर्गत उत्कृष्ट उत्तम योनि प्राप्त प्राणिवर्ग का वाचक है। यास्क देव और देवता को पर्याय मानते हैं-यो देवः सा देवता। यह शब्द भी विभिन्न धातुओं से निष्पन्न माना गया है। यास्काचार्य ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है-देवो दानाद् वा। दीपनाद् वा। द्योतनाद् वा। द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता।'

दान देने के कारण, प्रकाश देने के कारण, प्रकाशमय होने के कारण अथवा द्यु-स्थान में रहने के कारण इन्हें देव कहते हैं, जो देव है, वही देवता है। यहाँ देवता के देवतात्व में चार हेतु दिखाये गये हैं-दान, दीपन, द्योतन एवं द्युस्थानवर्तन। इनका क्रमशः विश्लेषण एवं अर्थनिश्चय प्रस्तुत है।

क-देवो दानाद् वा देवता को देवता इसलिये कहते हैं कि वह दान देता है। ददाति यजमानाय ऐश्वर्यादिकम् इति देवता। जो यजमान दान देने के कारण, प्रकाश देने के कारण, प्रकाशमय होने के कारण अथवा द्यु-स्थान में रहने के कारण इन्हें देव कहते हैं, जो देव है, वही देवता है। यहाँ देवता के देवतात्व में चार हेतु दिखाये गये हैं-दान, दीपन, द्योतन एवं द्युस्थानवर्तन। इनका क्रमशः विश्लेषण एवं अर्थनिश्चय प्रस्तुत है।

देवो दीपनाद् वा यह शब्द दीप् दीप्तौ धातु से भी निष्पन्न है।

तेजोमय-दीप्तिमय होने के कारण वह दीपित अर्थात् तेजोदीप्त करता है-दीपयति ह्यसौ तेजोमयत्वात्। देवता स्वयं प्रकाश्य होकर प्रकाशक भी है।

ग-देवो द्योतनाद् वा दीप्त्यर्थक द्युत् धातु से यह निष्पन्न है। वह स्वयं ही प्रकाशित होता है अपने नेत्र विषयीभूत दृश्य जगत् कोघ-द्यु-स्थानो भवतीति वा जो द्यु-स्थान अर्थात् स्वर्गलोक में रहता है, वह देवता है।

10.5 अग्नि

अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता है। देवताओं के स्थान निर्देश में प्रथमतया पृथिवी स्थान की चर्चा होती है तथा अन्य लोकों की अपेक्षा पृथिवीलोक सन्निकृष्ट अर्थात् समीपवर्ती है। यदि कोई सार्थक कारण न हो तो प्रथमोपस्थित पदार्थ का अतिक्रम उचित नहीं होता, अतएव अग्नि प्रथमतया व्याख्येय पद है-अग्निः पृथिवीस्थानः। तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।' निरुक्तकार के इस प्रतिज्ञा वाक्य का आशय स्पष्ट करते हुए विवृतिकार ने उपर्युक्त मत स्थापित किया। निरुक्तकार ने अग्नि शब्द का निर्वचन अनेक धातुओं के आधार पर होना बतलाया है। यास्क के मत में प्रथम निरुक्ति है-

अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्या- स्यामः । अग्निः कस्मात् ? अग्रणीः भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्ग नयुति संनममानः । अक्नोपनः भवति - इति स्थौलाष्ठीविः । नक्नोपर्यात = न स्नेहति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यः जायते - इति शाक- पूणिः । इतात्, अक्तात् दग्धात् वा, नीतात् । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते, गकारम् अनक्तेः वा दहतेः वा, नी परः । तस्य एषा भवति ।

यह देवता अग्रणी होता है अर्थात् किसी भी वैदिक कर्मानुष्ठान में सबसे आगे उपस्थित होता है, अतएव यह अग्नि है, अथवा यज्ञ-यागादि में सर्वप्रथम इसे ही ले जाया जाता है, इससे भी अग्नि का अभिधान गतार्थ होता है। सर्वप्रथम उपस्थिति अथवा प्रथमतया उपनीति (उपस्थापन) के कारण यह अग्नि है। अग्नि शब्द अग्र उपपद से युक्त णीञ् प्रापणे धातु से क्विप् प्रत्यय एवं अन्य सौत्रकार्य किये जाने पर निष्पन्न होता है।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नघातमम् ।। (ऋ.1/1/1)

अग्निमीळे-अग्नि याचामि। ईळिरध्येषणाकर्मा। पूजाकर्मा वा। पुरोहितोव्याख्यातः यज्ञश्च । देवो दानाद्वा । दीपनाद् वा । द्योतनाद् वा। द्युस्यानो भवतीति वा यो देवः। सा - देवता। होतारम्-हातारम् । जुहोतेहतित्यौर्णवाभः । रत्नघातमम् - रमणीयानां धनानां दातृतमम् । तस्यैषाऽपरा भवति ।

सामने स्थित, यज्ञ के देवता, ऋतु में यजन करने वाले (देवताओं को) बुलाने वाले (तथा) रमणीय पदार्थों का दान करने वालों में श्रेष्ठ अग्नि (देवता) से (मैं) याचना करता हूँ (या नमस्कार करता हूँ)।

'अग्निम् ईळे' का अर्थ है, (मैं) अग्नि से याचना करता हूँ। √ ईड् धातु का अर्थ 'याचना करना' या 'नमस्कार करना' है। 'पुरोहित' शब्द की व्याख्या की जा चुकी और 'यज्ञ' की भी। देव 'देने के कारण' अथवा 'दीप्त होने के कारण' अथवा 'द्योतित करने के कारण' (देव कहलाता है) या 'धु-स्थान वाला है, इसलिए। जो देव है, वही देवता है। 'होतारम्' का अर्थ है 'बुलाने वाले को', और्णवाभ आचार्य के मत में होता' शब्द हृ (हवन करना) में निष्पन्न है। 'रत्नधातमम्' का अर्थ है-'रमणीय पदार्थों को देने वालों में श्रेष्ठ'। उस (अग्नि) की यह दूसरी ऋचा है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) अग्निः कीदृशः देवः वर्तते ?

2) गायत्री छन्दसि कति पादाः सन्ति ?

10.6 जातवेदाः

जातवेदाः अग्नि का गुणवाचक नाम है। यह नाम अग्नि के गुणवाचक नामों में सबसे प्रमुख है। बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में शौनक अग्नि को मध्यम स्थानीय देवता मानते हैं। दूसरी ओर आचार्य यास्क इसे प्रमुखतः पार्थिव ही मानते हैं। आचार्य यास्क के अनुसार "जातवेदाः" के निम्नलिखित पाँच निर्वचन प्रस्तुत किए जा रहे हैं :-

1) **जातानि वेद** - यहाँ पर वेद शब्द विद् ज्ञानार्थक धातु से बना है। अर्थात् अग्नि का नाम जातवेदाः क्यों पड़ा ? जातवेदाः की व्युत्पत्ति क्या है ? तो इसके लिए कहा गया - " जातानि वेद " वह संसार के सब पदार्थों को जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ है इसलिए उसका नाम जातवेदाः पड़ा।

इस प्रकार जात $ विद् से जातवेदाः बना।

2) **जातानि वा एनं विदुः** - अर्थात् संसार के सभी उत्पन्न पदार्थ इसको जानते हैं , अतः इसका नाम जातवेदाः पड़ा। इस प्रकार जात $ विद् धातु से कारक का अन्तर।

3) **जाते जाते विद्यत इति** वा - क्योंकि यह जातवेदाः नामक अग्नि इस संसार में उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में रहता है , इसलिए इसका नाम जातवेदाः पड़ा।

4) जातवित्तो वा - यहाँ पर " वित्त " की आचार्य यास्क तीन व्याख्याएँ करते हैं।

अ) लाभार्थ विद् धातु से उत्पन्न वित्त शब्द का अर्थ है - धन। अर्थात् संसार में सभी उत्पन्न द्रव्य इस अग्नि का धन है। इसलिए अग्नि के लिए जातवेदाः का प्रयोग होता है। अतः जातवेदाः - जातधनः।

ब) जातविद्यो वा - अर्थात् जो उत्पन्न हुए में विद्यमान है अतः उसको जातविद्यो कहा गया है।

स) जातप्रज्ञानो वा - अर्थात् जो अग्नि उत्पन्न हुए पदार्थ एवं उसकी इस संसार में उपस्थिति के बारे में सबकुछ जानता है या जो सब प्राणियों के विषय में ज्ञान रखता है , उसे जातप्रज्ञानः कहते हैं।

5) यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् - ब्राह्मण ग्रन्थ का यह कथन भी यास्क ने उद्धृत किया है। अर्थात् यहाँ यह कहा गया है कि उसने उत्पन्न होते ही पशुओ को प्राप्त किया , इसलिए यही जातवेदाः का जातवेदत्व है।

आचार्य यास्क ने जातवेदाः के पार्थिव देवत्व की सिद्धि के लिए निम्न दो ऋचाओं को उद्धृत करते हैं:-

(1) जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ।। (ऋग्वेद 1/99/1)

अर्थात् जातवेदाः के लिए लतारूप सोम का सेवन करते हैं, जो जातवेदाः दान न करने वाले व्यक्ति में धन का निश्चितरूप से दहन कर देता है । जैसे नौका से व्यक्ति दुर्गम सिन्धु को पार कर देता है , ठीक वैसे ही पापों का अतिक्रमण कराने वाला वह अग्नि सम्पूर्ण संकटों से पार कर देता है।

(2) प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् ।
इदं नो बर्हिरासदे ।। (ऋग्वेद 10/188/1)

यहाँ यह कहा गया है कि हे देवो ! आप कर्मों से सब को व्याप्त करने वाले लपटों के कारण चंचल या वेगवान् अथवा अश्व के समान इस जातवेदाः अग्नि को हमारे इस कुशा के आसन पर बैठने के लिए प्रेरित करो। इस प्रकार आचार्य यास्क ने इन ऋचाओं के माध्यम से जातवेदाः के जातवेदत्व को सिद्ध किया है।

10.7 वैश्वानरः

वैश्वानर अग्नि का ही गुणबोधक नाम है। आचार्य यास्क मुख्यतया पार्थिव अग्नि के लिए ही वैश्वानर का प्रयोग करते हैं। अग्नि का वैश्वानर नाम क्यों पड़ा ? इस विषय में यास्क तीन निरुक्तियाँ देते हैं:-

1) **विश्वान् नरान् नयति** - विश्व $ नर $ नी ; से बना वैश्वानर अर्थात् जो अग्नि संसार के सम्पूर्ण मनुष्यों को इस लोक से परलोक ले जाता है , इसलिए इसको वैश्वानर कहा जाता है।

2) **विश्व एनं नरा नयन्तीति वा** - अर्थात् सकल संसार के सभी मनुष्य इस अग्नि को ले जाते हैं अथवा सभी इस अग्नि के माध्यम यज्ञादि का संचालन करने के लिए इस अग्नि को काम में लाते हैं। अतः इसे वैश्वानर कहा जाता है।

3) **अपि विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भतानि तस्य वैश्वानरः** - अर्थात् वह अग्नि सम्पूर्ण प्राणियो को प्राप्त हो या सब जगह वह अग्नि विद्यमान हो।

वैश्वानर के भौतिक स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। आचार्य यास्क इस विषय में तीन सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं -

अ) **वैश्वानरः माध्यमिक अग्नि**

आचार्य यास्क के अनुसार आचार्यों क ेमत में वैश्वानर मध्यम अग्नि अर्थात् अन्तरिक्ष के मध्य में विद्यमान विद्युत् है , क्योंकि वेद में वैश्वानर कही की वृष्टि से स्तुति की गई है। उदाहरण के लिए जैसे मन्त्र प्रस्तुत है -

प्र नू महित्वं वृषभस्य यं वोचं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ।। ऋग्वेद : 1/59/6

अर्थात् अब मैं शीघ्र ही वर्षा करने वाले विद्युत् स्वरूपी वैश्वानर अग्नि की महिमा को बतलाता हूँ जिस मेघनाशक की वृष्टि की कामना से मनुष्य स्तुति करते हैं। यह वैश्वानर अग्नि रसों को सुखा डालता है और इसी विद्युत् ने मेघस्थ जलों को कम्पा दिया है और मेघ को फाड़कर वर्षा कर डाली है। अर्थात् वर्षा के वाधक दस्यु को इस वैश्वानर नामक विद्युत् अग्नि ने नष्ट कर डाला है।

ब) **वैश्वानरः आदित्य**

प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा याज्ञिकों का कहना है कि वैश्वानर आदित्य है। इसकी पुष्टि हेतु अधोलिखित युक्तियों को प्रस्तुत किया है -

1) **एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः** - अर्थात् इन लोकों के आरोहण से सवनों - प्रातः सवन , माध्यन्दिन सवन , सायं सवन - का आरोहण पढ़ा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञकर्ता इन तीनों सवनों में क्रमशः पृथिवीलोक , अन्तरिक्षलोक , द्युलोक को प्राप्त करता है। यह लोकों का आरोहक्रम है। इसप्रकार लोकों या सवनों में समानता है। यह समानता देवताओं के विषय में भी है।

अर्थात् पृथिवीलोक का देवता अग्नि है तो प्रातः सवन का भी अग्नि ही देवता है। ऐसे ही अन्तरिक्ष का देवता इन्द्र है तो माध्यन्दिन सवन का भी वही देवता है। इसी प्रकार द्युलोक का देवता आदित्य है तो सायं सवन का देवता आदित्य ही है। अग्नि मारुजत शास्त्र में वैश्वानर देवता के सूक्त से तृतीय सवन करने का विधान है , जिससे यह सिद्ध होता है कि वैश्वानर ही आदित्य है।

2) **अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति । एतस्य हि द्वादशविधं कर्म** ।अर्थात् आदित्य के बारह मास ही बारह प्रकार के कर्म हैं। इसलिए याज्ञिक कर्म में आदित्य के लिए बनाए जाने वाली हवि को बारह कपालों पर बनाने का विधान है। वैश्वानर के लिए बनाया गया पुरोडाश भी द्वादशकपाल ही होता है। अतः कपालों की समानता से सिद्ध होता है आदित्य ही वैश्वानर है।

3) **असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर इति** - अर्थात् इस ब्राह्मण वाक्य में भी वैश्वानर अग्नि तथा आदित्य को एकसमान ही कहा गया है।

4) **आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्** - इस उदाहरण में भी यह स्पष्ट कहा गया है कि जो यह वैश्वानर द्युलोक और पृथिवीलोक को प्रकाशित करता है तो वास्तव में सूर्य ही पृथिवीलोक तथा द्युलोक का प्रकाशक है अतः वैश्वानर आदित्य ही है।

5) छान्दामिक सूक्त सूर्य और वैश्वानर देवता का है। वहाँ यह वर्णन आता है कि द्युलोक में अवस्थित वैश्वानर चमकता है। इससे यह स्पष्ट है कि वैश्वानर ही आदित्य है क्योंकि सूर्य ही द्युलोक में चमकता है। निम्न युक्तियों यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि वैश्वानर ही आदित्य है।

स) **वैश्वानरः पार्थिव अग्नि**

आचार्य शाकपूणि का मत है कि पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है। विद्युत् तथा आदित्य इन विश्वानरों से उत्पन्न होने के कारण अग्नि वैश्वानर है। यह पार्थिव अग्नि विद्युत् एवं आदित्य इन ज्योतियों से उत्पन्न होती है।

क) जब यह वैद्युत् अग्नि आश्रय अर्थात् लकड़ी , जल या जिस किसी को भी प्राप्त होती है , तब जब तक मनुष्यों से अगृहीत है , उस समय तक विद्युत् स्वभाव वाली ही बनी रहती है। ज्यों ही मनुष्यों ने इसे छुआ या किसी पार्थिव वस्तु से गृहीत हुई कि तुरन्त ही यह आग के रूप में परिणत हो जाती है। फिर इस पार्थिव अग्नि का स्वभाव वैद्युत् अग्नि से विपरीत है - पानी से े शान्त हो जाना और पार्थिव वस्तु से जल उठना। इस प्रकार विद्युत् अग्नि से ही यह पार्थिव अग्नि जन्म लेती है। इसलिए यह वैश्वानर ही पार्थिव अग्नि है।

ख) इसी प्रकार आदित्य से भी पार्थिव अग्नि उत्पन्न होती है। जब सूर्य उत्तरायण होता है , अर्थात् सूर्य खूब तेज से युक्त होता है उस समय यदि कांसे या मणि को साफ करके उसे सूर्य की किरणों की सीध में सूखे गोबर को उससे स्पर्श कराते हुए उसकी कुछ दूरी पर पकड़ कर रखा जाए तो सूखे गोबर में आग लग जाती है। इस प्रकार पार्थिव अग्नि आदित्य से उत्पन्न हो जाती है। जैसे - " अथादित्यात् । उदीचीं प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते। सोऽमेव सम्पद्यते।

इस प्रकार वैद्युत् एवं आदित्य से उत्पन्न होने के कारण इस पार्थिव अग्नि को वैश्वानर ही कहा जाता है।

10.8 स्वयं आकलन प्रश्न

अभ्यास प्रश्न 2

1) देवानां सेनानीः कः वर्तते ?

2) जातवेदः कस्य नाम वर्तते ?

3) अग्नेः अन्य-नाम किम् ?

10.9 सारांश

उपर्युक्त पाठ से हमें वेदों में वर्णित ऋचाओं ,छन्दों के प्रकार के विषय में , संसार में व्याप्त विविध देवताओं के स्थान के विषय में तथा समस्त देवी-देवताओं के आकार के साथ-साथ उन देवताओं के बहुविध नामों के बारे में जानने के लिए सामग्री प्राप्त हुई। वस्तुतः वेदों में सभी देवी-देवताओं के निमित्त मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। अतः हम वैदिक मन्त्रों के माध्यम से उन समस्त देवताओं का आवाहन करते हैं। फलस्वरूप वे सभी देवता किसी न किसी तरह से हमारा कल्याण करते हैं। इसलिए प्रत्येक देवता का श्रद्धापूर्वक भाव से आवाहन एवं पूजन करना चाहिए।

10.10 कठिन शब्दावली

केवलाघः = केवलमात्र पाप को ही खाने वाला

स्तोमः = स्तवन या स्तुति करने से स्तोमः नाम पड़ा

ककुप् = एक प्रकार का वैदिक छन्द

जातवेदाः = संसार के सब पदार्थों को जानने वाला

वैश्वानरः = सम्पूर्ण मनुष्यों को इस लोक से परलोक ले जाने वाला

10.11 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) पृथिवीस्थानः

2) त्रयः पादाः

अभ्यास प्रश्न 2

1) अग्निः

2) अग्नेः

3) वैश्वानरः

10.12 सहायक ग्रन्थ

1) निरुक्त-पंचाध्यायी श्री छज्जूराम शास्त्री): मेहर चन्द लक्ष्मण दास, 1-अन्सारी रोड् , दरियागंज नई-दिल्ली 110002

2) निरुक्तम् (श्री मुकुन्द झा शास्त्री) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई-दिल्ली 110007

10.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) जातवेदाः अथवा वैश्वानरस्य निरुक्तस्यानुसारं स्वरूपं विवेचयत।

2) अग्निः स्वरूपं विवेचयत

3) निरुक्तदृष्ट्या व्याख्या करणीया -

क) देवो दानाद् वा। दीपनाद् वा। द्योतनाद् वा। द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता।'

ख) गायत्री-गायतेः स्तुतिकर्मणः। त्रिगमना वा स्याद् विपरीता। गायतो मुखादुदपतद् इति च ब्राह्मणम्। उष्णिक्-उत्स्नाता भवति । स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । उष्णीषिणीवेत्यौ- पमिकम् । उष्णीषं स्वायतेः। ककुप् ककुभिनी भवति

¤¤¤¤

इकाई -11
ईशावास्योपनिषद् का सार एवं महत्व

संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 उपनिषद् परिचय
11.4 ईशावास्योपनिषद् का सार
- स्वयं आकलन प्रश्न
11.5 ईशावास्योपनिषद् का महत्व
- स्वयं आकलन प्रश्न
11.6 सारांश
11.7 कठिन शब्दावली
11.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
11.9 सहायक ग्रन्थ
11.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

ईशावास्योपनिषद् भारतीय दर्शन के प्रमुख ग्रंथों में से एक है, जिसमें गहन आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान समाहित है। यह उपनिषद् हमें आत्मा, ब्रह्म, और सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को समझने की दिशा में मार्गदर्शन करता है। प्रस्तुत ईकाई में ईशावास्योपनिषद् के सार एंव महत्व का विवेचन किया जा रहा है। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का ५० सवां अध्याय है। ईश्वर का प्रतिपादन पहले ही मन्त्र में होने के कारण इसका नाम ईशावास्योपनिषद् रखा गया ।इस उपनिषद् में भगवान के तत्वरूप ज्ञान का निरूपण किया गया है। जीवन जीने की कला एवं श्रेष्ठ जीवन के निर्माण के सूत्र ही इस उपनिषद् की विशेषता है। इसमें यह बतलाया गया है कि संसार में मनुष्य को त्यागपूर्वक भाव से कर्म करते हुए 100 वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। इस उपनिषद् में जीवन पर्यन्त निष्काम भाव से कर्म सम्पादन का ही उपदेश दिया गया है । इसमें आत्म-ज्ञान कर्म और उपासना का समन्वय है। ईशावास्योपनिषद् का महत्व न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से है, बल्कि यह जीवन के हर पहलू में मार्गदर्शन प्रदान करता है। पाठकों की सुविधा के लिए प्रस्तुत ईकाई में ईशावास्योपनिषद् के सार एवं महत्व का वर्णन किया जा रहा है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य है -

- ब्रह्म जीव और जगत का ज्ञान करवाना

• सत्यधर्म को जानना

• सांस्कृतिक धरोहर एवं सामाजिक जीवन के मूल्यों से परिचित करवाना।

• सामाजिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना

• मनुष्य को आध्यात्मिक जागरुकता, नैतिकता, और समर्पण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना ।

11.3 उपनिषद परिचय -

अखिल ब्रह्माण्ड में स्थित मानव समाज को नव चेतना देकर आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करने का श्रेय उपनिषद् को प्राप्त है।भारतीय ज्ञान परम्परा का श्रेष्ठतम समृद्ध स्त्रोत के रूप में उपनिषद् प्रकट होते हैं। मानव जीवन की जिज्ञासाओं का अतीव सुन्दर वर्णन उपनिषदों में मिलता है। जीवन, जन्म एवं ब्रह्माण्ड की उत्पति से लेकर, जीवन के लक्ष्य उद्देश्य, सुख-दुःख का दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक रूप से विवेचन के केन्द्रविन्दु उपनिषद है। उपनिषद वेदो की आत्मा माने जाते है और इनका अध्ययन व्यक्ति को जीवन के गहरे रहस्य को समझने और आत्मज्ञान प्राप्त करने की दिशा में प्रेरित करता है।

'षद्लृ विशरणगत्यावसादनेषु" उपनिषद् शब्द उप और नि उपसर्ग पूर्वक 'सद, धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर बनता है। इसका अर्थ है उप- समीप, नि = निश्चय से या निष्ठापूर्वक सद् बैठना, अर्थात् तत्वज्ञान के लिए गुरु के पास सविनय बैठना। अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। वह उपनिषद् है ।

मुक्तिकोपनिषद् में मुख्यतः इन उपनिषदों के नाम हैं-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं वृहदारण्यक। इन दस उपनिषदों पर ही आचार्य शंकर का भाष्य मिलता है। आरण्यकों के उपरान्त वैदिक साहित्य में उपनिषदों का सर्जन हुआ। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त कहा जाता है। जीवन के वास्तविक सत्यों का जो अन्वेषण वेदों से प्रारम्भ हुआ था वह ब्राह्मण, आरण्यकों की सीमाओं को पार करता हुआ उपनिषद् काल में चरमोत्कर्ष पर आ गया। उपनिषदों में कर्म-काण्ड की अपेक्षा ज्ञान का ही वर्णन अधिक है। अतः उन्हें उत्तर-मीमांसा कहा जाता है।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य है ब्रह्म, जो औपनिषद् ऋषियों के मत से परम सत्य है, अन्तिम तत्व है। परमतत्त्व का ज्ञान देने के कारण ही इन्हें परा विद्या अथवा उसका प्रतिपादक कहा जाता है। कर्म-विषयक अपरा विद्या का भी उपनिषदों में वर्णन है परन्तु गौण रूप से। यद्यपि कर्म से मोक्ष की प्राप्ति उपनिषदों को मान्य या अभिमत नहीं है, तथापि निष्काम भाव से किए जाने पर चूंकि ये कर्म चित्त-शुद्धि के साधन या हेतु बनते हैं जिसके अभाव में परा विद्या और उसके साध्य परमतत्त्व की प्राप्ति असंभव है, अतः उपनिषदों में कर्म-विषयक अपरा विद्या का भी वर्णन किया गया है। इस संबंध में मुण्डकोपनिषदत्- स्थित एतद्विषयक शौनक-अङ्गिरा संवाद अवधेय है। जिस 'अक्षर' - अविनाशी-तत्व को परा विद्या का विषय कहा गया, उसे अगले (छठे) मंत्र में ही महर्षि अङ्गिरा द्वारा अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र अर्थात् मूल-रहित, अचक्षुः श्रोत्र, अपाणिपाद, नित्य, विभु (ब्रह्मा ा से लेकर स्थावरपर्यन्त अनन्तरूप धारण करने में समर्थ) सर्वव्यापी, अव्यय (अपचयादि विकारों से रहित) तथा समस्त भूतों की योनि बताया गया है। यही वह परमतत्त्व, अक्षर-अविनाशी ब्रह्म है जो परम सत्य के रूप में उपनिषदों में प्रतिपादित है। इस प्रकार सत्यान्वेषण उपनिषदों का परम लक्ष्य है और यही दर्शनशास्त्र की मूल समस्या है जिसका समाधान उपनिषदों का मुख्य अथवा केन्द्रीय विषय है।

इस प्रकार उपनिषद् भारतीय दर्शन की नींव कहे जा सकते हैं। इसी नींव के ऊपर. प्राचीन-अर्वाचीन अनेक विचार-धाराओं एवं धार्मिक एवं धार्मिक सम्पदायों की अट्टालिकायें खड़ी हैं। ये उपनिषदें भारतीय तत्व-चिन्तन के क्षेत्र में प्रथम सोपान के रूप में समान हैं। वेदान्त-दर्शन के तीन 'प्रस्थानों' (भागो) श्रुक्ति, युक्ति और स्मृति में से प्रथम प्रस्थान-स्थानीय उपनिषदें ही हैं। 'श्रुति' होने से ये वेदान्त के प्रथम सोपान के रूप में समाप्त हैं। तत्व-चिन्तन के क्षेत्र में इनका अद्वितीय अवदान है। इन' पर आधृत बादरायण-कृत ब्रह्मसूत्र युक्ति-स्थानीय द्वितीय प्रस्थान है। इसमें उपपत्तियों, तर्कों एवं न्यायों के आधार पर श्रुत्युक्त तथ्यों तथा सत्यों की जांच-परख की गई है। तदनन्तर ही इनकी प्रामाणिकता स्थापित की गई है। स्मृति-स्थानीय श्रीमद्भागवद्गीता इन तथ्यों का उपोद्बलक है, समर्थक है।

11.4 ईशावस्योपनिषद् का सार

यह उपनिषद् सभी उपनिषदों का आधार है। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत एक उपनिषद है। यह मूलरूप में यजुर्वेद का 40वाँ अध्याय है तथा इसमें 18 मंत्र हैं। ईशावस्योपनिषद् को संहितोपनिषद कहा जाता है । यह उपनिषद् अपने नन्हें कलेवर के कारण अन्य उपनिषदों के बीच बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें कोई कथा-कहानी नहीं है केवल आत्म वर्णन है। इस उपनिषद् के पहले मंत्र **"ईशावास्यमिदंसर्वंयत्किंच जगत्यां-जगत..."** से लेकर) अठारहवें मंत्र **"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्..."** तक शब्द-शब्द में मानों ब्रह्म-वर्णन, उपासना, प्रार्थना आदि झंकृत है। एक ही स्वर है- ब्रह्म का, ज्ञान का, आत्म-ज्ञान का। अद्भुत कलेवर वाले इस उपनिषद् में ईश्वर के सर्वनिर्माता होने की बात है सारे ब्रह्मांड के मालिक को इंगित किया गया है, सात्विक जीवनशैली की बात कही गई है कि दूसरे के धन पर दृष्टि मत डालो। इस जगत् में रहते हुए निःसंङ्गभाव से जीवनयापन करने को बताया गया है।

इसके प्रथम मंत्र में संसार में ईश्वर की व्यापकता को विवेचित किया गया है। ऋषि के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप निखिल प्रपंच ईश्वर की सत्ता से व्याप्त है तथा प्राणिमात्र को परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट अनुशासन में रहकर ही अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यकर्मों का सम्पादन करना चाहिये। इस मंत्र में सह अस्तित्व की भावना का उपदेश दिया गया है।

दूसरे मंत्र के अनुसार अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यों का सम्पादन् करते हुए मानव को शतायु होने की कामना करनी चाहिए। कर्मासक्ति एवं फलासक्ति का परित्याग कर कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करने पर मानव उसके फलों से लिपायमान्, नहीं होने के कारण गमनागमनरूप भवचक्र से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। यह मंत्रगीतोक्त निष्काम कर्म का बीज है जिसका पल्लवन भगवान् व्यास ने सम्पूर्ण गीता में, विशेषतः तृतीयाध्याय में किया है।

इसके तृतीय मंत्र में माया (अविद्या) के स्वरूप का प्रतिपादनपूर्वक मायाग्रस्त जीवों की दुर्दशा घोर दुर्दशा का वर्णन है। जिससे वे सदा के लिए जन्म एवं मरणरूप संसृति में बारम्बार गमनागमन् करते रहते हैं।

कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी अविद्या के जाल में पतित् जीवों की कुटिल गतियों का निरूपण किया गयाहै:-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

इसमें 'असूर्या' नामक लोक की बात आती है असुर्या मतलब कि सूर्य से रहित लोक। वह लोक जहाँ सूर्य नहीं पहुँच पाता, घने, काले अंधकार से भरा हुआ अन्धतम लोक, अर्थात् गर्भलोक। कहा गया है कि जो लोग आत्म को, अपने 'स्व' को नहीं पहचानते हैं, आत्मा को झुठला देते हैं, नकार देते हैं और इसी अस्वीकार तले पूरा जीवन बिताते हैं उन्हें मृत्यु के पश्चात् उसी अन्धतम लोक यानि कि असूर्या नामक लोक में जाना पड़ता है अर्थात् गर्भवास करना पड़ता है, फिर से जन्म लेना पड़ता है।

चतुर्थ मंत्र अकल, अनीह, अक्रियय, शान्त अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इसी परमेश्वर की अध्यक्षता में संसार के सारे क्रियाकलाप संपादित होता आ रहा है।

पंचम् मंत्र में ब्रह्म की अनिर्वचनीयता तथा उसके सर्वभवनयोग्यता की व्याख्या की गई है। वह निरूपाधिक तत्त्व गति एवं स्थिरभाव से युक्त, दूर तथा सन्निकट तथा जगत् के समस्त वस्तुओं में अनुस्यूत तथा उससे परे भी है। इसमें ब्रह्म के सर्वव्यापी तथा सर्वातीत रूपों का वर्णन किया गया है।

आगे के मंत्रों में विद्या, अविद्या, असम्भूति-सम्भूति इत्यादि दार्शनिक तत्त्वों का निरूपणपूर्वक इसके यथातथ्य से अनभिज्ञ जीवों की दुर्दशा का वर्णन है। अविद्या के उपासकों की दुर्गति तथा विद्यापरायणों की घोर दुर्गति का वर्णन उपस्थापित् करके भगवती श्रुति ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय पर बल देती है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में एक और ईश्वर को सर्वनिर्माता मानकर स्वयं को निमित्त मात्र बनकर जीवन जीने का इशारा करता है, तो दूसरी ओर आत्म को न भूलने को इंगित करता है। इसके बाद आत्म को निरुपित करने का तथ्य आता है कि 'वह' अचल है साथ ही मन से भी ज्यादा तीव्रगामी है। यह आत्म(ब्रह्म) सभी इंद्रियों से तेज भागने वाला है। इस उपनिषद् में आत्म/ब्रह्म को 'मातरिश्वा' नाम से इंगित किया गया है, जो कि सभी कार्यकलापों को वहन करने वाला, उन्हें सम्बल देने वाला है। 'आत्म' के ब्रह्म के गुणों को बताने के क्रम में यहाँ यह बताया गया है कि वह एक साथ, एक ही समय में भ्रमणशील है, साथ ही अभ्रमणशील भी।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

वह पास है और दूर भी। यहाँ उसे कई विशेषणों द्वारा इंगित किया गया है कि बहु सर्वव्यापी, अशरीरी, सर्वज्ञ, स्वजन्मा और मन का शासक है। इस उपनिषद् में विद्या एवं अविद्या दोनों की बात की गई है उनके अलग-अलग किस्म के गुणों को बताया गया है साथ ही विद्या एवं अविद्या दोनों की उपासना को वर्जित किया गया है यहाँ यह साफ- साफ कहा गया है कि विद्या एवं अविद्या दोनों की या एक की उपासना करने वाले घने अंधकार में जाकर गिरते हैं साकार की प्रकृति की उपासना को भी यहाँ बर्जित माना गया है लेकिन विद्या एवं अविद्या को एक साथ जान लेने वाला, अविद्या को समझकर विद्या द्वारा अनुष्ठानित होकर मृत्यु को पार कर लेता है, वह मृत्यु को जीतकर अमृतत्व का उपभोग करता है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

यह स्वीकारोक्ति यहाँ है। इसमें सम्भूति एवं नाशवान् दोनों को भलीभाँति समझ कर अविनाशी तत्व प्राप्ति एवं अमृत तत्व के उपभोग की बात कही गई है। इस उपनिषद् के अंतिम श्रोकों में बड़े ही सुंदर उपमान आते हैं-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

ब्रह्म के मुख को सुवर्ण पात्र से टंगे होने की बात साथ ही सूर्य से पोषण करने वाले से प्रार्थना की। सुवर्णपात्र से टंगे हुए उस आत्म के मुख को अनावृत कर दिया जाए ताकि उपासक समझ सके, महसूस कर सके कि वह स्वयं ही ब्रह्मरूप है और अंतिम लोकों में किए गए सभी कर्मों को मन के द्वारा याद किए जाने की बात आती है और अग्नि से प्रार्थना कि पञ्चभौतिक शरीर के राख में परिवर्तित हो जाने पर वह उसे दिव्य पथ से चरम गंतव्य की ओर उन्मुख कर दे। ईशोपनिषद् बतलाती है कि मनुष्य को अपना सम्पूर्ण जीवन कर्म करते हुए ही व्यतीत करना चाहिए। उसे शतायु होने की महत्वाकांक्षा मन में धारण करनी चाहिए और कर्तव्य कर्म न त्यागते हुए नित्यप्रति शास्त्रानुकूल और धार्मिक कर्मों के अनुष्ठान में संलग्न होना चाहिए। कर्मयोग का उपदेश ईशोपनिषद् का वह नैतिक आदर्श है, जो विद्वानों द्वारा बहुशः व्याख्यात रहा है और श्रीमद्भगवद्गीता के मुख्य प्रतिपाद्य का आधार है। इसमें संदेह नहीं है कि उपनिषद्कार ने उसे आत्मानुभूति के लिए एक महत्वपूर्ण सोपान के रूप में में उपन्यस्त किया है। कर्ममय जीवन और निष्कर्मता के लक्ष्य के बीच की कड़ियां स्पष्ट रूप से प्रदान नहीं करती है।

प्रो. रानाडे के शब्दों में, 'यह वह संकेत नहीं करती है कि कर्म के मध्य में निष्कर्मता की सिद्धि कर्मानुराग के त्याग से तथा कर्मफल की कामना के नाश से प्राप्त हो सकती है। फिर भी यह स्पष्ट है कि ईशोपनिषद् अन्य उपनिषदों से बहुत आगे बढ़ जाती है, जब वह कर्ममय जीवन के माहात्म्य का गुणगान करती है। इसमे सभी प्राणियों में समत्व-भावना का आदर्श विशेष रूप से स्थापित किया है। सब प्राणियों के अन्तरात्मा रूप से ही एक आत्मा सब प्राणियों के अनुरूप हो गया है। वह है एक, किन्तु अनेक रूपों में भासता है। एक ही अनेक हो गया है। अतएव एक में अनेक और अनेक में एक आत्मा का दर्शन करना चाहिए। उपनिषद् के छठे और सातवें मंत्र में सर्वात्मभावना के परिणाम का वर्णन है। जिसके लिए सव आत्मा ही हो जाता है। शान्तिपाठ का अन्तर्हित भाव है कि आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा का स्वरूप भी ब्रह्म के स्वरूप की भांति अनन्त है। अनात्मदर्शी पुरुष सदैव शोक और मोह को प्राप्त करता है। प्राणियों में भेदबुद्धि तो निःश्रेयम्-प्राप्ति में बाधक है। सर्वात्मभाव आत्मलाभ का सर्वोत्तम साधन है। अतएव आत्मा की एकता को जानकर सर्वत्र आत्मवत् व्यवहार करना चाहिए।

इस उपनिषद् में दो निष्ठाओं-ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का पृथकतया प्रतिपादन माना है। उनके मत में कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग एक व्यक्ति द्वारा एक ही समय में नहीं अपनाए जा सकते हैं। भेदबुद्धि की समाप्ति और सर्वत्र अभेददृष्टि की उपलब्धि 'ज्ञान' है। मोक्ष कर्मों का त्याग करके केवल आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। यह निश्चित सिद्धानत है कि कर्मयुक्त ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता है। शंकरमत में ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद सयुक्तिक भूरिशः खण्डनीय है। वहां कर्मों की स्थिति ज्ञान से पर्याप्त भिन्न है। सब प्रकार से कर्म, नैतिक, आचरण, योग, ध्यान आदि चित्त-शुद्धि के उपाय हैं। इसी अर्थ में कर्मों की उपयोगिता है। कर्म फलाभिलाषा छोड़कर ईश्वरार्पणबुद्धि से किए जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं। शुद्धचित्त में ज्ञानोदय की योग्यता उत्पन्न होती है; फलतः साधक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। अतएव शंकर ने कर्मों को परम्परा या मोक्ष प्राप्ति में सहायक माना है। उन्होंने अद्वैतवेदान्त के इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में प्रकृत उपनिषद् के मंत्रों की व्याख्या की है। शाङ्करभाष्यानुसार प्रथम मंत्र में ज्ञाननिष्ठा का उपेदश है-जो साधक संन्यास में समर्थ है और ज्ञान प्राप्त कर सकता है, उसके लिए सम्पूर्ण एषणाओं का त्याग करते हुए ज्ञाननिष्ठा उत्कृष्ट मार्ग के रूप में आदिष्ट है। द्वितीय मंत्र में कर्मनिष्ठा का वर्णन है जो आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ है और जीने की इच्छा रखता है, उसके लिए ज्ञाननिष्ठा संभव न होने से कर्मनिष्ठा ही एकमात्र आचरणीय है। दोनों के पृथक् पृथक् फल हैं। मोक्ष ज्ञान से मिलता है, तो शास्त्रों के अनुसार किए गए कर्म चित्त-शुद्धि द्वारा मनुष्य में ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न करते हैं। तीसरे से आठवें तक के मंत्र उन

संन्यासियों के लिए कहे गए हैं, जिन्होंने आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए संसार का त्याग कर दिया है। आत्मज्ञान शून्य जन निन्दनीय हैं, वे आत्मघातरूप दोष के कारण अज्ञान से आच्छादित लोकों को प्राप्त करते हैं। आत्मा एक और सर्वव्यापक है। जो आत्मा के विशुद्ध एकत्व को भली-भांति देखता है, उसके लिए शोक और मोह अर्थात् कारण सहित संसार का ही अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। नवें मंत्र से चौदहवें तक के मंत्र उनके लिए हैं, जो संन्यास-मार्ग नहीं अपना पाते हैं। इनमें कर्मनिष्ठ जन के लिए अधिक से अधिक फल प्राप्त करने के उद्देश्य से कर्म की उपासना के समुच्चय का उपदेश है। इससे ही वह देवत्वभाव को प्राप्त कर सकता है, जिसे 'अमृत' कहा गया है। इसी प्रकार कर्मठ पुरुष कारण प्रकृति और कार्यब्रह्म की उपासनाओं के समुच्चय के फलस्वरूप प्रकृतिलय रूप 'अमृत' प्राप्त कर सकता है। अद्वैतमत में उपासनाओं के समुच्चय द्वारा प्राप्तव्य यही परम फल है। अन्तिम चार मंत्रों में कार्यब्रह्म की उपासना करने वाला और शास्त्रोक्त कर्म करने वाला मरणोन्मुख उपासक आदित्यसे आत्मप्राप्ति के द्वार की याचना करता है और साथ ही अग्नि से गमनागमनवर्जित शुभमार्ग से ले जाने की प्रार्थना करता है। अतएव ईशोपनिषद् न केवल आत्मज्ञान की महिमा की प्रतिष्ठा करती है, अपितु यह कर्मनिष्ठ जनों के लिए कर्मयोग के स्वरूप की विधिवत् व्याख्या भी करती है। उपनिषद् के द्वितीय मंत्र में आदिष्ट वाक्य 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा' गीता के निष्काम कर्मयोग का आधार है।

सिद्धान्तालङ्कार ने तो ईशोपनिषद् के महत्व-विवेचन में विविध द्वन्द्वों के समन्वय को ही प्रमुख तथ्य स्वीकार किया है। उनका प्रतिपादन है- 'इस उपनिषद् में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुणब्रह्म-निर्गुणब्रह्म-इनका समन्वय ही यथार्थ दृष्टि है। मानव-समाज की प्रवृत्ति एकाङ्गी दिखाई देती है। कुछ लोग भोग के पीछे, कुछ त्याग के पीछे, कुछ लोग इहलोक, कुछ लोग परलोक, कुछ लोग अविद्या, कुछ लोग विद्या, कुछ व्यक्तिवाद, कुछ समष्टिवाद के पीछे भागते हैं। उपनिषत्कार की दृष्टि समन्वयात्मक है। इसके साथ ही इस उपनिषद् में तीन और बातें बड़े महत्व की कही गई हैं। पहली महत्व की बात यह कही गई है कि इस संसार में हमें कर्म करते हुए जीना है, परन्तु कर्मफल से बंध नहीं जाना है। दूसरी बात जो इस उपनिषद् में कही गई है, यह है कि भौतिक विज्ञान अर्थात् अविद्या से केवल मृत्यु से तर सकते हैं, 'अमृत' नहीं प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं। अमरता तो 'अध्यात्मज्ञान' से ही प्राप्त होती है और वही वास्तविक विद्या है।.... तीसरी महत्व की बात यहां यह कही गई है कि व्यक्तिवाद (असम्भूति) से मनुष्य केवल मृत्यु से बच सकता है। अमरता प्राप्त करने के लिए समष्टि (सम्भूति) में अपने को मिटाना होगा। समाज को अपने लिए नहीं, परन्तु अपने को समाज के लिए साधन बनाना होगा।

आधुनिक सामाजिक संदर्भ में इस उपनिषद् को सामान्य मनुष्य और जनजीवन से जोड़ने का प्रयास करते हुए श्री वेंकटराव रायसम् ने इसे 'उपनिषद्-घोषणपत्र' कहा है और इसकी व्याख्या करते हुए बड़ी कुशलता के साथ इसे भारत के प्रजासत्तात्मक राज्य, सामाजिक व्यवस्था, वैयक्तिक अधिकार कर्तव्य इत्यादि विषयों का प्रतिपादक बताया है। श्रीपाद सातवलेकर द्वारा इस उपनिषद् के आधार पर प्रस्तुत की गई आध्यात्म-तत्त्वज्ञान पर अधिष्ठित राज्य शासन की विशद मीमांसा को भी लगभग इसी दृष्टिकोण में समझा जा सकता है।

ईशोपनिषद् विश्वात्माओं का साहित्य एवं विचार है, जो सिद्धान्त मात्र नहीं अपितु सभी मनुष्यों के लिए पोषण-योग्य है। यह मनुष्य के विशालता एवं पूर्णता का परिचायक है। यह अलग बात है कि हमारी दुर्बलताओं ने हमें इस दर्शन के सूक्ष्म वातावरण में बहुत समय व्यतीत करने का अवसर नहीं दिया है। यह उपनिषद् नैतिक तथा आध्यात्मिक पूँजी के साथ ही भौतिक पूँजी को अबाध्य बढ़ाते रहने में सहायक है। यह हमारे व्यक्तित्व का निर्माण कर आन्तरिक समृद्धि प्रदान करनेवाला है। आज हमें इसी प्रकार की शिक्षा का अनुकरण करना होगा। तभी समस्त राष्ट्र एक नवीन शक्ति और शुद्ध इच्छा-शक्ति की तरंगों का अनुभव करेगा। भारत को अपनी जागृति की ऊर्जाओं को सर्वत्र मानव सेवा की रचनात्मक धाराओं में बहाने के लिए वेदान्त के इस गहन-दृष्टि की आवश्यकता है। ईशोपनिषद् का यह महान् विचार जो अभी तक अल्पसंख्यक वर्ग की सम्पदा रही है, अब उन्हें प्रत्येक देश के प्रत्येक मनुष्य की संपदा बनानी होगी। भारत की जहाँ तक बात है उपनिषदीय शिक्षा आज भारतीय मन की सर्वोच्च आकांक्षाओं का प्रतिभू बनकर खड़ा है, उसका आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों क्षेत्रों में कोई विरोध नहीं है।

ईशोपनिषद् का संदेश एक सर्वग्राही आध्यात्मिकता का संदेश है जो मानवीय जीवन के प्रत्येक पक्ष और मानवीय उद्यम के प्रत्येक क्षेत्र को ऊर्जित करने में समर्थ

उपनिषदों की शिरोमणि **'ईशावास्योपनिषद्'** का हिन्दू धर्म के लिए तो विशेष रूप से अति महत्व है। इस विषय में निदर्शनार्थ महात्मा गांधी का एक कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त है-'अब मैं इस अन्तिम निर्णय तक पहुंचा हूं कि यदि सारी उपनिषदें और दूसरे अन्य शास्त्र नष्ट हो जाते हैं, और यदि ईशोपनिषद् का प्रथम मंत्र ही हिन्दुओं की स्मृति में सुरक्षित रह जाता है तो भी हिन्दुत्व सदासर्वदा जीवित रहेगा।' वस्तुतः इस उपनिषद् के विद्वानों द्वारा वर्णित अनेकानेक महत्व इसके गंभीर प्रतिपाद्य और विलक्षण प्रतिपादन शैली पर ही सर्वथा केन्द्रित हैं।

•स्वयं आकलन प्रश्न

अभ्यास प्रश्न 1

1) ईशावास्योपनिषदः सम्बन्धः कस्मात् वेदात् वर्तते ?

2)ईशावास्योपनिषदः मुख्यः विषयः कः मुख्यविषयाः सन्ति।?

3) ईशावास्योपनिषदि कति मन्त्राः सन्ति ?

4) आचार्य शंकरेण कति उपनिषदां भाष्यः कृतः

11.5 महत्व

ईशावास्योपनिषद् का महत्व वेदांत दर्शन में अत्यंत महत्वपूर्ण है। ईशावास्योपनिषद् का अध्ययन और उसकी शिक्षाओं का पालन व्यक्ति के जीवन को संतुलित, सुखमय और अर्थपूर्ण बनाता है। यह हमें अपने आंतरिक और बाह्य जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है, जिससे हम एक उच्चतर आध्यात्मिक और नैतिक स्तर पर पहुँच सकते हैं ।

• **ईश्वर की सर्वव्यापकता** : ईशावास्योपनिषद् यह सिखाता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का वास है। "ईशावास्यमिदं सर्वं" इस उपनिषद का प्रमुख सूत्र है, जिसका अर्थ है कि सब कुछ ईश्वर से आवृत्त है।

• **ब्रह्म और जगत का संबंध:** यह उपनिषद् बताता है कि जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। सब कुछ ब्रह्म का ही स्वरूप है और उसे ही देखना चाहिए।

• **त्याग और उपभोग का संतुलन** : यह उपनिषद् यह शिक्षा देता है कि व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए, त्याग की भावना को अपनाना चाहिए। भोग-विलास के बजाय त्याग का महत्व बताया गया है।

• **कर्म और ज्ञान का समन्वय** : इसमें कर्मयोग और ज्ञानयोग का समन्वय दिखाया गया है। यह बताता है कि कर्म करते हुए भी व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है।

• **मृत्यु और अमरता का विवेचन** : ईशावास्य उपनिषद् जीवन और मृत्यु के रहस्यों पर प्रकाश डालता है और आत्मा की अमरता पर बल देता है।

• **आध्यात्मिकता और मोक्ष** : यह उपनिषद् आध्यात्मिकता के महत्व को रेखांकित करता है और मोक्ष (मुक्ति) की प्राप्ति के मार्ग को स्पष्ट करता है।आत्मज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

ईश उपनिषद् अपने प्रथम मन्त्र में ही मस्त उपनिषदों के केन्द्रीय विषय अर्थात् आध्यात्मिक एकता तथा समस्त विश्वैकता को समाविष्ट करती है। ईश के छह मन्त्र (६-१४) धर्म, जीवन और चरित्र पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव बताते हैं। इन मन्त्रों का आशय द्वन्द्वात्मक व्यवहार को समाप्त करना है। इनमें विचार और व्यवहार के समन्वय की व्याख्या है। ये छह मन्त्र संकेत और परामर्श द्वारा कर्म तथा उपासना, क्रिया तथा आध्यात्मिक ध्यान के विरोध का समन्वयन करने का प्रयत्न करते हैं।' इस उपनिषद् में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुणब्रह्म-निर्गुणब्रह्म- इनका समन्वय ही यथार्थ दृष्टि है। मानव-समाज की प्रवृत्ति एकाङ्गी दिखाई देती है। कुछ लोग भोग के पीछे, कुछ त्याग के पीछे, कुछ लोग इहलोक, कुछ लोग परलोक, कुछ लोग अविद्या, कुछ लोग विद्या, कुछ व्यक्तिवाद, कुछ समष्टिवाद के पीछे भागते हैं। उपनिषत्कार की दृष्टि समन्वयात्मक है। इसके साथ ही इस उपनिषद् में तीन और बातें बड़े महत्त्व की कही गई हैं। पहली महत्त्व की बात यह कही गई है कि इस संसार में हमें कर्म करते हुए जीना है, परन्तु कर्मफल में बंध नहीं जाना है। दूसरी बात जो इस उपनिपद में कही गई है, यह है कि भौतिक विज्ञान अर्थात् अविद्या में केवल मृत्यु से तर सकते हैं, 'अमृत' नहीं प्राप्त कर सकते । विज्ञान द्वारा मृत्यु में बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं। अमरता तो 'अध्यात्मज्ञान' से ही प्राप्त होती है और वही वास्तविक विद्या है।... तीसरी महत्त्व की बात यहाँ यह कही गई है कि व्यक्तिवाद (असम्भूति) से मनुष्य केवल मृत्यु से बच सकता है। अमरता प्राप्त करने के लिए समष्टि (सम्भूति) में अपने को मिटाना होगा । समाज को अपने लिए नहीं, परन्तु अपने को समाज के लिए साधन बनाना होगा।

ईशोपनिषद् मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा पूर्ण होना सिखाता है। हमारे समस्त सुख-दुःखों एवं संघर्षों के बीच एक कौतुहलतापूर्ण तथ्य यह है कि निःसन्देह हम मुक्ति की ओर यात्रा करना चाहते हैं। केवल मनुष्य ही वह प्राणी है जिसे अपने भीतर की अपार शक्तियों का बोध है। बन्धन के बोध एवं मुक्ति के बोध का यह संघर्ष ही जीवन की सब मनोहारिता, उत्साह, कामादियाँ, सपने एवं सूक्ष्मदृष्टियाँ प्रदान करता है, यही मानव जीवन का वास्तविक अर्थ है, किन्तु यह संघर्ष चिरंतन नहीं है। मनुष्य इस संघर्ष के दलदल में सर्वदा धंसे रहने को अभिशप्त नहीं है क्योंकि आध्यात्मिक दर्शन की दृष्टि से यह संघर्ष मनुष्य के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा की पाठशाला बन जाता है। तब, मनुष्य अपने जीवन के प्रयोजन में स्पष्टता एवं इच्छाशक्ति में दृढ़ संकल्प लाता है और आध्यात्मिक साक्षात्कार द्वारा सच्ची मुक्ति और आनन्द की उपलब्धि

करता है। मुक्ति मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है जिसे वह आध्यात्मिक विकास क्रम की लम्बी प्रसव पीड़ा के बाद पुनः प्राप्त करता है।

उपनिषदों की शिरोमणि 'ईशावास्योपनिषद्' का हिन्दू धर्म के लिए तो विशेष रूप से अतिमहत्त्व है। इस विषय में निदर्शनार्थ **महात्मा गांधी** का यह कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त है 'अब में इस अन्तिम निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यदि सारी उपनिषदें और दूसरे अन्य शास्त्र नष्ट हो जाते हैं, और यदि ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र ही हिन्दुओं की स्मृति में सुरक्षित रह जाता है तो भी हिन्दुत्व सदासर्वदा जीवित रहेगा। वस्तुतः इस उपनिषद् के विद्वानों द्वारा वर्णित अनेकानेक महत्त्व इसके गम्भीर प्रतिपाद्य और विलक्षण प्रति-पादन शैली पर ही सर्वथा केन्द्रित हैं।

ईशावास्योपनिषद् की शिक्षा और दर्शन जीवन को अधिक संतुलित, धैर्यशील और सार्थक बनाने की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ईशावास्योपनिषद् केवल एक धार्मिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह जीवन जीने की कला, दर्शन और मार्गदर्शन का अद्वितीय स्रोत है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) ईशावास्योपनिषदः मुख्यः उपदेशः कः अस्ति?

2) ब्रह्म संसारेऽस्मिन् कुत्रास्ति ?

11.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि ये सारा संसार उस ईश्वर से व्याप्त है। प्राणी को हर समय बिना किसी प्रयोजन के कर्म करने में संलग्न रहना चाहिए। ।ईशावास्योपनिषद एक ऐसा ग्रंथ है जो आत्मज्ञान, त्याग, कर्मयोग, और अद्वैत वेदांत के सिद्धांतों का सजीव प्रदर्शन करता है। उपनिषद् हमें सिखाता है कि हमें अपने कर्तव्यों का पालन निष्काम भाव से करना चाहिए और सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसमें कर्मयोग की महत्ता, ज्ञान और अज्ञान के बीच अंतर, और गृहस्थ जीवन में संन्यास का पालन करने का मार्गदर्शन दिया गया है। ध्यान और आत्मानुभूति की महत्ता पर बल देते हुए, यह उपनिषद् आत्मा की पहचान और मोक्ष की प्राप्ति की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान करता है। संक्षेप में, ईशावास्योपनिषद् एक संतुलित और अर्थपूर्ण जीवन जीने का मार्ग दिखाता है जिसमें ईश्वर के प्रति समर्पण और कर्तव्यों का पालन मुख्य तत्व हैं।

11.7 कठिन शब्दावली

झंकृत = ध्वनित, झंकार युक्त	निसंगभाव =आलस्य रहित या अप्रवृत्ति
तीर्त्वा = पार करके	राये = धन अर्थात् कर्म फल भोग के लिए
असूर्या =असुर सम्बन्धी लोक	असम्भूतिः=अव्यक्त प्रकृति

11.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) यजुर्वेदात्
2) अष्टादश

3) ईश्वरस्य सर्वव्यापकत्वं, आत्मनः अमृतत्त्वं च अस्योपनिषदस्य मुख्यविषयाः सन्ति।

4) दश

अभ्यास प्रश्न 2

1)निष्कामकर्मयोगः

2) सर्वत्र

11.9 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

3) ईशावास्योपनिषद् ; डा॰ शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

11.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) ईशावास्योपनिषद् सारं लिखत।

2) ईशावास्योपनिषद्स्य महत्त्वं प्रतिपादयत।

3) ईशावास्योपनिषदस्य महत्त्वं वैशिष्ट्यं च निरूपयत।

¤¤¤¤

इकाई 12
ईश्वर की सर्वव्यापकता

संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 मंगलाचरण
12.4 सर्वत्र भगवदृष्टि उपदेश
• स्वयं आकलन प्रश्न
12.5 कर्म का स्वरुप: निष्काम कर्म
12.6 अज्ञानी की निंदा
• स्वयं आकलन प्रश्न
12.7 सारांश
12.8 कठिन शब्दावली
12.9 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
12.10 सहायक ग्रन्थ
12.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

यह बात संसारके प्रायः सभी विचारकोंको मान्य है कि मनुष्य- को आत्यन्तिक शान्ति बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिये तो उसे किसी अनन्त और निर्बाध सुखस्वरूप सत्ताकी ही शरण लेनी पड़ेगी। इस इकाई मे यह बतलाया गया है कि संसार में मनुष्य को त्यागपूर्वक भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। इस उपनिषद् में जीवन पर्यन्त निष्काम भाव से कर्म सम्पादन का ही उपदेश दिया गया है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का यह रहस्य हमें यह सिखाता है कि जब हम अपने चारों ओर ईश्वर की उपस्थिति को पहचानेंगे, तब हम आनंद और शांति को प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार, यह उपनिषद् हमें अपने जीवन के हर पहलू में ईश्वर की उपस्थिति को समझने और स्वीकारने की प्रेरणा देता है।यह इकाई पाठकों को ईश्वर की सर्वव्यापकता की अनुभूति कराने के साथ-साथ उन्हें आत्मज्ञान और मोक्ष की दिशा में प्रेरित करेगी।

12.2 उदेश्य

- सर्वप्रथम कर्म के विषय में जानना
- समस्त विषय भोंगों का त्याग कर आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देना।
- सकारात्मक दृष्टिकोण से बौद्धिक विकास कराना।
- जीवन जीने की कला सिखाना

12.3 मंगलाचरण

ईशिता सर्वभूतानां सर्वभूतमयश्च यः।
ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम् ॥
शान्तिपाठः
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ सच्चिदानन्दघन; अदः वह परब्रह्म; पूर्णम्-सब प्रकारसे पूर्ण है; इदम्-यह (जगत् भी); पूर्णम्पूर्ण (ही) है; (क्योंकि) पूर्णात् उस पूर्ण (परब्रह्म) से ही; पूर्णम्-यह पूर्ण; उदच्यते उत्पन्न हुआ है; पूर्णस्य पूर्णके; पूर्णम्-पूर्णको; आदाय निकाल लेनेपर (भी); पूर्णम् पूर्ण; एव ही; अवशिष्यते-बच रहता है।

व्याख्या- वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा- सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे ही पूर्ण है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण है, इसलिये भी वह परिपूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्ममेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

इस के माध्यम से हमें त्रिविध अर्थात् आधिभौतिक , आध्यात्मिक , आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःख से निवृत्ति प्राप्त हो यह कामना की गयी है। ऋग्वेदिक साहित्य में 'ऋचा' एक प्रमुख स्थान रखती है, जो वेदों के मंत्रों का आधारभूत अंग है। 'निरुक्त' शास्त्र के अंतर्गत 'ऋचाओं के प्रकार' विषय पर अध्याय का मुख्य उद्देश्य ऋचाओं की विविधता और उनके विभिन्न स्वरूपों को समझाना है। ऋचाओं के प्रकारों में मुख्यतः चार प्रकार माने गए हैं: प्रार्थना ऋचा, स्तुति ऋचा, आशीर्वचन ऋचा और यज्ञ ऋचा।प्रार्थना ऋचाओं का उपयोग देवताओं की स्तुति और उनसे वरदान प्राप्त करने के लिए किया जाता है। ये मंत्र श्रद्धा, भक्ति और आस्था के साथ उच्चारित होते हैं। स्तुति ऋचाओं में देवताओं की महिमा और उनके महान कार्यों का वर्णन किया जाता है, जिससे उनके गुणों का बखान होता है और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट होती है। आशीर्वचन ऋचाओं का उपयोग विशेष अवसरों पर आशीर्वाद देने के लिए किया जाता है, जो जीवन के विभिन्न पहलुओं में सुख, समृद्धि और कल्याण की कामना करती हैं। यज्ञ ऋचाएं यज्ञ और हवन के समय प्रयोग की जाती हैं, जो यज्ञ की प्रक्रिया को सफल बनाने और यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उच्चारित की जाती हैं।इस प्रकार, ऋचाओं के प्रकार विषय पर आधारित यह अध्याय वैदिक मंत्रों की व्यापकता और उनकी महत्ता को स्पष्ट करता है। इसके माध्यम से पाठक न केवल ऋचाओं के विभिन्न प्रकारों को समझ पाएंगे, बल्कि उनके धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व को भी जान सकेंगे। यह अध्ययन वेदों की गहराई और उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सरल और सुलभ रूप में प्रस्तुत करता है।

12.4 सर्वत्र भगवद्दृष्टि उपदेश

ॐ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। 1 ।।

जगत्याम् अखिल ब्रह्माण्डमें; यत् किं च जो कुछ भी; जगत्-जड- चेतनस्वरूप जगत् है; इदम् यह; सर्वम् समस्त; ईशा ईश्वरसे; वास्यम्-व्याप्त है; तेन उस ईश्वरको साथ रखते हुए; त्यक्तेन त्यागपूर्वक; भुञ्जीथाः

(इसे) भोगते रहो; मा गृधः = (इसमें) आसक्त मत होओ; (क्योंकि) धनम् धन-भोग्य-पदार्थ; कस्य स्वित्- किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है ॥ १॥

सरलार्थः-

इस संसार में जो कुछ जड़ एवं चेतन स्वरूप है वह सब उस ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। अतः त्यागपूर्वक भाव से उसका भोग कर ; किसी के धन की इच्छा मत कर क्योंकि यह धन भला किसका है अर्थात् किसी का नहीं।

:व्याख्या –

मनुष्योंके प्रति वेदभगवान्का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याणगुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है; सदा-सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण है (गीता ९।४)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १०। ३९, ४२)। यों समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए-सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्में ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल कर्तव्य-पालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात् - विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो। विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २। ६४; ३।९; १८।४६)। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलसे ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वरके हैं और उन्हींकी प्रसन्नताके लिये इनका उपयोग होना चाहिये।

शंकराचार्य कहते है; अपना मन केवल धर्म में लगाओ और त्यागभाव बढ़ाओ। जो तुम्हारा अपना नहीं, जो तुमने स्वयं नहीं कमाया उससे मन को हटा लो। जीवन को मजे के साथ स्वयं अपनी गाढ़ी कमाई के फलों के साथ भोग करो। लोभ से बचो क्योंकि उससे दूसरों का शोषण करने लगोगे। यह शोषक तथा शोषित दोनों का नैतिक जीवन ध्वंस कर देगा। यदि तुम अपने नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का विकास करना चाहते हो, जो जीवन का सच्चा लक्ष्य है, तो सब प्रकार की शोषण वृत्ति से बचना होगा। यह याद रखते हुए कि जीवन का सच्चा आनन्द नकारात्मक और सकारात्मक द्वन्द्व समीक्षा के द्वारा होता है अहं भाव तथा उसके मूल्यों को नकारते हुए एवं ब्रह्म के सार्वभौमिक मूल्यों को स्वीकारते हुए हम धन की ओर समर्पण भाव से जाते हैं। जब हम जीवन को स्वार्थी शोषण भाव से मुक्त करके देख सकेंगे केवल तब ही हम जीवन को सचमुच भोग सकते हैं। यह संसार आनन्दमय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और नहीं है, और उसी का उपभोग करने के लिए हम यहाँ है। सरल रूप से इसे हम इस प्रकार समझें कि जब व्यक्ति अपनी ही सांसारिक वस्तुओं आदि के प्रति ममत्वहीन हो जाया करता है तो वह किसी अन्य के धन आदि वस्तुओं को लेने की इच्छा क्यों करेगा? इस प्रकार की भावना भी उसके मन में नहीं आवेगी। इस भांति उसका मन तो स्वयं ही पवित्र हो जाएगा।

इस प्रकार एषणाओंसे रहित होकर तू गर्द्ध अर्थात् धनविषयक आकांक्षा न कर। किसीके धनकी अर्थात् अपने या पराये किसीके भी धनकी इच्छा न कर। यहाँ 'स्वित्' यह अर्थरहित निपात है।अथवा आकांक्षा न कर, क्योंकि धन भला किसका है? इस प्रकार इसका न आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है अर्थात् धन किसीका भी नहीं है जो उसकी इच्छा की जाय। यह सब आत्मा ही है- इस प्रकार ईश्वरभावनासे यह सभी परित्यक्त हो जाता है आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति ही आत्मा का पालन है। 'सब कुछ ब्रह्म है' इस बुद्धि से संन्यासपूर्वक आत्मा पालनीय है। अन्यत्र श्रुति कहती है- 'न कर्मणा न प्रजया घनेन त्यागेनैके

अमृतत्वमानशुः' । उस प्रसिद्ध त्याग या संन्यास द्वारा ही साधक अज्ञान श आत्मा पर आरोपित शोक-मोहादि से उसे मुक्त रख सकता है। आत्म प्राप्ति ही परम लाभ है। त्याग-भाव आत्मज्ञान का आधार है और आत्मज्ञान से ही आत्मप्राप्ति होती है। अतः समस्त मिथ्याभूत जगत् का परित्याग करके आत्मस्वरूप का अनुशीलन करना चाहिए। ब्रह्मानन्द ने अर्थ ग्रहण किया है कि 'में ही ब्रह्म हूँ' यह समझकर सभी कर्मों के संन्यास द्वारा आत्मा रक्षणीय है।' शङ्करानन्द की व्याख्या है कि इस जगत् के त्याग द्वारा ईश्वरतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए। । ॥ १ ॥

टिप्पणी

1) ईशा - ईश् (ऐश्वर्ये) $ क्विप् ; तृतीया विभक्ति एकवचन

अर्थात् ईश्वरेण - ईश्वर के द्वारा

2) वास्यम् - वस्- आच्छादने $ ण्यत्

अर्थात् आच्छादनीयम् - आच्छादन के योग्य

भुञ्जीथाः - भुज्, आत्मनेपदी, विधिलिङ, मध्यमपुरुष, एकवचन।

जगत्यां - जगत् + ङीप् जगती का सप्तमी, एकवचन। जगतम् = गम् + क्विप् (०), द्वित्व तुगागमः

('द्युतिगतिजुहोतीनां द्वे च' इतिक्विप्) । 'गमः क्वौ' इति म लोपः 'तुक्'।

- छन्द -अनुष्टुप् ।

भावार्थ:-

इस मन्त्र के कहने का भाव यह है कि इस संसार में रहते हुए हमें त्यागपूर्वक भाव से कर्म करना चाहिए क्योंकि यह सकल संसार उस ईश्वर से व्याप्त है। इस प्रकार उपर्युक्त श्रुति का यही तात्पर्य है कि आत्मवेत्ताको पुत्रादि एषणात्रय का त्याग करते हुए ज्ञाननिष्ठ रहकर ही आत्माकी रक्षा करनी चाहिये।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**
  - **अभ्यास प्रश्न 1**

1) सकलं जगत् केन व्याप्तमस्ति ?

2) मानवेन कति वर्षाणां जीवितुमिच्छा करणीया ?

12.5 कर्म का स्वरुप: निष्काम कर्म

संबंध

अब जो आत्मतत्त्वका ग्रहण करनेमें असमर्थ दूसरा अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह दूसरा मन्त्र उपदेश करता है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। 2 ।।

इह=इस जगत्में; कर्माणि-शास्त्रनियत कर्मोंको; कुर्वन् (ईश्वरपूजार्थ करते हुए; एव-ही; शतम् समाः सौ वर्षोंतक; जिजीविषेत्-जीनेकी इच्छा करनी चाहिये; एवम्-इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये); कर्म किये जानेवाले कर्म; त्वयि तुझ; नरे मनुष्यमें; न लिप्यते लिप्त नहीं होंगे; इतः इससे (भिन्न);
अन्यथा अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग; न अस्ति नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सके) ॥ २॥

सरलार्थ:-

यहाँ इस लोक में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार तुझ मनुष्य के लिए इसके सिवा कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है , जिससे तू कर्मों में भी लिप्त नहीं होगा।

व्याख्या –

पूर्व मन्त्रके कथनानुसार जगत्के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो

इस प्रकार जीनेकी इच्छा करनेवाले तुझ मनुष्य-मनुष्यत्वमात्रका अभिमान करनेवालेके लिये इस अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही [आयु बितानेके] वर्तमान प्रकारसे भिन्न और कोई ऐसा प्रकार नहीं है, जिससे अशुभ कर्मका लेप न हो। जिससे वह पुरुष कर्मसे लिप्त न हो। अतः अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करे।

इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है, अपने लिये नहीं - भोग भोगनेके लिये नहीं। यों करनेसे वे कर्म तुझे बन्धनमें नहीं डाल सकेंगे। कर्म करते हुए कर्मोंसे लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २। ५०,५१; ५। । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गतिमान् और नश्वर है। इसमें जो भी यह जड़चेतनात्मक जगत् दिखाई दे रहा है, वह नित्यपरिवर्तनशील और अस्थिर है। यह सब का सब सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, शक्तिशाली, अद्वितीय, शुद्ध, परिपूर्ण परब्रह्म से आच्छादन करने योग्य है। नानारूपों में प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से अभिव्याप्त है। ब्रह्म सबमें अनुस्यूत है। कोई भी अंश उससे रहित नहीं है। ईश्वर आत्मा होने से सर्वत्र और सबमें व्याप्त है। वह अन्तर्यामी रूप से सबका ईशन करता है। समस्त चराचर ईश्वरीय सत्ता के आश्रित है। जिस प्रकार जल के तल पर एक बुलबुला उत्पन्न होता है, कुछ देर उस पर नाचता है और फिर अदृश्य हो जाता है; जल से वह आया, वहाँ से आकर अभी जल ही है और अन्त में जल में ही लौट जाता है। जल ही बुद्बुद् का क्षणिक वास्तविक स्वरूप है। उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित है और उसी में लय हो जाता है । ब्रह्म ही इस जगत् का वास्तविक स्वरूप है। जगत् के भिन्न-भिन्न नाम और रूप अनन्त सत्य की महत्ता के उदाहरण है। दृश्यमान् यह जगत् मिथ्या है और उसके पीछे का सत्य अविनाशी है।

आत्म-साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्मज्ञान के लिए जीव को कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम करना अत्यावश्यक है। सत्य का पालन करना, किसी की वस्तु का अपहरण न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, हिंसा से विरक्त रहना, माता-पिता, अतिथियों को देवता के समान आदर करना, निन्दनीय कर्मों को न करना, संसार के विषयों को ब्रह्मज्ञान का शत्रु समझना इत्यादि कर्मों के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के लिए अपने अन्तःकरण को हर तरह से पवित्र रखना अत्यावश्यक है

आचार्य शङ्कर कर्मानुष्ठान का उपदेश देते हैं। इस मंत्र में कर्म शब्द का अभिप्राय शुभ कर्मों से है। अर्थात् अशुभ कर्मों का परित्याग कर शुभ कार्यों में जीवन को लगाना चाहिए। शुभ कर्मों में नित्य-कर्म (प्रतिदिन जो नियत समय में किये जाते हैं) एवं नैमित्तिक-कर्म(पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्य) आते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति हेतु त्यागपूर्वक कर्म करना चाहिए। सकाम-कर्म

मनुष्यों को जन्म-मृत्यु के बंधन में बाँध लेता है जो कर्म-बंधन' नाम से जाना जाता है। फल की कामना न रखते हुए किया गया कार्य ही निष्काम-कर्म है। गीता भी निष्काम कर्म की प्रेरणा देता है:- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। ऐसे निष्काम-कर्मयोगी में कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता है (एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते)। इसीकारण प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' निष्काम-कर्म करते हुए दीर्घायु (सौ वर्ष से अधिक) होकर आनन्दपूर्वक जीने की प्रेरणा देता है। गीता में भी कहा गया है:- 'मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि'।

इन शुभ कर्मों के फल भी भिन्न-भिन्न काल में फलित होते हैं कुछ कर्म तात्कालिक फल देते है, कुछ फल कभी भी प्राप्त हो जाते हैं एवं कुछ कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर में मिलता है जिसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि कर्मों का फल मिलेगा ही, क्योंकि यह मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र में नहीं है। अतः फल-प्राप्ति की आसक्ति का त्याग कर कर्मों का किया जाना मोक्ष-दायक है।

प्रस्तुत-मन्त्र पर जब हम चिंतन करते हैं तो हम पाते हैं कि जीवन के मूलभूत अभिप्राय को विस्मृत और उपेक्षित करके, जब हम शरीर एवं मन को जीवन के गौण अभिप्रायों के लिए समर्पित कर देते है और जीवन का काल यूँ ही बीत जाता है, तब यह मन्त्र जीवन पार करने के एक नवीन तरीके को बताता है जो आमरण हमारा यौवन-उत्साह सुरक्षित रखेगा, और प्रश्नों एवं प्रयत्नों द्वारा जीवन के साथ मुठभेड़ करा सकेगा। साथ ही, समस्त अनित्य वस्तुओं के पीछे नित्य सत्ता के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित करा सकेगा।

टिप्पणी:-

1) कुर्वन् - कृ $ शतृ ; प्रथमा विभक्ति एकवचन
   अर्थात् करते हुए
1) जिजीविषेत् - जीव् $ सन् विधिलिङ् जीने की इच्छा करते हुए
2) शश्छोऽटि- श् > छ।
3) अन्यथा - अन्येन प्रकारेण। 'प्रकार वचने थाल्' अन्य + थाल्।
4) कर्माणि - कृ + मनिन् (कर्म या भाव अर्थ में) कृञो भावे कर्मणि च मनिन् । द्वितीया, बहुवचन ।
   लिप्यते लिप् (रुधादि, उभयपदी) लट् (कर्मवाच्य)।

- छन्दः - अनुष्टुप् ।

भावार्थ:-

मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्य को इस जगत् में केवल कर्मों का उपभोग करते हुए सौ वर्ष तक जीवन जीने की इच्छा करनी चाहिए ; उन कर्मों में कभी भी संलिप्त नहीं होना चाहिए।

12.6 अज्ञानी की निंदा

सम्बन्ध - इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करते हैं-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रत्याभिगछन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। 3 ।।

असुर्याः असुरोंके; (जो) नाम प्रसिद्ध; लोकाः- नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं; ते वे सभी; अन्धेन तमसा अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे; आवृताः- आच्छादित हैं; ये के च जो कोई भी; आत्महनः = आत्माकी हत्या करनेवाले; जनाः मनुष्य हों; ते वे; प्रेत्यमरकर; तान् उन्हीं भयंकर लोकोंको; अभिगच्छन्ति बार-बार प्राप्त होते हैं॥ ३॥

सरलार्थः-

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के बाद जाकर उन लोकों को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या-

मानव-शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एवं वह जीवको भगवान्की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहको ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस-किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं; वे वस्तुतः आत्माकी हत्या करनेवाले ही हैं; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले वे लोग अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वरं अपनेको और भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ रहे हैं। इन काम- भोग-परायण लोगोंको चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसारमें कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों, मरनेके बाद कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार उन कूकर-शूकर, कीट, पतंगादि विभिन्न शोक- संतापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है (गीता १६। १६, १९, २०), जो कि ऐसे आसुरी स्वभाववाले दुष्टोंके लिये निश्चित किये हुए हैं और महान् अज्ञानरूप अन्धकारसे आच्छादित हैं।

इस मन्त्र के द्वितीय पक्ष पर यदि हम चिंतन करें तो पाते हैं कि यह मन्त्र द्वितीय प्रकार के व्यक्तियों के विषय में कहता है जो कर्मशील तो हैं किन्तु सकामी हैं, जिन्होंने अपने आत्म-स्वरूप को आत्मसात नहीं किया है एवं सिर्फ कार्यशील हैं, वे विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म लेते हैं। इस प्रकार की उनकी यह स्थिति आत्म-साक्षात्कार से अत्यन्त बुरी है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आत्म ज्ञान के प्रति सचेत नहीं हैं और स्वयं को परमात्मा के प्रति समर्पित नहीं करते है, वे वस्तुतः आत्म हत्या कर रहे हैं। वे जीवन के वास्तविक उद्देश्य से भटककर आनन्दानुभूति से दूर हो रहे हैं। वस्तुतः हमें अपने आप को परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु पारमार्थिक रूप से अपने ज्ञान एवं आत्म-सत्ता को जानने की जरूरत है। जब हम यह अनुभव प्राप्त कर लेंगे, जन्मजन्मान्तर के चक्रव्यूह से स्वतंत्र होकर अपार आनन्द की प्राप्ति कर पायेंगे।

हिन्दू मान्यता है कि महान् अज्ञान से युक्त मानव नाना योनियों में भ्रमण किया करते हैं। सभी योनियों में जन्म लेना पूर्व कर्मों का प्रतिफल है। उसमें भी, जिन्होंने पुण्य-कर्म किया है, उन्हें मानव योनि प्राप्त होती है जो सर्वश्रेष्ठ योनि है। इस मानव योनि में मानव अपने विगत कर्मों के भोगों के साथ ही साथ नवीन कर्मों को भी किया करता है। इसीकारण इस मानव-योनि को उभय-योनि (भोगयोनि एवं कर्मयोनि) कहा जाता है। इस मानव-योनि में ही मानव संसार सागर से पार होने का सुअवसर प्राप्त करता है। ऐसे शुभ अवसर को प्राप्त कर जो व्यक्ति अपने पवित्र शुभ-कर्मोंद्वारा सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पाते हैं; अपितु इसके विपरीत कर्मोपभोग को ही जीवन का लक्ष्य मानकर सांसारिक विषय-वासनाओं में ही लिप्त रहते हुए

जिस किसी भी प्रकार से केवल विषयों की प्राप्ति तथा अपनी इच्छानुसार उनके उपयोग में ही सदैव संलग्न रहा करते हैं, वस्तुतः वैसे ही व्यक्ति आत्मा का हनन करनेवाले हुआ करते हैं। ये मरने के अनन्तर अपने विगत कर्मों के परिणाम स्वरूप कीट, पतंग, कुत्ता, सुअर आदि विभिन्न शोक एवं सन्ताप-युक्त आसुरी योनियों में भटकते हैं। अतएव मानव योनि को प्राप्त कर मनुष्य या तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है या अधोगति की ओर जा सकता है। इस प्रकार यह मन्त्र हमारे लिए चेतावनी है, कि यदि हम आत्मा को भूलें और उसकी अवहेलना करें, उसकी उपेक्षा करें अथवा केवल क्षुद्र जीवन बितावें तो क्या होता है।

ज्ञान और कर्म में निश्चित विरोध मानने वाले शङ्कर आदि कुछ आचार्यों के मत में प्रस्तुत उपनिषद् में दो निष्ठाबों का विधान किया गया है - संन्यासी के लिए ज्ञाननिष्ठा अर्थात् निवृत्तिमार्ग और कर्मी के लिए कर्म- निष्ठा अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग । तैत्तिरीयारण्यक की श्रुति को उद्धृत करते हुए उन्होंने संन्यासमार्ग को उत्कर्ष प्राप्त कराने वाला बताया है। उसमें असमर्थ पुरुष के लिए प्रवृत्तिमार्ग ही एकमात्र साधन है। मोक्षप्राप्ति में ज्ञानमार्ग साक्षात् साधक है, तो कर्ममार्ग परम्परया- चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के का रण - साधक है। आनन्दभट्ट के विचार में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं है, क्योंकि देवताभक्ति भी उभयात्मिका हो है। महाभारत में वेदवकास' और श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने इन दोनों निष्ठाओं का उल्लेख किया है। दोनों निष्ठाओं में भेद अवश्य है, परन्तु दोनों ही ग्राह्य और सनातन हैं ।अद्वय परमात्मभावकी अपेक्षासे देवता आदि भी असुर ही हैं। उनके सम्पत्तिस्वरूप लोक 'असुर्य' हैं। 'नाम' शब्द अर्थहीन निपात है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है कि मनुष्यको अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये

टिप्पणीः-

1) असुर्याः असुर $ यत् ; परमात्मभाव से रहित देवता अर्थात् असुर।
2) अन्धेन - अज्ञानरूपेण ; अज्ञानरूपी अन्धकार से युक्त।
3) आत्महनः - आत्मा का अज्ञान के माध्यम से तिरस्कार करने वाले।
4) लोकाः- लोक्यते। लोकृ दर्शने, भावे घञ्।
5) तमसाऽऽवृताः - अव हीनं तमः अच्। आवियते स्म। 'वृञ् आवरणे' से आवरण अर्थ में 'क्त' से क्त प्रत्यय। दीर्घ सन्धि ।
6) तांस्ते - तान् + ते - ' नश्छव्यप्रशान' न > रु, रुत्व के रु > स् । साथ ही रु के पूर्व वर्ण का अनुनासिक होता है।
7) प्रेत्याभिगच्छन्ति - प्रेत्य + अभिगच्छन्ति। अभि उपसर्गक गम्, लट् लकार, बहुवचन। प्रेत्य - प्र + इ + ल्यप् = मरकर, मृत्वा ।

- छन्दः - अनुष्टुप् ।

भावार्थः-

कहने का भाव यह है कि जो अज्ञानी लोग आत्मा का तिरस्कार करते हैं वे जन्म मरण के बन्धन में फंस जाते हैं और आत्मतत्त्व को जान लेते हैं वे अमरत्व को प्राप्त होते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) असुर्या नाम ते लोकाः' इति कः निरूप्यते?

2)'जिजीविषेत् शतं समाः' इति वाक्ये 'जिजीविषेत्' इति क्रियापदस्य अर्थः कः?

3) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" इत्यनेन किम् अभिप्रेतम्?

4) ईशावास्यमिदं सर्वं" इत्यस्य कः अर्थः?

5) "असुर्या नाम ते लोका:" इति कथम् अभिप्रेतम्?

6) कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति वाक्यस्य प्रमुखः भावः कः?

12,7 सारांश

प्रस्तुत इकाई से हमें ये ज्ञान प्राप्त होता है कि ये सारा संसार उस ईश्वर से व्याप्त है। प्राणी को हर समय बिना किसी प्रयोजन के कर्म करने में संलग्न रहना चाहिए। प्रत्येक मानव को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करते हुए उस ब्रहा प्राप्त करने के लिए जीवन पर्यन्त विद्या अध्ययन करना चाहिए क्योंकि सभी का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है। ईश्वर सभी जगह विद्यमान है और सभी में एक ही आत्मा का निवास है। इसलिए, सभी जीवों के प्रति आदर और प्रेम रखना चाहिए। हमें संतोष और निस्वार्थ भाव से जीवन जीना चाहिए। अतः उस ईश्वर को पाने के लिए जीवन में त्यागपूर्वक भाव से कर्म की उपासना करते हुए विद्या की प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिए।

12.8 कठिन शब्दावली

त्यक्तेन = त्यागभाव से — भुंजीथाः = उपभोग करना

जिजीविषेत् = जीवन जीने की इच्छा करे — असुर्या = असुर सम्बन्धी लोक

आवृताः= आच्छादित — भुञ्जीथा= (इसे) भोगते रहो

अभिगच्छन्ति = प्राप्त होते हैं। विचलित न होने वाला

12.9 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) ईश्वरेण। 2) शतवर्षाणाम्

अभ्यास प्रश्न 2

1) नरकः। 2) जीवितुम् इच्छति

3) त्यागेन भोगः 4) सर्वं जगत् ईश्वरस्य अधीनं अस्ति।

5) अन्धकारमयाः लोकाः 6) निष्कामकर्म

12.10 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

3) ईशावास्योपनिषद् ; डा॰ शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

12.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) मंगलाचरण-पद्यस्य आशयं स्पष्टयत।

2) 'तेन तयक्तेन भुञ्जीथा' इत्यस्य अभिप्रायं लिखत ।

3)"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्" इत्यस्य सारगर्भित व्याख्यां कुरुत।

4) "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ' इत्यस्य अभिप्रायं वर्णयत।

5) 'न कर्म लिप्यते नरे' इत्यस्य अभिप्रायं लिखत।

6)अधस्तनेषु द्वयोरेव मन्त्रयोः व्याख्याप्रसङ्गनिर्देशपुरस्सरं कर्त्तव्याः-

(क) ईशावास्यमिदं सर्व यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

(ख) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

(ग) असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रत्याभिगछन्ति ये के चात्महनो जनाः ।

¤¤¤¤

इकाई 13
आत्मा का स्वरुप

संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 आत्मा का स्वरूप

- स्वयं आकलन प्रश्न

13.4 अभेददर्शी की स्थिति

13.5. आत्म निरूपण

- स्वयं आकलन प्रश्न

13.6 सारांश

13.7 कठिन शब्दावली

13.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

13.9 सहायक ग्रन्थ

13.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

13.1 प्रस्तावना-

इस इकाई में, हम आत्मा के स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास करेंगे। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार, आत्मा अविनाशी और अजर-अमर है। यह शरीर के जन्म और मरण के बंधनों से मुक्त है और सदा विद्यमान रहती है। आत्मा निराकार, निरंजन, और सर्वव्यापी है, जो हर प्राणी और वस्तु में समान रूप से विद्यमान है। यह आत्मा ही हमारे सच्चे अस्तित्व का आधार है, जो हमें जीवन के वास्तविक अर्थ और उद्देश्य की ओर ले जाती है।आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। ब्रह्म अद्वितीय है अर्थात् जो ठहरा हुआ भी अन्य सब दौड़ने वालों को पीछे छोड़ देता है क्योंकि वह सर्वव्यापक है। इस परमेश्वर के भीतर ही सब प्राणी अपने कर्म करते रहते हैं। जो प्राणी सर्वान्तिर्यामी , सर्वज्ञ , सर्वव्यापक उस परमेश्वर को विद्या एवं ज्ञान के माध्यम से भली भान्ति जान लेता है अर्थात् उसका साक्षात्कार कर लेता है वह इस संसार में कर्मों को करता हुआ अन्त में परमधाम को प्राप्त होता है।

13.2 उदेश्य

•ब्रह्मतत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करना

• सुखमय जीवनयापन करने की कला सिखाना।

• ब्रह्म, जीव और जगत का ज्ञान करवाना।

• उपनिषद् से परम सत्य का ज्ञान तथा परमात्मा, ब्रह्म तथा आत्मा के स्वभाव सम्बन्ध को जानना

13.3 आत्मा का स्वरुप

सम्बन्ध - जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजाके लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं- इस जिज्ञासापर कहते हैं-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।। 4 ।।

(तत्) वे परमेश्वर; अनेजत्-अचल; एकम् एक; (और) मनसः मनसे (भी); जवीयः अधिक तीव्र गतियुक्त हैं; पूर्वम् सबके आदि; अर्षत् ज्ञानस्वरूप या सबके जाननेवाले हैं; एनत्-इन परमेश्वरको; देवाः इन्द्रादि देवता भी; न आप्नुवन्-नहीं पा सके या जान सके हैं; तत्वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम); अन्यान्-दूसरे; धावतः दौड़नेवालोंको; तिष्ठत् (स्वयं) स्थित रहते हुए ही; अत्येति अतिक्रमण कर जाते हैं; तस्मिन् उनके होनेपर ही उन्हींकी सत्ता- शक्तिसे; मातरिश्वा वायु आदि देवता; अपः जलवर्षा आदि क्रिया; दधाति सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ४॥

सरलार्थः-

वह आत्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूप से न विचलित होने वाला, एक तथा मन से भी अधिक तेज गतिवाला है। इस मन को तो इन्द्रियाँ भी प्राप्त नहीं कर सकी ; क्योंकि यह मन उन सबसे आगे विद्यमान है। वह स्थिर होने पर भी अन्य गतिशील प्राणियों का अतिक्रमण कर जाता है। उस ब्रह्म की सत्ता रहते हुए ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप कर्मों को धारण करता है।

व्याख्या-

शंकराचार्य जी उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं-गतिहीन को 'अनेजत्' कहते हैं। वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं,तथापि मनसे भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं। जहाँतक मनकी गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहलेसे ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। वे सबके आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होनेके कारण सबको पहलेसे ही जानते हैं। पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकते (गीता १०।२)। जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वरके अनुसंधानमें सदा दौड़ लगाते रहते हैं; परंतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँतक पहुँच ही नहीं पाते। असीमकी सीमाका पता ससीमको कैसे लग सकता है। बल्कि वायु आदि देवताओंमें जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणिप्राणधारण आदि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी शक्तिका एक अंशमात्र ही है। उनका सहयोग मिले बिना ये सब कुछ भी नहीं कर सकते इस मन्त्रांश में ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता और विश्वव्यापकता का सद्भुत है । ब्रह्म स्वयं अचल और अविकारी रहकर ही मानो तेजी से विषयों की ओर भागते हुए मन, वाणी और इन्द्रिय आदि अन्य सबका अतिक्रमण कर जाता है। ब्रह्म तो एकरूप में सर्वत्र स्थित है, इसीलिए 'मानो उन्हें पार करके चला जाता है' इस प्रकार अर्थ लेते हुए 'तिष्ठत्' पद से ही 'इव' का भावार्थ ग्राह्य है। सामान्य रूप से यहाँ तात्पर्य है कि मन, इन्द्रियाँ और देवगण आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। वह स्थिर होने पर भी गतिशील काल, गरुड़ और वायु आदि देवताओं को पार करके आगे निकल जाता है।

आत्मा के अधिष्ठान में ही जगत् और जीवन का प्रत्येक कार्य सम्भव है। उस नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के वर्तमान रहते हुए ही 'मातरिश्वा' सभी प्राणियों के चेष्टारूप कर्मों का विभाजन करता है अथवा अपने कर्मों को धारण करता है। केनोपनिषद् में मातरिश्वा' को 'वायु' कहा गया है- 'वायुर्वा मातरिश्वा' (३।८)। अथववेद प्राण को मातरिश्वा बतलाता है।' शङ्कर आदि अद्वैताचार्यों के मत में वायु ही समस्त प्राणों का पोषक और क्रियारूप है। इसके अधीन समस्त शरीर और इन्द्रियाँ हैं। यही निखिल जगत् का विधाता हिरण्यगर्भ, प्राण या सूत्रात्मा है। किन्तु यह प्राणरूप मातरिश्वा आत्मा की सत्ता में ही अपने कर्मों के सम्पादन में समर्थ होता है- अपनी शक्ति धारण करता है।तभी यह प्राणियों और अग्नि आदि देवों को उनके काम विभक्त कर पाता है है। सर्वत्र गति और संचार करने वाला प्राणतत्त्व स्थावर और जङ्गम जगत् को गति प्रदान करता है, किन्तु वास्तव में वह आत्मा की सत्ताशक्ति से ही सबको गतिमान् करता है। अतः प्राण आत्मसापेक्ष है। इसीलिए आत्मा को प्राण का भी प्राण बताया गया है।' आत्मा के बिना प्राण भी शक्तिहीन हो जाता है। आत्मा की महिमा से ही शरीर प्राणवान् होता है और प्राणी क्रियावान्। इसी प्रकार आत्मा के वर्तमान रहते ही प्रकृति के सभी तत्त्व हिरण्यगर्भ के आश्रय में अपने-अपने कर्मों का अनुशासित होकर अनुष्ठान करते हैं- जैसे सूर्य प्रकाशित करता है, मेघ वर्षा करते हैं। अतएव न केवल मन और इन्द्रियाँ, अपितु प्राण भी आत्मा पर आश्रित है। आत्मा की शक्ति से ही इन सबकी शक्ति है। आत्मा इन सबसे उत्कृष्ट है। सामान्यरूप से मातरिश्वा से 'वायुदेवता' का ग्रहण करने पर भावार्थ होगा कि आत्मचैतन्य के विद्यमान रहते ही वायु और उसी के समान अन्य सब देवता अपने-अपने कर्मों को नियमपूर्वक करते हैं। कहा भी गया है कि 'इसके भय से पवन चलता है, सूर्य उदय होता है तथा अग्नि, इन्द्र और मृत्यु अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो रहे हैं'। 'अपः' को जलवाची मानने पर यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि ब्रह्म की सत्ता में ही मातरिश्वा वायु मेघरूप जल को धारण करता है। वेदान्तदेशिक ने व्याख्या की है कि सर्वाधारभूत सर्वेश्वर के आश्रय में ही मातरिश्वा-वायु उसी की शक्ति से जल, मेघ, नक्षत्र, ग्रह-तारक आदि को धारण करता है। अतः समस्त विधरणशक्ति ब्रह्म के रहते हुए ही है। मध्वाचार्य के विचार में मरुत् सब कर्मों को उस हरि में अपित करता है।' 'मातरिश्वा' से माता (ब्रह्म) में रहने वाले 'जीव' का तात्पर्य लेकर स्वामी दयानन्द और सातवलेकर आदि कुछ विद्वानों ने मन्त्र के अन्तिम पाद का अर्थ किया है कि उस ब्रह्म के आधार से जीव कर्मों को धारण करता है। दयानन्द ने भावार्थ दिया है कि ब्रह्म स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम से चलाता है और उन्हें धारण करता है; उस व्याप्त ब्रह्म में जीव अपने कर्मों को स्थापित करता है।॥ ४ ॥

टिप्पणी:-

1) अनेजत् - न $ एजत् ; एजृ (कम्पने) अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला अर्थात् एकरूप ।

2) मनसः - मनस् शब्द पंचमी एकवचन ; मन से या अन्तःकरण से।

3) अपः - आप् शब्द द्वितीया बहुवचन।

4)एनदेव - एनत् + देवाः। 'झलां जशोऽन्ते' झल्> जश्

5)तद्धावतोऽन्यानत्येति - तद् धावतः (झलां जशोऽन्ते) । धावतः + अन्यान् (विसर्ग संधि) ।

6)अति + एति (इको यणचि-यण् संधि)। एति-जाना अर्थ में इण, परस्मै; लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

7)तस्मिन्नपो - 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' ह्रस्व से परे पदान्त 'न्' के परे 'अच्' रहने पर न का आगम।

8)आप्नुवन् - आप् + शतृ 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे'।

9)मातरिश्वा - सप्तम्यन्त 'मातरि' में 'टुओश्वि गतिवृद्धोः' से मातरिश्वा हुआ है। मातरिश्वा की व्युत्पत्ति दयानन्द के अनुसार 'मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरति वायुस्तद्वद्वर्तमानो जीवोः। निरुक्त के अनुसार 'मातरिश्वा वायुमतिर्यन्तरिक्षेश्वसिति मातर्याश्वनितीति वा'। अन्य व्युत्पत्तिः मातरि अन्तरिक्षे श्वयति वर्धते श्विकनिन् डिच्च, अलुक्।

छन्द - त्रिष्टुप् ।

भावार्थ:-

मन्त्र का भाव यह है कि वह आत्मा एकरूप से नित्य सभी प्राणियों के भीतर विद्यमान रहता है। वह मन की संकल्पशक्ति से कहीं अधिक वेगवान् है , वह मन , वाणी और इन्द्रियों का अतिक्रमण कर सकता है। अतः उसका हम इन्द्रियों से पार नहीं पा सकते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**
- **अभ्यास प्रश्न 1**

1) मनसः जवीयः कः वर्तते?

2) ब्रह्म संसारेऽस्मिन् कुत्रास्ति

13.4 अभेददर्शी की स्थिति

सम्बन्ध - अब परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता तथा व्यापकता प्रकारान्तरसे पुनः वर्णन करते हैं-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। 5 ।।

तत्-वे; एजति चलते हैं; तत्-वे; न एजति नहीं चलते; तत्-वे; दूरे दूर सेभी दूर हैं; तत्-वे;
उ अन्तिके अत्यन्त समीप हैं; तत्वे; अस्य इस; सर्वस्य समस्त जगत्के; अन्तः भीतर परिपूर्ण हैं; (और) तत्वे; अस्य इस;सर्वस्य समस्त जगत्के; उ बाह्यतः बाहर भी हैं ॥ ५ ॥

सरलार्थ:-

वह आत्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म चलता है , वह नहीं भी चलता है। वह दूर है , वह समीप भी है।
वह इस सब के अन्तर्गत है , वह ही सबके बाहर भी है।

व्याख्या –

वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते; एक ही कालम परस्परविरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती है, वे ही तो परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परमधाममें और लीलाधाममें अपने प्रिय भक्तोंको सुख पहुँचानेके लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूपमें प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है; और निर्गुणरूपसे जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है। इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेमसे रहित मनुष्योंको कभी दर्शन नहीं देते, अतः उनके लिये दूर-से-दूर हैं; और प्रेमकी पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनोंके सामने चाहे जहाँ उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वे ही हैं और समीप-से-समीप भी वे ही हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान

ही नहीं है, जहाँ वे न हों। सबके अन्तर्यामी होनेके कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं; पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूपमें नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं (गीता १३। १५)। वस्तुतः वे इस समस्त जगत्के परम आधार हैं और परम कारण वे ही हैं; इसलिये बाहर भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं

प्रस्तुत मंत्र ब्रह्म संबंधी तीन बातों को इंगित करता है - प्रथमतः, ब्रह्म अविचल होते हुए भी गतिमान है। द्वितीयतः, वह समीप एवं दूर भी है। तृतीयतः ब्रह्म सभी के अभ्यन्तर और बाहर भी है। उपनिषद् का परस्पर विरोधाभासी यह वक्तव्य ब्रह्म की अनिर्वचनीयता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता को द्योतित करता है।

आत्मा को जब चराचर विकारी दृश्यमान् जगत् के पहलुओं में होकर देखते हैं तो उसे चलता हुआ कह सकते हैं, किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप में वह बिल्कुल भी नहीं चलता। वह अविचल है। कभी-कभी हमें प्रतीत होता है कि चन्द्रमा बादलों के बीच चल रहा है, जबकि वस्तुतः अविचल चन्द्रमा के पास बादल ही चलायमान रहता है। ब्रह्म का एक पहलू उसका अचल, निरपेक्ष एवं अनन्त स्वरूप है और दूसरा पहलू शक्ति, दिव्य ऊर्जा, अनन्त की सृजन शक्ति, जो गति में व्यक्त होती है। इस प्रकार वह ब्रह्म प्रत्येक चराचर को गति प्रदान करता है। अतः उसे गतिमान कहा गया है, सृष्टिकर्त्ता कहा गया है किन्तु स्वयं सर्वव्यापक होने के कारण गतिशून्य है। प्रलय के पश्चात् जब सृष्टि होती है तब प्रकृति विकृति में परिणत हो जाती है। इस उद्देश्यहेतु परमात्मा शान्त एवं स्तब्ध प्रकृति के अभ्यन्तर एक गति का संचार किया करता है जिसके फलस्वरूप प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भंग हो जाया करती है। तब क्रमशः सूक्ष्म एवं स्थूल भूतों की उत्पत्ति होकर सृष्टि की उत्पत्ति हुआ करती है। इस भांति वह परमात्मा गति तो प्रदान करता है किन्तु स्वयं गतिमान् तथा अविचल रूप में अवस्थित रहा करता है क्योंकि वह स्वयं सर्वदेशी एवं सर्वव्यापक है। प्रकृति में यह गति मात्र ईक्षण का ही परिणाम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह परमात्मा गतिमान् बनाने वाला होने पर भी स्वयं ऊर्जाबद्ध होकर भी स्थिर अविचल बना रहता है।

यह मन्त्र दूसरी बात यह कहता है कि आत्मा निकट भी है और दूर भी। बात भी सही है, आत्मा हमारे बहुत सन्निकट है क्योंकि उसके बिना हम हो ही नहीं सकते और बहुत दूर भी हैं, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर से हम उसकी खोज में जुड़े हुए हैं किन्तु उसका कोई पता नहीं। नित्य नवीन स्वरूप में वह प्रतीत होता है। आत्मा वैसे लोगों के लिए दूर कहा गया है जो अधर्मी, अज्ञानी एवं नास्तिक हैं क्योंकि ऐसे लोगों द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किया जाना असंभव है। साथ ही, धर्मात्मा, ज्ञानी एवं आस्तिक पुरुषों द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य होने से उसे समीप भी बताया है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार आँख में लगा हुआ सुर्मा अथवा काजल समीप रहते हुए भी नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार परमात्मा भी सर्वव्यापक होने के कारण प्रत्येक शरीर के अभ्यंतर विद्यमान है, किन्तु इतना समीप होने पर भी वह अज्ञानी लोगों के लिए दूर ही है।

टिप्पणी :-

1) तदेजति - तत् $ एजति (एज् धातु लट्लकार प्रथमपुरूष एकवचन)

2) तदन्तरस्य - तत् $ अन्तः $ अस्य (वह सब के भीतर)

भावार्थ :-

प्रस्तुत मन्त्र में यह बताने का प्रयास किया गया है कि आत्म तत्त्व जितना ही गम्भीर है, उतना ही अवर्णनीय है। भाषा इसे व्यक्त नहीं कर पाती और विचार भी हार जाता है। शेष रह जाते हैं तो खाली संकेत

और सुझाव। यही कारण है कि यह कभी-कभी विरोधाभाषी भी प्रतीत होता है, किन्तु यह गंभीर तत्त्व हमें अमृतत्त्व की ओर ले जाता है। यहाँ आत्म तत्त्व को विरोधाभाषी इस कारण कहा गया है क्योंकि मन्त्र कहता है कि वह अचल है फिर भी उसकी गति मन से भी तीव्र है, जिस तीव्रगति के कारण वह इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। अतएव ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या संभव नहीं यह निराकार है। साथ ही, सभी आकार इसके आकार हैं। यह निर्विशेष है किन्तु संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं का नाम इसका ही नाम है। यह अद्वितीय है। अर्थात् वह ब्रह्म अचल रहकर भी चलता हुआ सा प्रतीत होता है , वह सैंकड़ों वर्षों तक तपस्या करने पर भी प्राप्त नहीं होता ; अतः हमेशा वह दूर जैसा लगता है।

सम्बन्ध - अब अगले दो मन्त्रोंमें इन परब्रह्म परमेश्वरको जाननेवाले महापुरुषकी स्थितिका वर्णन किया जाता है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। 6 ।।

तु-परंतुः यः जो मनुष्य; सर्वाणि सम्पूर्ण; परिभूः सर्वोपरि विद्यमान आत्मनि= परमात्मामें; एव ही; अनुपश्यति निरन्तर देखता है; चऔर; सर्वभूतेषु सम्पूर्ण प्राणियोंमें; आत्मानम्-परमात्माको (देखता है); ततः उसके पश्चात् (वह कभी भी); न विजुगुप्सते किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

सरलार्थ :-

जो साधक अर्थात् पुरूष सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त जीवों में उस आत्मा को देखता है , वह कभी किसी से घृणा नहीं करता।

व्याख्या-

इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मामें देखता है और सर्वान्तिर्यामी परम प्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है। वह तो सदा-सर्वत्र अपने परम प्रभुके ही दर्शन करता हुआ (गीता ६। २९-३०)। मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकारसे सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है आत्मा एक और अद्विती है। वही एक आत्मा सबमें है। अपने और पराये का भेद वास्तविक नहीं है। अद्वैतमतानुसार जो तत्त्वदर्शी है, वह सर्वत्र एकात्मदर्शन करता है। वह सबको अपने में और अपने को सबमें देखता है। ज्ञानी आत्मज्ञान द्वारा अव्यक्त से लेकर स्थावर तक स्वतन्त्र प्रतिभासित होने वाले सभी प्राणियों को सामग्रिऊरूप से एक आत्मतत्त्व में ही देखता है। वह जानता है कि कोई भी प्राणी आत्मा से पृथक् नहीं है। वह तो सबको आत्मा से अभिन्न समझता है। यही नहीं, ज्ञानी अभेददृष्टि द्वारा समस्त भूतों में अपने निविशेष आत्मस्वरूप का ही दर्शन करता है। वह उन भूतों के आत्मा को भी अपना ही आत्मा जानता है। वह समझता है कि जिस प्रकार समस्त प्रतीतियों का साक्षी में आत्मा हूँ, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का आत्मा भी में ही हूं। अद्वितीय आत्मा का सबमें दिग्दर्शन करना ही वस्तुतः आत्मसाक्षात्कार है। यही सर्वोच्च दर्शन है। जिस प्रकार एक सूत्र में अनेक मणियाँ पिरोधी जाती हैं, उसी प्रकार एक जात्मा में सब प्राणी हैं, और जिम प्रकार अनेक मणियों में एक सूत्र प्रविष्ट रहता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में एक आत्मा है; इस प्रकार जो विद्वान् आत्मा के एकत्व को भली-भाँति समझता है, वह अभेदज्ञान के फलस्वरूप किसी से घृणा नहीं करता है। वह न किमी की निन्दा करता है और न किसी का तिरस्कार ।॥ ६ ॥

टिप्पणी :-

1) सर्वाणि - सर्व शब्द नपुंसकलिंग प्रथमा विभक्ति बहुवचन ; अर्थात् सभी को।

2) विजुगुप्सते - वि उपसर्गपूर्वक गुप् धातु से ; आत्मनेपद लट्लकार प्रथम पुरूष एकवचन का रूप है जिसका अर्थ - घृणा करना।

भावार्थ:- जो पुरूष इस संसार में सभी प्राणियों के भीतर उस ब्रह्म का ही साक्षात्कार करता है वह कभी किसी से घृणा नहीं करता है और सबके साथ समानभाव से रहता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। 7।।

यस्मिन् जिस स्थितिमें; विजानतः परब्रह्म परमेश्वरको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषके (अनुभवमें); सर्वाणि सम्पूर्ण; भूतानि प्राणी; आत्मा एकमात्र परमात्मस्वरूप; एव ही; अभूत् हो चुकते हैं; तत्र उस अवस्थामें (उस); एकत्वम्-एकताका-एकमात्र परमेश्वरका; अनुपश्यतः = निरन्तर साक्षात् करनेवाले पुरुषके लिये; कः कौन-सा; मोहः मोह (रह जाता है और); कः कौन- सा; शोकः शोक । (वह शोक-मोहसे सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥ ७ ॥

सरलार्थ:-

जिस अवस्था में ज्ञानी पुरूष के लिए सब प्राणी आत्मा ही हो गए उस स्थिति में एकत्व का दर्शन करने वाले उस विद्वान् को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

व्याख्या-

इस प्रकार जब मनुष्य परमात्माको भलीभाँति पहचान लेता है, जब उसकी सर्वत्र भगवदृष्टि हो जाती है-जब वह प्राणिमात्रमें एकमात्र तत्त्व श्रीपरमात्माको ही देखता है, तब उसे सदा-सर्वत्र परमात्माके दर्शन होते रहते हैं। उस समय उसके अन्तःकरणमें शोक, मोह आदि विकार कैसे रह सकते हैं ? वह तो इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारोंकी छाया भी कहीं उसके चित्तप्रदेशमें नहीं रह जाती। लोगोंके देखनेमें वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभुमें ही क्रीडा करता है (गीता ६ । ३१)। उसके लिये प्रभु और प्रभुकी लीलाके अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता॥

शाङ्करभाष्य के अनुसार सम्पूर्ण जगत् की आत्मा से अपनी आत्मा का अभेद देखने वाला मुमुक्षु साधक किसी से घृणा नहीं करता है, यह इस मन्त्र में कहा गया है। इस श्रुति का आत्मा शब्द सम्पूर्ण जगत् की आत्मा परमात्मा को बतलाता है। यहाँ पर यह शंका नहीं की जा सकती है कि श्रुति के आत्मा शब्द को जीवात्मा का वाचक मानकर यह अर्थ करना चाहिए कि 'जो अपनी आत्मा के भीतर सभी भूतों का ध्यान करता है, क्योंकि आत्मा शब्द का मुख्य प्रयोग अन्तः प्रविश्य नियामकत्व रूप अर्थ में ही होता है और सबों के भीतर प्रवेश करके उनका नियमन करने वाला परमात्मा ही है।

यहाँ पर कोई यह भी नहीं कह सकता है कि एकात्मवादी अद्वैत सिद्धान्त में सभी शरीरों में एक ही आत्मा की अनुवृत्ति स्वीकार की जाती है, अतएव इस श्रुति को अद्वैत सिद्धान्त की समर्थिका माननी चाहिए। तो इस प्रकार की शङ्का इसलिए उचित नहीं है कि इस श्रुति का 'सर्वभूतानि' पद उसी तरह शरीर-विशिष्ट चेतनों की अनेकता बतलाती है, जिसप्रकार 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' वाक्य का सर्वभूत शब्दअतएव सभी

भूतों का आधार जीवों से भिन्न परमात्मा को ही मानना चाहिए। आधार तथा आधेय का ऐक्य कभी भी संभव नहीं है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'आत्मनि' पद की सप्तमी विभक्ति अभेदार्थ की बोधिका है, क्योंकि सप्तमी का अभेद रूप अत्यन्त अप्रसिद्ध है। 'आत्मन्येव' का एवकार बतलाता है कि पृथिवी आदि भूत तथा पार्थिवादि शरीरविशिष्ट सभी जीव परमात्मा में ही स्थित हैं, श्रुति की 'अनुपश्यति' पद ब्रह्मविद्या का अधिगम करने वाले मुमुक्षु जीव के उस ध्यान को संकेतित करता है, जिसमें यह सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् का परमात्मा में ही स्थित रूप से विशदतम अपरोक्ष करता है। 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' श्रुति सभी भूतों में परमात्मा की व्याप्ति को बतलाती है। श्रीवेदान्तदेशिक कहते हैं कि 'ततो न विजुगुप्सते' श्रुति का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सभी भूतों की आत्मा रूप से परमात्मा को जानकर किसी से भी घृणा नहीं करता है।

वेदान्तियों के मन्तव्य से पृथक् यदि इस मन्त्र का विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि जो ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों को अथवा चराचर जगत् को परमात्मा में देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों अथवा चराचरात्मक जगत् में परमात्मा को देखता है वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता। कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति परामात्मा को सर्वव्यापक जानता तथा समझता है वह उस सर्वव्यापक परमात्मा के अस्तित्व को अपने ही अभ्यन्तर देखा करता है। अतः उसके भय से किसी भी गलत कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं हुआ करता है। परिणाम स्वरूप वह कभी भी निन्दा का पात्र नहीं बना करता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष किसी के प्रति द्वेष अथवा घृणा का भाव भी नहीं रखा करता है। ऐसे द्वेषरहित एवं घृणा न करने वाला ज्ञानी व्यक्ति समद्रष्य हुआ करता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि हम सभी लोगों की एक ही आत्मा है किन्तु जो सबों में भिन्न-भिन्न आत्मा को देखते हैं वे दूसरे से ईर्ष्या एवं घृणा करते हैं।

टिप्पणी:-

1) यस्मिन् - जिस अवस्था में (महीधर) ; जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (आचार्य शंकर)

2) वि $ ज्ञा $ शतृ विजानत् (षष्ठी विभक्ति एकवचन)

3) अनुपश्यतः - अनु $ दृश् $ शतृ अनुपश्यत् (षष्ठी विभक्ति एकवचन)

भावार्थ :-

इस मन्त्र के कहने का भाव यह है कि जब किसी मनुष्य को सभी प्राणी आत्मवत् अर्थात् एकसमान दिखाई देते हैं उस समय कोई भी शोक या मोह नहीं होता।

13.5 आत्म निरूपण

सम्बन्ध - अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेका तथा सर्वत्र देखनेका फल बतलाते हैं-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ ० शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। 8 ।।

सः वह महापुरुषः शुक्रम् (उन) परम तेजोमय; अकायम्-सूक्ष्मशरीरसे रहित; अव्रणम्-छिद्ररहित या क्षतरहित; अस्नाविरम्-शिराओंसे रहित-स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित; शुद्धम् अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप; अपापविद्धम्-शुभाशुभकर्म-सम्पर्कशून्य परमेश्वरको; पर्यगात् प्राप्त हो जाता है; जो) कविः सर्वद्रष्टा; मनीषी सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप; परिभूः सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता; स्वयम्भूः स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं (और); शाश्वतीभ्यः = अनादि;

समाभ्यः = कालसे; याथातथ्यतः सब प्राणियोंके कर्मानुसार यथायोग्य; अर्थान्-सम्पूर्ण पदार्थोंकी; व्यदधात्-रचना करते आये हैं ॥ ८ ॥

सरलार्थः-

वह आत्मा सर्वगत , शुद्ध , अशरीरी , अक्षत , स्नायु से रहित , निर्मल , पाप से रहित ,सर्वद्रष्टा , सर्वज्ञ , सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है। उसी ने कर्मफल और साधन के अनुसार यथाभूत अर्थों का यथायोग्य रीति से विभाग किया है।

व्याख्या –

उपर्युक्त वर्णनके अनुसार परमेश्वरको सर्वत्र जानने-देखनेवाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वरको प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा-मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूल देहसे रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं; एवं जो क्रान्तदर्शी - सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले सर्वाधिपति हैं; और कर्मपरवश नहीं वरं स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं तथा जो सनातन कालसे सब प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थोंकी यथायोग्य रचना और विभागव्यवस्था करते आये हैं एकात्मदर्शन के लाभ को ही यहाँ स्पष्टतर किया जा रहा है। सर्वात्मभाव से युक्त और अभेदद्रष्टा पुरुष के लिए शोक तथा मोह का अवकाश भी नहीं रह जाता है। शोक और मोह का मूल अज्ञान (अविद्या) है। इससे ही पुरुष प्राणियों में नानारूपता देखता है। किन्तु तत्त्वज्ञ अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से आत्मा के एकत्व को भली-भाँति जान लेता है। उसका द्वैतभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है और वह सर्वत्र एक आत्मा का दर्शन करता है। अतएव ज्ञानी के लिए अज्ञान के कार्यरूप शोक, मोह, भय आदि का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। शाङ्करभाष्यानुसार यहाँ कहा गया है कि आत्मबोध की जिस अवस्था-विशेष में परमार्थतत्त्व को जानने वाले पुरुष की दृष्टि में सभी उत्पन्न प्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् जब आत्मैवेदं सर्वम्' इस प्रकार जानने वाले पुरुष के अनुभव में 'सभी भूतों का आत्मा में ही हूं' (सर्वभूतात्माऽहमेत्र), इस बोध से प्राणिमात्र आत्मभाव को ही प्राप्त हो जाते हैं; उस अवस्था विशेष में आत्मा के एकत्व का ठीक-ठीक साक्षात्कार करने वाले पुरुष को शोक और मोह हो ही नहीं सकता है॥ ८ ॥

टिप्पणी :-

1) शुक्रम् - शुद्धम् अर्थात् ज्यातिष्मानम्।

2) अकायम् - शरीर विरहित।

3) परिभूः - सबके ऊपर अर्थात् सर्वोपरि।

4) पर्यगाच्छुक्रम् - परि + अगात् शुक्रम्, क्रमशः यण् - सन्धि (इको यणचि) तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' से त्> च्, 'शश्छोऽटि' से श् > छ ।

5) व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः - वि अदधात् शाश्वतीभ्यः, शेष उपर्युक्त प्रकार से।

6) याथातथ्यतः - यथातथ + तसिल् ।

7) कविः - कवृ + इ - विवरणे। कुङ् इ शब्दे।

8) मनीषी - मनस् + ईष् + इनि ।

9) परिभूः - परि + √ भू + क्विप् (०)। परितः भवति इति परिभूः। अधिकरणे क्विप् ।

- छन्द - जगती।

भावार्थः-

कहने का भाव यह है कि वह आत्मारूपी परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है और वह सब प्राणियों के अच्छे तथा बुरे कर्मों को जानने वाला है।

- **ब्रह्म का स्वरूप**

ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का विशेषरूप से वर्णन प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि वह परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है अर्थात् वह कण-कण और क्षण-क्षण में रमा हुआ है। वह एक है , अचल है , मन से अधिक गतिवाला है , उस परमेश्वर का ये इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर पाती। क्योंकि इन इन्द्रियों का यह विषय है ही नहीेें। जैसे आँख का विषय रूप है , अतः वह रूप का ही साक्षात्कार कर सकती है , शब्द का नहीं। क्योंकि शब्द आँख का विषय है ही नहीं। इसी तरह कान का विषय शब्द है , नासिका का विषय गन्ध है , रसना का विषय रस है , त्वक् का विषय स्पर्श है।

ब्रह्म अद्वितीय है अर्थात् जो ठहरा हुआ भी अन्य सब दौड़ने वालों को पीछे छोड़ देता है क्योंकि वह सर्वव्यापक है। इस परमेश्वर के भीतर ही सब प्राणी अपने अपने कर्म करते रहते हैं। अतः इस विषय में चतुर्थ मन्त्र में इस तरह से वर्णित है कि:-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

इसके अतिरिक्त उस परमेश्वर के बारे में यह भी कहा गया है कि वह प्रभु गति करता है , और वह गति नहीं करता ; वह दूर है और वह समीप भी है , वह परमेश्वर सब प्राणियों के भीतर है और वह ही सबके बाहर भी है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

वह परमेश्वर सर्वत्र गया हुआ है , सर्वत्र परिपूर्ण है , शक्तिशाली है , व्रण एवं घाव से रहित है , काया से रहित अर्थात् निराकार है , वह शुद्ध है एवं अविद्या आदि दोषों से रहित है , वह कवि है - ज्ञानी है - सर्वज्ञ है इसलिए वह हमारे मन में उठने वाली प्रत्येक वृत्ति तक को भी जान लेता है।

वह प्रभु सब ओर विराजमान रहता हुआ सब पर अपना प्रभुत्व रखता है। वह स्वयं अपनी सत्ता से विद्यमान रहने वाला , अन्य सब को उत्पन्न करने वाला है।

जो प्राणी सर्वान्तर्यामी , सर्वज्ञ , सर्वव्यापक उस परमेश्वर को विद्या एवं ज्ञान के माध्यम से भली भान्ति जान लेता है अर्थात् उसका साक्षात्कार कर लेता है वह इस संसार में कर्मों को करता हुआ अन्त में परमधाम को प्राप्त होता है। क्योंकि यह सारा संसार उसी ईश्वर से व्याप्त है। अतः इस विषय में प्रारम्भिक मन्त्र में कहा गया है कि -

ऊँ ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

अतः वह परमेश्वर इस चराचर जगत् में सर्वत्र सर्वव्यापक है इसलिए त्यागपूर्वक भाव से कर्मों को करते हुए सदैव जीवन जीने का आनन्द लेना चाहिए।

ईशावास्य उपनिषद् के अनुसार, आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। आत्मा ब्रह्म का ही अंश है, और दोनों में कोई भेद नहीं है। आत्म-ज्ञान ही ब्रह्म-ज्ञान है, और आत्मा का साक्षात्कार ही ब्रह्म का साक्षात्कार है। इस प्रकार,

व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्म को समझना आवश्यक है।संसार और ब्रह्म के संबंध में, उपनिषद् सिखाता है कि यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म में ही विलीन होता है। ब्रह्म ही इस जगत का आधार और सत्य है, और यह माया (भ्रम) और वास्तविकता के पार है। ब्रह्म को समझने और जानने के लिए त्याग और समर्पण का मार्ग अपनाना आवश्यक है। लोभ, मोह, और अहंकार से मुक्त होकर ही ब्रह्म की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।इस प्रकार, ईशावास्य उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप सर्वव्यापी, अद्वितीय, निराकार, और सर्वशक्तिमान बताया गया है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1)तदेजति तन्नैजति" इत्युक्त्वा कः तत्त्वः प्रतिपादितः?

  2)यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति" इत्यस्य अर्थः किम्?

13.6 सारांश

उपर्युक्त इकाई के सारांश के रुप मे हम कह सकते है कि यह सारा संसार उस ब्रह्म से ही व्याप्त है। वह जगत् की आत्मा है। ब्रह्म को विश्व का कारण माना गया है। इससे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में विश्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म विश्व का आधार है। ब्रह्म जगत् का कारण है।और वह सब प्राणियों के अच्छे तथा बुरे कर्मों को जानने वाला है । हमे संसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान, भक्ति और विवेकपूर्ण व्यवहार का पालन करना चाहिए। यह सारांश वेदांत के उच्च विचारों को सार्थकता से प्रस्तुत करता है और आत्मिक विकास और मोक्ष की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है।ब्रह्म की महिमा और उसकी वास्तविकता को समझने और अपनाने के लिए त्याग, समर्पण, और सच्चे ज्ञान का मार्ग अपनाना आवश्यक है।

13.7 कठिन शब्दावली

अनेजत् = विचलित न होने वाला

अकायम्=सूक्ष्मशरीरसे रहित

परिभूः= सर्वोपरि विद्यमान

भूतानि = प्राणी

विजुगुप्सते =किसीसे घृणा नहीं करता

अस्नाविरम्=शिराओंसे रहित

न आप्नुवन्=नहीं पा सके या जान सके

13.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) ब्रह्म

2)सर्वत्र

अभ्यास प्रश्न 2

3)ब्रह्म

3आत्म बोध

13.9 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

3) ईशावास्योपनिषद् ; डा॰ शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

13.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1)आत्मतत्त्वस्य विवेचनं कुरुत।

2)ईशोपनिषदः अनुसारं एकत्वभावं स्पष्टयत।

3)अधस्तनेषु द्वयोरेव मन्त्रयो: व्याख्याप्रसङ्गनिर्देशपुरस्सरं कर्त्या:-

(क) अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्ेवा आपुवन्पूर्वमर्शत्।
तद्वतोडन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

ख) यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

ग) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

¤¤¤¤

इकाई 14
विद्या और अविद्या का रहस्य

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.3 उद्देश्य

14.3 विद्या और अविद्या का समुच्च

- स्वयं आकलन प्रश्न

14.4 विद्या और अविद्या का फल भेद

14.5 विद्या और अविद्या के समुच्चय का फल

- स्वयं आकलन प्रश्न

14.6 सारांश

14.7 कठिन शब्दावली

14.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

14.9 सहायक ग्रन्थ

14.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

ईशावास्योपनिषद् भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस उपनिषद् में विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) के संबंध में गहन चर्चा की गई है । इस इकाई में, हम विद्या और अविद्या की अवधारणाओं को समझेंगे। हम जानेंगे कि कैसे विद्या हमें आत्मज्ञान की ओर ले जाती है और अविद्या हमें संसारिक बंधनों में बांधती है। यह इकाई पाठकों को और उन्हें अपने जीवन में विद्या और अविद्या के संतुलन को बनाए रखने की दिशा में मार्गदर्शन करेगी। यह समझ हमारे जीवन को अधिक सार्थक, संवेदनशील और उद्देश्यपूर्ण बनाएगी। यह हमें आत्मज्ञान की ओर अग्रसर करने के साथ-साथ संसारिक जीवन की वास्तविकताओं को समझने और स्वीकारने में मदद करेगी।

14.2 उद्देश्य

•सांस्कृतिक धरोहर एवं सामाजिक जीवन के मूल्यों से परिचित होंगे।

•विद्या के माध्यम से ब्रह्म का साक्षात्कार करना।

•नैतिक शिक्षा का ज्ञान कंराना।

14.3 विद्या और अविद्या का समुच्चय

सम्बन्ध - अब अगले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका तत्त्व समझाया जायगा। इस प्रकरणमें परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन 'ज्ञान' को विद्याके नामसे कहा गया है और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति अथवा इस लोकके विविध भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधन 'कर्म'को अविद्याके नामसे। इन ज्ञान और कर्म-दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों साधनोंके द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं- इस रहस्यको समझानेके लिये पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं-

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥ ९ ॥

ये जो मनुष्य; अविद्याम् अविद्याकी; उपासते उपासना करते हैं, (वे); अन्धम्-अज्ञानस्वरूप; तमः घोर अन्धकारमें; प्रविशन्ति प्रवेश करते हैं; (और) ये जो मनुष्य; विद्यायाम् विद्यामें; रताः रत हैं अर्थात् ज्ञानके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; ते वे; ततः उससे; उ-भी; भूयः इव मानो अधिकतर; तमः अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ ९॥

सरलार्थ :-

जो अविद्या अर्थात् कर्म की उपासना करते हैं , वे अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या अर्थात् उपासना में ही रत हैं , वे मानो उससे भी अधिक घोर अन्धकार प्रवेश करते हैं।

व्याख्या-

जो मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर उनकी प्राप्तिके साधनरूप अविद्याका-विविध प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मोंके फलस्वरूप अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण विविध योनियों और भोगोंको ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य श्रीपरमेश्वरको न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए विविध तापोंसे संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञानके प्राथमिक साधनोंका ही सेवन करते हैं; परंतु केवल शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अपनेमें विद्याका-ज्ञानका मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे, मिथ्या ज्ञानी मनुष्य अपनेको ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर शास्त्रविधिसे विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभावसे कर्म करनेवाले विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकारको पशु-पक्षी, शूकर कूकर आदि नीच योनियोंको और रौरव- कुम्भीपाकादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं॥

- शाङ्करभाष्य के आलोक में यह स्पष्ट है कि ईशावास्योपनिषत् के इस नवम मन्त्र में कर्म एवं उपासना के समुच्चय की निन्दा की गयी है। कर्मों का अनुष्ठान तथा देवताज्ञान के समुच्चय की यहाँ निन्दा की गयी है। श्रीशङ्कराचार्य विद्या शब्द को देवताज्ञान का वाचक मानते हैं, जबकि विशिष्यद्वैतवादी इसे ज्ञानमार्ग का वाचक मानते हैं।

इस प्रकार यहाँ दो प्रकार के लोगों की चर्चा की गयी है एक प्रकार के तो वे लोग हैं जो सांसारिक भोगों में लिप्त रहा करते हैं तथा उनके साधनभूत अविद्या (नाना प्रकार के कर्मों) का अनुष्ठान किया करते हैं। वे उन कर्मों के परिणाम स्वरूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध भोगों एवं योनियों की ही प्राप्ति किया करते हैं। वे मानवजीवन के लक्ष्यीभूत परमात्मा की प्राप्ति न कर निरंतर जन्ममृत्यु रूप आवागमन के बन्धन में बंधे रहा करते है और परिणामस्वरूप नाना प्रकार के सांसारिक कष्टों से सदैव सन्तप्त रहा करते हैं। इस प्रकार के अज्ञानी विनम्र होते हैं और जब उन्हें अज्ञान का बोध होने लगता है तो और भी विनम्र हो जाते हैं। वे तब गलती करना कम करदेते हैं। भटकाव की समाप्ति होने लगती है और आदमी राह पर आने लगता है। इसीलिए यह मंत्र कहता है कि ऐसे अज्ञानी बहुत गहन अन्धकार में नहीं, अपितु अंधकार में भटकते हैं। यह अज्ञान ज्यादा अंधकार की ओर नहीं ले जा सकता है क्योंकि ज्यादा भटकाने वाला तत्त्व यह अन्धकार नहीं बल्कि अहंकार है। अज्ञानवश भूल तो होती है किन्तु अज्ञान की समाप्ति पर्यन्त भूल में सुधार की भी संभावनाएँ रहती हैं, किन्तु अहंकार में व्यक्ति जब भूल करता है, तो सुधार की कोई संभावना नहीं होती, क्योंकि अहंकार गलत को ही सही मानता है। अतः अज्ञान संध्या है, गहन अंधकार नहीं, जबकि अहंकार संध्या नहीं, अहंकार अमावस की रात है। अज्ञान की स्मृति यदि रखी जाय, तो अज्ञान समाप्त हो जाता है। ज्ञान के जगत् में प्रवेश अज्ञान के प्रति सतर्क रहने पर ही होता है।

अतः दूसरे वे पण्डितम्मन्यमान पुरुष हैं जो स्वयं में ज्ञानी होने का मिथक्-आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन जाते हैं। ये शास्त्र ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान मान करणीय कर्म नहीं करते तथा इन्द्रियाधीन शास्त्र-विरूद्ध आचरण करने लगते हैं। अतः विषयासक्तसकामी पुरुषों की अपेक्षा और भी घोर अन्धकार में पहुँच जाते हैं तथा विभिन्न निम्न योनियों में भ्रमण किया करते हैं।

यह मन्त्र इस प्रकार विद्या एवं अविद्या के परिणामों से अवगत कराता है। दयानन्द सरस्वती ने विद्या एवं अविद्या के संदर्भ में लिखा हैं:- "वेत्ति यथा वत्तत्वं पदार्थां स्वरूपं यथा सा विद्या, यथा तत्स्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिनन्यन्यन्निश्चिरोति साऽविद्या" (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लासः) अर्थात् जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बोधित होवे, वह 'विद्या' कहलाती है एवं जिससे तत्स्वरूप न जान पड़े, अनन्यथातद् बुद्धि हो, तो वह अविद्या कहलाती है।

अविद्या के दो अर्थ हैं (१) योगदर्शन के अनुसार पारिभाषिक अर्थ बताया गया है "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" अनित्य वस्तु में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा की भावना रखने का नाम ही 'अविद्या' है। अर्थात् बुद्धि द्वारा यथार्थ रूप को अन्य रूप में प्रकट करना ही अविद्या है। यथा अनित्य शरीर को नित्य मानना, पाप, लोभ, चौर्य, हिंसा आदि अपवित्र कार्यों को पवित्र मानना, भौतिक सुख के अभाव को दुख मानना एवं भौतिक सुख को ही आनन्द मानना शरीर जैसे क्षणिक अनात्म तत्त्व को आत्मा मानना एवं आत्मा को अनात्म समझना ही 'अविद्या' है।

टिप्पणी :-

1) अविद्या - कर्म अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म।
2) विद्या - ज्ञान अर्थात् उपासना।

भावार्थ :-

जो मनुष्य कार्य तो करता है पर उसके लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं समझता , वह अन्धेरे में गमन करता है परन्तु इसके विपरीत जो ज्ञानार्जन में तो लगा रहता है पर उसके अनुसार कार्य नहीं करता वह उससे भी अधिक अन्धेरे में जाता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1 •विद्या" शब्दस्य अर्थः कः?

  2 अविद्या" शब्दस्य अर्थः कः?

सम्बन्ध - शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर ज्ञान तथा कर्मका अनुष्ठान करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं-

14.4 विद्या और अविद्या का फल भेद

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। 10 ।।

विद्यया-ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे; अन्यत् एव दूसरा ही फल; आहुः बतलाते हैं; (और) अविद्यया कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे; अन्यत् दूसरा (ही) फल; आहुः बतलाते हैं; इति इस प्रकार; (हमने) धीराणाम् (उन) धीर पुरुषोंके; शुश्रुम वचन सुने हैं; ये जिन्होंने; नः हमें; तत्-उस विषयको विचचक्षिरे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

सरलार्थ :-

विद्या से और ही फल बतलाया है तथा अविद्या से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरूषों से सुना है , जिन्होंने हमारे लिए उसका उपदेश किया है।

व्याख्या –

सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है-

नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य ऐहलौकिक और पारलौकिक भोग-सामग्रियों और उनके साधनोंसे पूर्ण विरक्ति, संयमपूर्ण पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता। इस यथार्थ ज्ञानके अनुष्ठानसे प्राप्त होता है- परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता १८।४९-५५)। यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल, ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले कर्मका स्वरूप है-कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग-द्वेष और फल-कामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितिके अनुरूप केवल भगवत्सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन। इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारोंका अशेष रूपसे नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे रहित होकर साधक मृत्युमय संसार सागरसे तर जाता है। सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो पुनर्जन्मरूप फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।शंङ्कर ने अपने भाष्य में विद्या का फल देवलोक की प्राप्ति और कर्मों का फल पितृलोक की प्राप्ति बतायी है। परम्परावादी आचार्यों ने अविद्या का अर्थ कर्म समझा है। उनके अनुसार वास्तविक एवं यथार्थ रूप में कर्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यक्तियों के सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्भावनाएँ एवं असत् आचरण आदि दूर हो जाया करते हैं। वह शनैः शनैः साधनों का आश्रय प्राप्त करके शोक, मोह, हर्ष इत्यादि मानसिक विकारों से रहित होकर स्वयं को पवित्र बना लिया करता है।

यथार्थ कर्म का अर्थ है- "शास्त्र द्वारा बताये गये सत्कर्मों का सच्ची श्रद्धापूर्वक निष्कामभाव के साथ किया जाना।"

उसीप्रकार नित्यानित्य पदार्थों का विवेक ही ज्ञान है। क्षणभंगुर एवं शीघ्र विनाश हो जानेवाली इस लोक संबंधी अथवा स्वर्गलोक (परलोक) संबंधी भोग्य वस्तुओं आदि से तथा उनके साधनों से पूर्ण विरागभाव को प्राप्त कर लेना, पूर्ण संयम के साथ अपने जीवन को पवित्रता एवं शुद्धता के साथ बिताना तथा एकमात्र परमात्मा के ही चिन्तन में संलग्न रहना भी ज्ञान है किन्तु ज्ञान के मिथ्या अभिमान से संलग्न रहनेवाले स्वेच्छाचारी पुरुषों को परमात्मा की प्राप्ति नहीं हुआ करती है और उसका फल भी इसके विपरीत ही हुआ करता है।

वस्तुतः उपनिषद् का अविद्या से अभिप्रेत अर्थ भौतिक ज्ञान ही है। अविद्या से अर्थ है ऐसी विद्या, जिससे स्वयं को नहीं जाना जा सकता, किन्तु अन्य बाह्य बातें जान ली जाती हैं। अविद्या 'पदार्थ-विद्या' है। अविद्या अज्ञान है। अविद्या का अर्थ है जो हमें ज्ञानी होने का भान कराये। यही उपनिषद् की अविद्या है।

जहाँ विद्या का अर्थ आत्मज्ञान है, वहीं अविद्या का अर्थ होगा पदार्थज्ञान या पर ज्ञान। जो ज्ञान स्वयं को आन्तरिक रूप से रूपान्तरित किये बिना ही छोड़ दे। तो यही अविद्या है। दूसरे शब्दों में, जिस विद्या को प्राप्त कर भी मैं वैसा ही रहा जैसा विद्या प्राप्त करने के पूर्व था तो वह भी अविद्या ही है। तीसरे शब्दों में, जिस विद्या को प्राप्त कर भी मैं वैसा ही रहा जैसा पहले था, किन्तु ज्ञानी होने का भाव आ गया, तो वह भी अविद्या ही है।

विद्या वही है जो आपको बदल दे। आपका पुनर्जन्म हो, नवजागरण हो। सुकरात ने भी कहा था :- "Truth is virtue" ज्ञान ही सद्गुण है। एक आदमी यह जान लेता है कि क्रोध बुरा है, फिर भी क्रोध करता है, तो अविद्या है। ज्ञान की कसौटी तो वस्तुतः वह ही है जो ज्ञान तत्क्षण आचरण बन जाय। यदि आचरण को बदलने के लिए थोपना पड़े तो वह ज्ञान अथवा विद्या से रूपान्तरित न होकर आरोपित कहा जाएगा। वैसा ज्ञान जिसे आरोपित करना पड़े वह अविद्या कहलायेगा। लोगों से हमने सुन लिया है कि क्रोध बुरा है और उस सुने हुए को ज्ञान मान लिया, तो वह अविद्या है। जब हम स्वयं अनुभव करेंगे कि क्रोध बुरा है, क्रोधाग्नि में जब सभी अंग जलेंगे, प्राण उतप्त होंगे, और तब जब किसी से यह पूछने या जानने की आवश्यकता नहीं होगी कि क्रोध बुरा है तो यही ज्ञान अथवा विद्या कहलाएगी।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक् पृथक्-रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

टिप्पणी :-

1) शुश्रुम - श्रुतवन्तः अर्थात् सुना है।
2) धीराणाम् - धीमताम् अर्थात् बुद्धिमानों का।

भावार्थ :-

ज्ञान का फल और है तथा कर्म का फल और ; ऐसा ज्ञानी लोग हमें बार-बार उपदेश देते हैं।

सम्बन्ध - अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म-दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं-

14.5 विद्या और अविद्या के समुच्चय का फल

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। 11 ।।

यः जो मनुष्य; तत् उभयम्-उन दोनोंको (अर्थात्) विद्याम् ज्ञानके तत्त्वको; च और; अविद्याम् कर्मके तत्त्वको; च भी; सह-साथ-साथ; वेद यथार्थतः जान लेता है; अविद्यया (वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे; मृत्युम् मृत्युको; तीर्खा पार करके; विद्यया-ज्ञानके अनुष्ठानसे; अमृतम् अमृतको; अश्नुते भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

सरलार्थ :-

जो विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरता को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या-

कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४। १६)। इसी कारण कर्म- रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल-कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८।८)। इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं। अतः वे या तो अपनेको पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, या कर्मोंको भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है। इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा रागद्वेष और फलकामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है। इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भावसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है। इस कर्मसाधनके साथ-ही- साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहनेसे श्रीपरमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी :-

1) वेद - विद् धातु से जानने के अर्थ में।
2) मृत्युम् - मृत्यु शब्द से द्वितीया एकवचन में अर्थात् मृत्यु को।

भावार्थ :-

भाव यह है कि जो ज्ञान और कर्म को एकसाथ समझ लेता है , वह कर्म से मृत्यु के बन्धन को पार करके ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

विद्या और अविद्या का रहस्य

ईशावास्योपनिषद् में वर्णित विद्या और अविद्या का बहुत ही गूढ़ रहस्य है। विद्या-अविद्या के अतीव सुन्दर रहस्यमय एवं प्रेरणात्मक अर्थ किये जा सकते हैं जो साधकों को भवसागर से पारकर परमेश्वर की अपार अनुकम्पा कर पात्र बना सकते हैं। जैसे विद्या करते हैं उस ज्ञान को जो मनुष्य को अमरत्व , मोक्ष या निःश्रेयस की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार विद्या का अर्थ हुआ वह अध्यात्म विद्या या वह अध्यात्म ज्ञान जिससे मनुष्य जन्म - मरण के बन्धन से छूटकर अमर हो जाए।

इसके अतिरिक्त अविद्या उसको कहते हैं जो अध्यात्मविद्या अर्थात् अध्यात्मज्ञान तो न हो परन्तु उससे भिन्न ज्ञान जो उसका पूरक हो। तो ऐसी जो विद्या है , वह है भौतिक विद्या - ऐसा जो ज्ञान है , वह है भौतिक ज्ञान अर्थात् कर्म।

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥ ९ ॥

इसलिए जो केवल इस संसार में विद्या अर्थात् ज्ञान की उपासना करते हैं , वे गहन अन्धकार में जाते हैं परन्तु जो प्राणी कर्म में ही दिन रात लगे रहते हैं या कर्म में ही रत रहते हैं ,वे उससे भी बढ़कर घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। अतः ये दोनों ही त्याज्य हैं। लेकिन यहाँ उपनिषद् का कहना है कि यदि इन दोनों को साथ-साथ अपनाया जाए या इनको एकसाथ आचरण में लाया जाए तो ये दोनों ही बड़े उपकारी सिद्ध होते हैं। जैसा अधोलिखित मन्त्र में कहा है:-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

अर्थात् जो प्राणी विद्या-अविद्या को एकसाथ समझ लेता है। वह अविद्या - भौतिक ज्ञान अथवा कर्म से मृत्यु को पार करके विद्या अर्थात् अध्यात्म ज्ञान से अमरत्व या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। विद्या के माध्यम से हम आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचान सकते हैं और समझ सकते हैं कि जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष है। यह ज्ञान हमें जीवन की नश्वरता और उसकी अस्थिरता का बोध कराता है, जिससे हम सांसारिक मोह-माया से ऊपर उठ सकते हैं।दूसरी ओर, अविद्या हमें भौतिक संसार की वास्तविकताओं और जिम्मेदारियों से अवगत कराती है।

यह ज्ञान हमें जीवन के व्यावहारिक पहलुओं, जैसे परिवार, समाज, और कार्यक्षेत्र की महत्ता समझाता है। अविद्या के माध्यम से हम अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं और समाज में अपना योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार, अविद्या हमें जीवन के व्यावहारिक और भौतिक पक्षों को समझने में सहायता करती है।

ईशावास्योपनिषद् के अनुसार,विद्या का मार्ग अपनाकर व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, जो मोक्ष और परम आनंद की दिशा में अग्रसर करता है।

अविद्या हमें वास्तविकता से दूर ले जाती है और हमें संसारिक बंधनों में बांधती है। यह ज्ञान हमें आत्मा के सत्य से दूर करता है और केवल भौतिक सुख-सुविधाओं तक सीमित रखता है।

विद्या और अविद्या दोनों का संतुलन हमें एक समग्र दृष्टिकोण प्रदान करता है। केवल आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए संसारिक कर्तव्यों को त्यागना सही नहीं है, और न ही केवल भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान को नजरअंदाज करना उचित है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करके ही हम जीवन के समग्र उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं।इस संतुलन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि विद्या और अविद्या दोनों के माध्यम से हम जीवन की चुनौतियों का सामना करने और उन्हें समझने में सक्षम होते हैं। विद्या हमें आंतरिक शांति और स्थिरता प्रदान करती है, जबकि अविद्या हमें जीवन की बाहरी चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करती है। इस प्रकार, विद्या और अविद्या का संतुलन हमें एक संतुलित और सार्थक जीवन जीने की प्रेरणा देता है।ईशावास्य उपनिषद् में विद्या और अविद्या के इस संतुलन का उद्देश्य व्यक्ति को न केवल मोक्ष की ओर ले जाना है, बल्कि उसे जीवन की समग्रता और उसकी विविधताओं को समझने और स्वीकारने की प्रेरणा भी देना है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1. अविद्या कस्मिन् मार्गे नयति?

2. विद्यया अमृतमश्नुते" इति वाक्यस्य तात्पर्यम् किम्?

14.6 सारांश

ईशावास्योपनिषद् का विद्या और अविद्या पर दृष्टिकोण हमें यह सिखाता है कि जीवन की पूर्णता और सच्चे आनंद के लिए दोनों का संतुलन आवश्यक है। न केवल आध्यात्मिक ज्ञान, बल्कि भौतिक ज्ञान का भी सही तरीके से उपयोग करना चाहिए। दोनों को संतुलित करके ही व्यक्ति सच्चे ज्ञान और मुक्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। अविद्या भौतिक ज्ञान, कर्मकांड, और सांसारिक गतिविधियों का प्रतीक है। जो लोग केवल इन भौतिक गतिविधियों में लिप्त रहते हैं, उन्हें आध्यात्मिक अंधकार का सामना करना पड़ता है।विद्या आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, या आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक है। हालांकि, जो केवल विद्या में लिप्त रहते हैं और संसार को नकारते हैं, वे भी एक प्रकार के अंधकार में फँस जाते हैं क्योंकि वे जीवन की समग्रता को नहीं समझ पाते।इस प्रकार, विद्या और अविद्या दोनों को समझकर और संतुलित करके जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है।

14.7 कठिन शब्दावली

रताः आसक्त हैं;	ततः = उससे, भूयः इव अधिक ही,
तमः अन्धकार में,	धीराणाम् =बुद्धिमानों से,
शुश्रुम= सुना है	विचचक्षिरे =व्याख्या की
तीर्त्वा= पार करके	अश्नुते = प्राप्त कर लेता है

14.8 स्वंय आकलन प्रश्नों के उतर

अभ्यास प्रश्न 1

1) ज्ञान अर्थात् उपासना
2) कर्म अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म।

अभ्यास प्रश्न 2

1) संसारे

2) ज्ञान द्वारा अमृतत्वम की प्राप्ति

14.9 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

3) ईशावास्योपनिषद् ; डा॰ शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

14.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1)"विद्यामृतमश्नुते " इत्यस्य अभिप्रायं वर्णयत ।

2)'विद्या-अविद्या'-इति सम्बन्धे ईशोपनिषदि किं प्रतिपादितम्?

3)अधस्तनेषु द्वयोरेव मन्त्रयो: व्याख्याप्रसंगनिर्देशपुरस्सरं कर्त्या:-

(क)अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥

(ख)विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

ग)अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।

¤¤¤¤

इकाई 15
सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओ का रहस्य

संरचना

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का समुच्चय
- स्वयं आकलन प्रश्न

15.4 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का फलभेद
15.5 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय का फल
- स्वयं आकलन प्रश्न

15.6 सारांश
15.7 कठिन शब्दावली
15.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
15.9 सहायक ग्रन्थ
15.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

ईशावास्योपनिषद् के अठारह मंत्रों में गहराई से छिपे हुए आध्यात्मिक और दार्शनिक संदेश हमें जीवन की सत्यता और उद्देश्य को समझने के लिए प्रेरित करते हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण विषय सम्भूति और असम्भूति का है, जो सृष्टि और विनाश की अवधारणाओं से संबंधित है।सम्भूति का अर्थ है 'सृष्टि' या 'उत्पत्ति', जो ब्रह्मांड की सृजनशील और प्रकट रूप को दर्शाता है। यह उस तत्व को इंगित करता है जो सृजन का आधार है और जिसके द्वारा संसार का निर्माण होता है। वहीं, असम्भूति का अर्थ है 'विनाश' या 'विलय',।इस अध्याय में, सम्भूति और असम्भूति के माध्यम से उपनिषद् हमें सृष्टि और विनाश के चक्र को समझने के लिए प्रेरित करता है। यह हमें यह सिखाता है कि सृष्टि और विनाश दोनों ही एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं और दोनों का ही अपना महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् का यह दृष्टिकोण हमें जीवन की अस्थायीता और स्थायित्व दोनों को स्वीकारने और उन्हें समाहित करने की दिशा में मार्गदर्शन करता है।इस अध्याय की प्रस्तावना में, हम सम्भूति और असम्भूति की व्याख्या करते हुए यह जानने का प्रयास करेंगे कि कैसे ये अवधारणाएँ हमें ब्रह्मांड और स्वयं की गहरी समझ प्रदान करती हैं। यह विचारणीय है कि सम्भूति और असम्भूति के द्वंद्व को समझकर हम जीवन के परम सत्य और आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

15.2 उद्देश्य

•उपनिषद् अध्ययन से विश्व वाङ्मय" का ज्ञान कराना।।

•उपनिषद् सार एवं उसमें निहित ज्ञान का अर्जन कराना।

• सृष्टि कल्याणार्थ ज्ञानार्जित करना।

• सुखमय जीवनयापन करने की कला सिखाना।

15.3 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का समुच्चय

सम्बन्ध - अब अगले तीन मन्त्रोंमें असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा। इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है- जिनकी पूर्णरूपसे सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोग-सामग्रियाँ। इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति' के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सम्भूति शब्दका अर्थ है- जिसकी सत्ता पूर्णरूपसे हो वह सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७। ६-७) ।

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस भावको समझानेके लिये पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यारताः ॥ १२ ॥

ये जो मनुष्य; असम्भूतिम्-विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी; उपासते उपासना करते हैं; (ते) वे; अन्धम् अज्ञानरूप; तमः घोर अन्धकारमें; प्रविशन्ति प्रवेश करते हैं; (और) ये जो; सम्भूत्याम् अविनाशी परमेश्वरमें; रताः- रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; ते वे; ततः उनसे; उभी; भूयः इव मानो अधिकतर; तमः अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

सरलार्थ :-

जो असम्भूति अर्थात् अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म में रत हैं, वे मानो उससे भी गहन अन्धकार प्रवेश करते हैं।

व्याख्या-

जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन सेवनमें सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं, जो स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण अभावग्रस्त और शरीरकी दृष्टिसे विनाशशील हैं, उनके उपासक वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओंके लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं। यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है। (गीता ७। २० से २३)

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न समझनेके कारण न तो भगवान्का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धाका अभाव तथा भोगोंमें आसक्ति

होनेके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपासक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोग मिथ्याभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनोंका सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्जालमें फँसाकर उनके मनोंमें भी देवोपासना आदिके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंको अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगनेके लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियोंमें और रौरव कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है ।

जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रदेश करते हैं और जो सम्भूति में प्रीतिमान् हैं, वे तो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सामान्यतः 'सम्भवन' का नाम 'सम्भूति' है। अतः 'उत्पन्न होना' जिसका धर्म है, वह 'कार्य' सम्भूति है। कार्यों में आदिकार्य हिरण्यगर्भ है, इसलिए शङ्कराचार्य के अनुसार हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म ही यहाँ 'सम्भूति' शब्द से वाच्य है। इसे 'व्याकृत कार्य' भी कहा जाता है। यह ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति है। माया की उपाधि से संयुक्त ब्रह्म जगत्-सृष्टि का कारण है। इसे ही वेदान्त में अपरब्रह्म, सगुणब्रह्म, कार्यब्रह्म, ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा आदि नामों से अभिहित किया जाता है।' 'हिरण्यगर्भ' हर बार जगत् के आरम्भ में आविर्भूत होता है और हर बार जगत् के अन्त में लुप्त हो जाता है। शङ्कर के समान अनन्ताचार्य, उपनिषद्ब्रह्मयोगी, आनन्दभट्ट, रामचन्द्र पण्डित, ब्रह्मानन्द और शकुरानन्द ने 'सम्भूति' से वार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ का अर्थ ग्रहण किया है। सम्भूति से अन्य 'असम्भूति' है। अद्वैताचार्यों के मत में यह कार्यभिन्ना कारणस्वरूपा प्रकृति है। यह सब कार्यों की बीजरूपा है। इसकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए यह 'अव्याकृत प्रकृति' के नाम से जानी जाती है। (गीता १६। १८-१९) ॥ १२

टिप्पणी :-

1) असम्भूतिम् - न $ सम् $ भू $ क्तिन् ; द्वितीया एकवचन अर्थात् असम्भव।

भावार्थ :-

कहने का भाव यह है कि जो मनुष्य प्रकृति की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जाते हैं परन्तु जो केवलमात्र सृष्टि में ही रत रहते हैं, वे उससे भी घोर अन्धकार में जाते हैं।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) असम्भूति शब्दस्य अर्थ कः?

2) सम्भूति शब्दस्य अर्थ कः?

15.4 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का फलभेद

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भवात्-अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे; अन्यत् एव दूसरा ही फल; आहुः बतलाते हैं; (और) असम्भवात् - विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी उपासनासे; अन्यत्-दूसरा (ही) फल; आहुः बतलाते हैं; इति इस

प्रकार; (हमने) धीराणाम् (उन) धीर पुरुषोंके; शुश्रुम वचन सुने हैं; ये जिन्होंने; नः हमें; तत्-उस विषयको; विचचक्षिरे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

सरलार्थ :-

सम्भव अर्थात् सम्भूति से और ही फल कहते हैं, असम्भव अर्थात् असम्भूति से और ही फल कहते हैं ; ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है , जिन्होंने हमारे लिए उसकी व्याख्या की थी।

व्याख्या –

अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है-परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति, श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्दघन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना। इस प्रकारकी सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ९।३४)। ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियोंको जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। इसी प्रकार विनाशशील देवता, पितर, मनुष्य आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है-शास्त्रों एवं श्रीभगवान्के आज्ञानुसार (गीता १७। १४) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा-पूजादि अवश्य- कर्तव्य समझकर करना और उसको भगवान्की आज्ञाका पालन एवं उनकी परम सेवा समझना। इस प्रकार निष्कामभावसे देव-पितर-मनुष्य आदिकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा उनको श्रीभगवान्की कृपा एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय संसारसागरसे तर जाते हैं। विनाशशील देवता आदिकी सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।दयानन्द के मन्त्रार्थ के अनुसार योगीजन सम्भव अर्थात् संयोग से उत्पन्न कार्य से और ही कार्य वा फल बतलाते हैं और असम्भव अर्थात् उत्पन्न न होने वाले कारण से भिन्न कार्य वा फल बतलाते हैं। अतः सब मनुष्यों को कार्य और कारण वस्तु को जानना चाहिए । सातवलेकर ने माना है कि संघसत्तावाद का फल भिन्न है और व्यक्तिसत्तावाद का फल भिन्न है। सम्भूति और असम्भूति को क्रमशः अविनाशी परमात्मा और विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदि के अर्थ में ग्रहण करने पर इस मन्त्र का भाव होगा कि अविनाशी ब्रह्म की यथार्थ उपासना से परब्रह्म की प्राप्तिरूप फल मिलता है, जो विनाशशील देव- पितर आदि की यथार्थ उपासना से प्राप्त भोग्यपदार्थरूप फल से सर्वथा भिन्न है ।

प्रस्तुत मंत्र सम्भूति और असम्भूति की उपासना करनेवाले के पृथक् पृथक् परिणामों को बतलाया गया है। साथ ही इस मन्त्र में एक और बात जो उभर कर आयी है वह यह है कि उपनिषद् ब्रह्म के दो स्वरूपों की बात करते हैं। रूप ही दो हैं, तत्त्व तो एक है। या और भी यह कहना ठीक है कि ब्रह्म को जानने वाले दो तरह के हैं। एक तो अविकारी, निर्विकार, आनन्दमय ब्रह्म का अव्यक्त रूप और दूसरा प्रत्यक्ष जगत् रूप में ब्रह्म का कार्य रूप। एक तो कारण-रूप मिट्टी और दूसरा कार्य-रूप घट। एक तो मिट्टी ब्रह्म है जो कारण रूप अव्यक्त ब्रह्म है एवं दूसरा घट रूप में कार्य रूप ब्रह्म, जो ब्रह्म का व्यक्त रूप है। व्यक्त दृश्य है जबकि अव्यक्त अदृश्य। उपनिषद रचे गये, तब देवताओं की उपासना प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी। वह देव उपासना ब्रह्म का शुद्ध-कार्य-रूप है। यह पत्थर भी उन देवताओं की अभिव्यक्ति है जो ब्रह्म का शुद्ध कार्य-

रूप हैं। दिव्य वह है जो प्रकट रहकर भी अप्रकट दिखता हो, जिनको हम देवपुत्र, अवतार या तीर्थंकर कहते हैं। वह वस्तुतः मृण्मूर्त्ति का प्रकट रूप है, जो द्वार के बाहर से हमें दिखाई पड़ती है। सामने का चेहरा ठीक हमारे जैसा साफ दिखाई पड़ता है, फिर भी ठीक हमारे जैसा नहीं है,कुछ अप्रकट सा, उस मृदा वाले ब्रह्म की झलकियाँ दिखाई पड़ती हैं। ऐसी झलकनेवाली समस्त चेतनाएँ दिव्य हैं जो प्रकटरूप में दिख पड़ती हैं और अप्रकट को भी दर्शाती रहती हैं।

यह इस बात की ओर इंगित करता है कि जो मृण्मूर्तियों की धुंधली परछाई में अपने इष्ट-देवता को खोजता है तो उनका तादात्म्य प्रत्यक्षतः उपासक से हो जाता है। अप्रकट का यह तादात्म्य इतना मजबूत होता है कि मनुष्य रूप में प्रकट देवता खो जाते है। मंत्र कहता है कि ब्रह्म का वह जो प्रकट रूप अर्थात् कार्य-रूप है उसकी उपासना के भी अपने परिणाम हैं, वे फल सुखद, शांतिदायी एवं प्रिय हैं किन्तु मुक्तिदायी नहीं हैं क्योंकि ये स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वर्ग सुख देने वाला है, आनन्द देने वाला नहीं। सुख कितना भी अधिक हो, खो सकता है, उसका अंत है और ज्यों ही सुख का अंत होगा नर्क में पदार्पण हो जाएगा। इनसे विपरीत मोक्ष की विशेषता है कि मोक्ष या आनन्द का प्रारम्भ है किन्तु अन्त नहीं। नर्क अथवा दुःख प्रारम्भ रहित है तथा स्वर्ग का प्रारम्भ भी है और अंत भी है। अतः मोक्ष ही उपासना के उपरांत श्रेयस्कर परिणाम प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक् पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३॥

टिप्पणी :-

1) सम्भवात् - सम्भव शब्द से पंचमी एकवचन अर्थात् सम्भूति से।

2) धीराणां - बुद्धिमतां अर्थात् विद्वानों का।

भावार्थ :-

मन्त्र का भाव यह है कि कार्यरूप प्रकृति का फल और है तथा कारणरूप सृष्टि का फल और ; ऐसा विद्वान् लोग हमें उपदेश देते आ रहे हैं।

15.5 सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय का फल

सम्बन्ध - अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट बतलाते हैं-

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयः सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्ध्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यः- जो मनुष्य; तत् उभयम्-उन दोनोंको; (अर्थात्) सम्भूतिम् अविनाशी परमेश्वरको; च और; विनाशम् विनाशशील देवादिको; च भी; सह-साथ-साथ; वेद-यथार्थतः जान लेता है; विनाशेन (वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे; मृत्युम्-मृत्युको; तीर्त्वा पार करके; सम्भूत्या अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे; अमृतम्-अमृतको; अश्नुते भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

सरलार्थ :-

जो सम्भूति और विनाश दोनों को साथ-साथ जानता है, वह विनाश से मृत्यु को पार करके सम्भूति से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ हैं, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूपभूत -गुणगण-विभूषित) हैं और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोगसामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखके कारण हैं; तथापि इनमें जो सत्ता स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्की है और भगवान्के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथायोग्य सेवा पूजा आदि करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान्की ही वाणी हैं, वह मनुष्य ऐहलौकिक तथा पारलौकिक देव-पितरादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न होकर कामना- ममता आदि हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा- पूजादि करता है। इससे उसकी जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलती है और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे वह सहज ही मृत्युमय संसार सागरसे तर जाता है। विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है। सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट फल का उल्लेख है। मन्त्र में 'सम्भूति' के साथ 'विनाश' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो पिछले दोनों मन्त्रों में अप्रयुक्त है। व्याख्याकारों ने इसका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है। अर्थ-सङ्गति की अपेक्षा से शङ्कर, उपनिषद्ब्रह्मयोगी, आनन्दभट्ट, रामचन्द्रपण्डित, शङ्करानन्द आदि भाष्यकारों ने 'विनाश' का अर्थ 'सम्भूति' से लिया है। सभी कार्य नाशवान् हैं। कार्य का धर्म विनाश है, अतः कार्य ही 'विनाश' शब्द से वाच्य है। तदनुसार यहाँ 'विनाश' शब्द हिरण्यगर्भरूप कार्यब्रह्म का वाचक है, जिसे पहले 'सम्भूति' नाम से कहा गया है। उक्त भाष्यकारों ने पुनरावृत्ति निवारणार्थ मन्त्र में प्राप्त 'सम्भूति' पद को अकारलोप के निर्देश द्वारा 'असम्भूति' रूप में ग्रहण किया है।' वस्तुतः सम्भूति और असम्भूति में असम्भूति ही उत्कृष्ट है, क्योंकि वह कारणरूप है। फिर प्रकृतिलयरूप अमृतत्व की प्राप्ति भी असम्भूति द्वारा ही होती है। इसीलिए यहाँ 'सम्भूति' शब्द का 'असम्भूति' रूप में ग्रहण उपयुक्त प्रतीत होता है। शङ्करमत के अनुसार बुति का तात्पर्य है कि जो पुरुष असम्भूति अर्थात् अव्यक्तोपासना और विनाश अर्थात् विनाशधर्मक हिरण्यगर्भ की उपासना इन दोनों को एक साथ एक ही पुरुष द्वारा अनुष्ठेय जानता है और जानकर कारण और कार्य की इन दोनों उपासनाओं को समुच्चयपूर्वक करता है, वह उपासक विनाशरूप कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना से अधर्म तथा कामना आदि दोषों से उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूप मृत्यु को पार करके, अनन्तर असम्भूतिरूप अव्याकृत प्रकृति की उपासना से प्रकृतिलयरूप आपेक्षिक अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥

इस मन्त्र में शङ्कराचार्य द्वारा सम्भूति एवं विनाश इन दोनों शब्दों के द्वारा सृष्टि, प्रलयादि की विवक्षा से मृत्यु का तरण तथा अमृतत्व की प्राप्ति रूप फल का विभाग किया गया है। शङ्कराचार्य ने कहा है कि श्रुति का 'सम्भूति' शब्द हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति को और 'असम्भूति' शब्द अव्यक्त प्रधान को बतलाता है। इस मंत्र में अकार का प्रश्लेष है अतः शंकर अपने भाष्य में 'तीत्र्वा सम्भूत्या' में असम्भूति यह पदच्छेद करते हैं। साथ ही बताते हैं कि मृत्यु का तरण, हिरण्यगर्भ की उपासना के द्वारा अणिमा आदि के लाभ से अनैश्वर्य को प्राप्त करना है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि प्रकृति की उपासना से प्रकृति-लय ही 'अमृत' शब्द काअर्थ है। शङ्कराचार्य ने उपर्युक्त मंत्र का कुछ भी विशेष प्रयोजन अपने भाष्य में नहीं बताया है। वस्तुतः विनाश

शब्द का अर्थ नाश हो जाना है किन्तु यहाँ विनाशशील का अर्थ नाम, रूप, क्रिया-जगत् तथा संभवन समझना चाहिए। इस मंत्र में आनेवाली वस्तु जो विनाश शब्द से निर्दिष्ट है वह बारहवें मंत्र में आये 'असंभूति' शब्द का ही पर्याय है। वह उस दुर्बोध 'असम्भूति' शब्द को व्यक्त करता है जिसे बहुधा 'अनभिव्यक्त' अर्थ में समझा जाता है। ' सम्भूति अभिव्यक्त है, असम्भूति अनभिव्यक्त है। किन्तु असम्भूति को विनाश के समतुल्य मानने के कारण, सम्भूति का अर्थ निश्चय ही अविनाशी होना चाहिए अर्थात् शुद्ध सत् या ब्रह्म। इसीकारण शङ्कराचार्य ने यहाँ वर्णित सम्भूति 'शब्द में अकार का प्रश्लेष माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वर्णित है :-

अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा (४.५.१४)

अर्थात् 'यह आत्मा वस्तुतः अविनाशी और अधिकारी है'। गीता (२.१७) में भी वर्णित है:- **"अविनाशी तु तद्विद्धि" अर्थात् उसे अविनाशी जानो।**

इसप्रकार इस मंत्र में वर्णित 'संभूति' की यदि उपर्युक्त व्याख्या की जाय तो यह ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र की उद्घोषणा के अनुकूल होगा। इस आधार पर ऋषि का यह मन्तव्य है कि जो उपासक व्यक्ति उस परमात्मा के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, साथ ही उस विनाशशील प्रकृति अथवा उसके पदार्थों की वास्तविकता को भी समझ लिया करता है, ऐसा व्यक्ति इस सांसारिकता से पार होता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लिया करता है। वस्तुतः प्रकृति अथवा सम्पूर्ण पदार्थों के निर्माण में मनुष्य साधन है एवं सभी चीजें मानव-निमित्त हैं जो क्षगभङ्गुर एवं नष्ट होनेवाली हैं। अतएव इनके प्रति मोह उचित नहीं है। हमें सदैव यह समझना चाहिए कि सभी सांसारिक वस्तुएँ परमात्मा की हैं, हम सिर्फ इसका उपभोग करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी व्यक्तियों का इन प्राकृतिक पदार्थों के प्रति किसी प्रकार का अनुराग शेष नहीं रह जाता है। वे समझ जाते हैं कि इन सांसारिक पदार्थों के प्रति उनका यह अनुराग उन्हें सांसारिक बंधन (जीवन एवं मृत्यु) में बाँधेगा, जो परमपुरुषार्थ तक पहुँचने में सबसे बड़ी बाधा होगी। अतः मानव को यह ज्ञान होना चाहिए कि हम सांसारिक पदार्थों के प्रति निष्काम भाव बरतें तथा शनैः शनैः परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करें क्योंकि प्रकृति और प्रकृति द्वारा निर्मित पदार्थों के यथार्थ ज्ञान का अनुभव किये बिना परमात्मा का ज्ञान हो सकना संभव नहीं।

सरलार्थ :-

जो सम्भूति और विनाश दोनों को साथ-साथ जानता है, वह विनाश से मृत्यु को पार करके सम्भूति से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी :-

1) विनाशम् - वि $ नश् धातु ; विनाश अर्थात् जगत्।

2) अश्नुते - प्राप्नोति अर्थात् प्राप्त करता है।

भावार्थ :-

भाव यह है कि जो प्राणी कार्यरूप जगत् और कारणरूप जगत् को एकसाथ जानता है , वह कार्यरूप अर्थात् से मृत्यु को पार करके कार्यब्रह्म से मोक्ष को प्राप्त करता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) सम्भूति और असम्भूति की उपासना का फल क्या है?

2) ये असम्भूतिम् उपासते, ते ____प्रविशन्ति।

15.6 सारांश

ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का रहस्य यह है कि जीवन की पूर्णता और ज्ञान के लिए दोनों का संतुलन आवश्यक है। सृजनात्मक शक्तियों और निराकार ब्रह्म दोनों की उपासना करके ही व्यक्ति अज्ञान को पार कर सकता है और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस प्रकार, सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं का संतुलन जीवन के समग्र उद्देश्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

15.7 कठिन शब्दावली

विजानतः = आत्मभाव को प्राप्त करने वाला   असम्भूतिः = अव्यक्त प्रकृति

असम्भूतिम्-विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदि   तीर्त्वा = पार करके

अन्यत्-दूसरा

15.8 स्वंय आकलन प्रश्नों के उतर

अभ्यास प्रश्न 1

1) व्यक्त प्रकृति

2) अव्यक्त प्रकृत

अभ्यास प्रश्न 2

1) अमृतत्व

2)अन्धं तम:

15.9 सहायक ग्रन्थ

1)ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

3) ईशावास्योपनिषद् ; डा॰ शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

15.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) सम्भूतेरसम्भूतेश्च रहस्यं प्रकटयत।

2) सत्यधर्मपरिचायक मन्त्रस्य व्याख्यां कुरुत।

3) कयोंशित् द्वयो: प्रसंगोल्लेखपूर्वकं व्याख्या विधेया-

(ग) अन्धं तम: प्रविशन्ति येडसम्भूतिमुपासतं।

ततो भूय इवते तमो यउ सम्भूत्यां रताःll

(घ) अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ ¤¤¤

इकाई 16
आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना

संरचना

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 अन्तकाल में उपासक की मार्गयाचना
- स्वयं आकलन प्रश्न

16.4 मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना
- स्वयं आकलन प्रश्न

16.5 सारांश
16.6 कठिन शब्दावली
16.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
16.8 सहायक ग्रन्थ
16.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

ईशावास्योपनिषद् के अंतिम चार मंत्रों (मंत्र 15 से 18) में उपनिषद् के गहन और उच्चतम दार्शनिक संदेशों का सार निहित है। इसमें आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना का वर्णन किया जाएगा। यह मंत्र हमारे जीवन, मृत्यु, आत्मा और परमात्मा की गहनतम सच्चाइयों को उद्घाटित करते हैं।इन अंतिम चार मंत्रों में, उपनिषद् का ऋषि आत्मज्ञान की अंतिम अवस्था की ओर मार्गदर्शन करता है। ।अंतिम मंत्र में मृत्यु के बाद आत्मा की परम लक्ष्य की ओर यात्रा और उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानने की बात कही गई है। यह मंत्र आत्मा के अंतिम गंतव्य की ओर संकेत करता है, जो कि परमात्मा का साक्षात्कार है।। हम जानेंगे कि कैसे ये मंत्र जीवन के अंतिम सत्य को प्रकट करते हैं और आत्मा की अनंत यात्रा को चित्रित करते हैं। ये मंत्र हमें जीवन और मृत्यु के गहरे अर्थों को समझने के लिए प्रेरित करते हैं और हमें आत्मा की अमरता और परम सत्य के साक्षात्कार की ओर अग्रसर करते हैं।

16.2 उद्देश्य

•ब्रह्म को जानना (अंतिम वास्तविकता को प्राप्त करना)

•आध्यात्मिकता से जोड़ना।

•आत्म-ज्ञान और आध्यात्मिक विकास पर बल देना

•मोक्ष एवं ईश्वर का दर्शन कराना।

16.3 अन्तकाल में उपासक की मार्गयाचना

सम्बन्ध - श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया। ईशोपनिषद् के अगले चार अंतिम मंत्र आध्यात्मिक साधक की मनोदशा की झलक देते हैं, जो साधक अपने जीवन के अंतिम

चरण में विचरण कर रहा है, जिसने धार्मिक जीवन के साथ ही सत्य-दर्शन हेतु कठिन आध्यात्मिक साधना की है, जो जीवन के उद्देश्यों के लिए या इन्द्रिय सुख अथवा सत्य और ज्ञान के लिए निरर्थक हो चुका है। ऐसे साधक की क्या मनोदशा होती है ? एक आध्यात्मिक व साधक जिसने प्रयत्नपूर्वक मार्ग में उन्नति की है, किन्तु जिसने पहले मंत्रों में प्रतिपादित ब्रह्म की पूर्णता का सर्वोच्च सत्य कभी अनुभव नहीं किया है, वह किस प्रकार मृत्यु का सामना करता है। इन चार मंत्रों में हम इन प्रश्नों का उत्तर पाते हैं, जब हम अपने मन में सोंचते हैं कि हमने आत्मानुभूति नहीं पायी। हमें जीवन्मुक्ति नहीं मिली। किन्तु, मैंने धार्मिक एवं नैतिक जीवन जीते हुए ब्रह्म रहस्य का जिज्ञासु होने के कारण साथ ही विश्वात्मा के साथ अपने आध्यात्मिक स्वरूप को संबद्ध करते हुए विश्वात्मा के लिए सूर्य को प्रतीकात्मक रूप से अगले दो मंत्रों में संबोधित किया है। अतः भगवान्‌के भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय मुखम् दृष्टये ॥ १५

पूषन् हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; सत्यस्य सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका; मुखम्- श्रीमुख; हिरण्मयेन ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; पात्रेण= पात्रसे; अपिहितम् ढका हुआ है; सत्यधर्माय आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको; दृष्टये अपने दर्शन करानेके लिये; तत्-उस आवरणको; त्वम्- आप; अपावृणु हटा लीजिये ॥ १५ ॥

सरलार्थ :-

सत्यस्वरूप ब्रह्म का मुख हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन् ! आप उस पात्र से आवरण को हटा दो , क्योंकि सत्यस्वरूप आपका मैं दर्शन करना चाहता हूँ।

व्याख्या –

भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि 'हे भगवन् ! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं, आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्यधर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ; अतएव मेरी पुष्टि-मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख- सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलकी चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है। मैं आपका निरावरण- प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निरावरण- दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण-प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये ! अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये ।

स्वर्णमय पात्र के समान चमक-दमक वाले इस संसार के वे चमकीले पदार्थ जो लोगों को आकर्षित किए हुए हैं मानव उनके चक्कर में फँसकर अपने सत्य स्वरूप को भूल जाता है। फलस्वरूप सत्यान्वेषण से हटकर इन पदार्थों के आकर्षण में इतना अधिक फंस जाया करता है कि वह अपने को तथा अपने कर्त्तव्य को भूल जाया करता है। कर्त्तव्य से विमुख होकर मनुष्य ब्रह्म साक्षात्कार के साधनों को पूर्णरूपेण भूल जाता है। भौतिक पदार्थों से आकृष्ट हुआ अपने कर्म से दूर हटता जाता है।

यह हिरण्मय पात्र ही सभी प्रकार के लोभ का उपलक्षणमात्र है और ब्रह्म साक्षात्कार में वही प्रबलतम बाधक शत्रु है क्योंकि हम सामान्यतया ऐसा मानते हैं कि सत्य अगर ढंका होगा, तो अन्धकार से ढंका होगा। पर यह मंत्र कहता है कि अंधकार नहीं वरन् प्रकाश से आच्छादित है यह परम सत्य। हे प्रभु! तू

इस प्रकार के पर्दे को उठा दे।प्रकाश में आँखें चौंधिया जाती है। जब प्रकाश अत्यधिक हो तो आँखे चौंधने लगती है, आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है क्योंकि वृहत्तर प्रकाश के समक्ष चोधने की रोशनी कम पड़ जाती है। प्रकाश का यह आधिक्य ही अन्धकार का प्रयो करता है क्योंकि आँखे हमारी निर्बल है, पात्रता ही हमारी निर्बल है। जैसा भ्रम पैदा की ओर यात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ता है। वस्तुतः आत्मा के चारों ओर आवृत्त अंधकार प्रकाश के आधिक्य का कारण है।

समीचीन भी यही है कि प्रकाश के वृत्त के भीतर ही सत्य छिपा हो, और हमें प्रतीत होनेवाला अंधकार हमारी भ्रांति हो। सत्य के आसपास अंधकार कैसे हो सकता है। और अगर सत्य के आसपास अंधकार हो सकता है, तो फिर उस जगत् में प्रकाश कहाँ से हो सकेगा और फिर सत्य के आसपास अंधकार टिकेगा कैसे? सत्य के निकट अंधकार के टिकने का प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि सत्य है जहाँ, वहाँ तो प्रकाश ही प्रकाश होगा और वह भी इतना अधिक की अंधकार सा ही प्रतीत हो।

जो सत्य के निकट आएंगे उनका अंतिम संघर्ष प्रकाश से ही होगा। संभवतः अन्तस्थ में अनन्त सूर्य जलने लगेंगे और प्रकाश के आधिक्य से अंधकार छा जाएगा। द्वितीय बात यह प्रकाश है हिरण्मय अर्थात् अत्यन्त प्रीतिकर। मन जिसे आसानी से हटाने को तैयार नहीं होगा और जबतक यह प्रीतिकर प्रकाश हटेगा नहीं, तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। लोहे की जंजीर त्यागना आसान है किन्तु जब सोने की जंजीर का त्याग करना पड़े तो कठिनाई होती है। असाधुता का परित्याग सरल है किन्तु अंतिम समय में जब साधुता भी बंधन बन जाय, तो उसे त्यागना कठिन है क्योंकि अंतिम समय में साधुता का बंधन भी त्याज्य हो जाता है क्योंकि परम स्वातंत्र्य परम उद्देश्य के लिए आवश्यक है। sis in

टिप्पणी :-

1) हिरण्मयेन - हिरण्य $ मयट् ; तृतीया एकवचन।

2) अपिहितम् - आच्छादितम् अर्थात् ढका हुआ।

भावार्थ :-

अर्थात् संसार के मनमोहक पदार्थों से उस सत्य स्वरूप परमेश्वर का मुख आच्छादित है अतः हे देव आप उस स्वर्णमय आवरण को हटा दीजिए ताकि हम उस परमेश्वर के दर्शन पा सकें।

पूषन्नकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहस्मि ।। 16 ।।

पूषन्-हे भक्तोंका पोषण करनेवाले; एकर्षे हे मुख्य ज्ञानस्वरूप; यम हे सबके नियन्ता; सूर्य हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; प्राजापत्य हे प्रजापतिके प्रिय; रश्मीन् इन रश्मियोंको; व्यूह एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; तेजः इस तेजको समूह समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये; यत्-जो; ते आपका; कल्याणतमम् अतिशय कल्याणमय; रूपम् दिव्य स्वरूप है; तत्-उस; ते आपके दिव्य स्वरूपको; पश्यामि मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ; यः जो; असौ वह (सूर्यका आत्मा) है; असौ वह; पुरुषः परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है); अहम् मैं (भी); सः अस्मि वही हूँ ॥ १६ ॥

सरलार्थ :-

सकल संसार का पोषण करने वाले हे पूषा देव ! एकाकी गमन करने वाले एवं सबका नियमन करने वाले हे यम ! प्राण तथा रस का शोषण करने वाल हे सूर्य देव ! हे प्रजापति नन्दन ! आप अपनी किरणों को

हटा लो। आपका जो अति कल्याणमयरूप है , उसे मैं देखता हँू। यह जो आदित्यमण्डल पुरूष है वह मैं ही हूँ

व्याख्या –

भगवन् ! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-साधनमें दृष्टि प्रदान करके उनका पोषण करनेवाले हैं; आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं (गीता १०। ११); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं; आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होनेपर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ जाते हैं; आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं। हे प्रभो! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये। इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यस्वरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये। अभी तो मैं आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्य- निधि दिव्य परम कल्याणमय सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ; साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि जो आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं, वही मेरे भी आत्मा हैं; अतः मैं भी वही हूँ अन्तकाल में मरणोन्मुख कर्मनिष्ठ उपासक आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्म के साक्षात्कार की इच्छा से पुनः पूषा से प्रार्थना करता है। वह सर्वप्रथम पूषा को विविध नामों से सम्बोधित करता है। ये नाम सूर्य के व्यापक स्वरूप के प्रकाशक हैं। समस्त जगत् का पोषण करने के कारण सूर्य 'पूषा' है। वह 'एर्कापि' है, क्योंकि वह अकेला आकाश में चलता हैं। अथवा वह विश्व में एकमात्र दर्शनहेतु होने से अद्वितीय द्रष्टा है, अथवा वह समस्त ज्ञानियों में अग्रगण्य होने से मुख्य जानस्वरूप है। समस्त जगत् का यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करने के कारण सूर्य यम' है। किरणों, प्राणों और रसों को स्वीकार करने के कारण उसे 'सूर्य' कहा जाता है। अथवा सम्पूर्ण कर्मों में लोकप्रवर्तक या ज्ञानियों (सूरियों) के परम- लक्ष्यरूप होने से वह 'सूर्य' नाम से जाना जाता है। अपने भक्तों की बुद्धि के सुष्ठु प्रेरक होने से भी उसका नाम 'सूर्य' है।

शङ्कराचार्य ने 'एकर्षे पूषन्' अर्थ किया है जबकि आकाश में उस सूर्य की भांति अनन्त सूर्य हैं जो उस सूर्य से अधिक बड़े हैं किन्तु दूरी के कारण छोटे दिख पड़ते हैं। अतएव 'एकर्षे' शब्द को यम का विशेषण बनाकर व्याख्या होनी चाहिए थी, अर्थात् संसार का अकेला नियन्ता। द्वितीय, शङ्कराचार्य ने याचना न करने की बात कही है जबकि सत्य स्वरूप को देखने के लिए जिज्ञासु ऋषि मृत्योपरांत अंतिम प्रार्थना पूषन् से अपनी रश्मियों को समेटने के लिए करता है ताकि उसके सत्य स्वरूप को हिरण्मय रश्मियों से हटकर देख सके।

हम एक सूर्य से परिचित हैं लेकिन जिसे हम सूर्य कहते हैं वैसे अनन्त सूर्य हैं। संतों की अनुभूति अनन्त सूर्यो की है। हमारा सूर्य सूर्यों के अनन्त विस्तार में एक मध्यमवर्गीय सूर्य है। वैज्ञानिक गणना लाखों सूर्यो की है। लेकिन इस सूत्र में उस सूर्य की बात कही गयी है, जिससे ये सभी सूर्य प्रकाशित होते हैं, जो प्रकाश का आदि-उद्गम है, जहाँ से समस्त जीवन संचरित होता है, जहाँ से समस्त किरणें अपना जाल फैलाती हैं।

इस मंत्र में जिस सूर्य की बात की जा रही है, वह प्रतिदिन दिखने वाला सूर्य नहीं, अपितु महासूर्य है, जिससे ब्रह्माण्ड के सभी सूर्य अपनी रश्मि बिखेर रहे हैं। यह महासूर्य बाहर की यात्रा और खोज से कभी भी मिलने वाला नहीं है। ये सारे सूर्य प्रकट ब्रह्म हैं। जिस महासूर्य की यहाँ चर्चा है, वह अप्रकट ब्रह्म है। बीज

ब्रह्म है। उस अप्रकट स्रोत से ही यह सारा प्रकट जीवन-विस्तार, यह सारा सगुण, यह साकार फैलता और निर्मित होता है।

टिप्पणी :-

1) पूषन् - पूष् $ कनिन् ; अर्थात् जगत् का पोषण करने वाला।

2) व्यूह - वि $ उह् ; दूर करने वाला।

3) कल्याणतमम् - कल्याण $ तमप् ; अर्थात् कल्याणमय स्वरूप।

4) प्राजापत्य - प्रजापतेः अपत्यम्। 'दित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः सूत्र से अपत्य अर्थ में ण्य प्रत्यय। रश्मीन् - किरणप्रगहौ रश्मिः (अमरकोष)। 'अश्नोते रश् च' सूत्र से मिः का आगम।

5) समूह - सम् + ऊह, लोट्, मध्यम पु., एकवचन ।

6) पुरुष - पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः। आत्मेत्यर्थः ।

7) सूर्य - 'सृ गतौ' + क्यप् (निपातन)। सरति आकाशे इति सूर्यः।

8) कल्याणतमं - प्रकृष्टं कल्याणकरम् ।

भावार्थ :-

भाव यह है कि यह जो सारे संसार का परिपूर्णतत्त्व , सबके भीतर और बाहर रमण करने वाला , सबको कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर प्ररित करने वाला वह यह मैं ही तो हूँ।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1)) अपिहितम्   शब्दस्य अर्थ कः?

  2) पूषन् हैं?

16.4 मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

सम्बन्ध - ध्यानके द्वारा भगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्से प्रार्थना करता है-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।

ऊँ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।। 17 ।।

अथ अब; वायुः = ये प्राण और इन्द्रियाँ; अमृतम्-अविनाशी; अनिलम्-समष्टि वायु-तत्त्वमें; (प्रविशतु) प्रविष्ट हो जायँ; इदम् यह; शरीरम् स्थूल शरीर; भस्मान्तम्-अग्निमें जलकर भस्मरूप; (भूयात्) हो जाय; ॐ हे सच्चिदानन्दघन; क्रतो यज्ञमय भगवन्; स्मर (आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; कृतम्-मेरे द्वारा किये हुए कर्मोंका; स्मर स्मरण करें; क्रतो हे यज्ञमय भगवन्; स्मर (आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; कृतम् (मेरे) कर्मोंको; स्मर स्मरण करें ॥ १७ ॥

सरलार्थ :-

अब मेरा वायुरूपी प्राण सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाए। अतः हे मेरे संकल्पात्मक मन ! स्मरण कर , अब तू स्मरण कर , अपने किए हुए का स्मरण।

व्याख्या –

परमधाम का यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वमें सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे यज्ञमय विष्णु-सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये। आप स्वभावसे ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, 'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्' मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।मरणोन्मुख उपासक स्थूलशरीर की नश्वरता से भली-भाँति अवगत हो चुका है। वह जानता है कि सूक्ष्मशरीर के उत्क्रमण करते ही भौतिकरूप से प्रत्यक्ष और विनाशशील यह स्थूलशरीर नष्ट हो जाएगा। अत एव उसकी आकाङ्क्षा है कि प्राणनिर्गमन के पश्चात् यह स्थूलशरीर अग्नि में होम कर दिए जाने पर भस्मशेष हो जाए। वह जिन उपादान तत्त्वों के संयोग से । बना था उनमें ही विलीन हो जाए। अनन्तर वह ब्रह्म के प्रतीक तथा नाम 'ओम्' का उच्चारण करता है।

आचार्य शङ्कर, महीधर और अनन्ता- चार्य के अनुसार इससे सत्यस्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है। तत्पश्चात् वह अपने सङ्कल्पात्मक मन को सम्बोधित करते हुए उससे बलपूर्वक कहता है कि अब इस अन्तकाल में जीव के लिए स्मरणीय परमात्मा का स्मरण करना चाहिए और साथ ही बाल्यकाल से लेकर आज तक किए गए अपने समस्त कर्मों का भी स्मरण करना चाहिए। अन्तकाल में किएगए स्मरण का विशेष महत्त्व होता है। मरणकाल में किए गए प्रमुख विचारों के आधार पर ही आत्मा का आगे का मार्ग एवं जीवन निर्धारित होता है।"वायुः अनिलम् अथ इदम् अमृतम् शरीरम् भस्मान्तम्' अन्वय करने पर यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है - प्राण सर्वव्यापी प्राण में मिल जाता है; यह आत्मा अविनाशी है और शरीर भस्मरूप अन्तवाला है। शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में विस्तार से किया गया है (२।२२-३०) ।' इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि 'भगवन् ! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये। अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा ॥

यहाँ प्रार्थना की गयी है कि मेरा आकार युक्त शरीर उस निराकार में मिल जाए जहाँ से यह निर्मित हुआ है। हमारे प्राण वायु में अन्तर्निर्हित हो जाएं एवं शरीर मिट्टी में समा जाए। ऐसे समय में हमारी संकल्पात्मक मन अपने किए हुए का स्मरण करे। ॐ का स्मर करे।

योगी पुरुष अपने को मृत्यु के आसन्न अनुभव कर रहा है, उसमें वर्षों बहनेवाली प्राण-वायु जिससे उसने सामाजिक दायित्वों का संवहन किया, श्रम द्वारा धन अर्जित किया एवं ईश्वर की उपासना की, उसकी वह प्राण-वायु ब्रह्माण्डीय वायु के समग्र योग में विलीन होने को व्याकुल है। वह प्राण-वायु जो जन्म के समय शरीर में बांधी गयी थी जिससे श्वास, प्रश्वास तथा हृदय का संचालन हुआ था, जिसने हमें जीवित रखा, वह वायु अब अमर बाह्य वायु सागर में सम्मिलित होने जा रहा है। चार्वाक दर्शन की माने तो यह शरीर 'संघटक मात्र है और यह जैव-संस्थान अनेक भौतिक घटकों के कारण जीवित रहता है, जो इस प्राण-

वायु से जुड़ा हुआ है। अतः प्राण-वायु जैसे एक भौतिक घटक के अपने समग्र में मिलने की स्थिति में यह शरीर भी पञ्च-महाभूत मात्र रह जाएगा और तब भौतिक द्रव्यों (पञ्चमहाभूत) से युक्त यह विकारशील शरीर मरणोपरान्त या दाह-संस्कारोपरांत यथाशीघ्र अपने मूल घटक में विलीन हो जाएगा। अतः अमृतत्व या विलय की धारणा पूर्ण शून्यता को द्योतित करती हो, ऐसा नहीं है, यह तो रूप एवं अभिव्यक्ति का परिवर्तन है।

टिप्पणी :-

1) अनिलम् - अनिल शब्द से , द्वितीया विभक्ति एकवचन।

2) स्मर - स्मृ धातु से , लोट् लकार मध्यम पुरूष एकवचन।

भावार्थ :-

उपरोक्त मन्त्र का भाव यह है कि आत्मा अमर है और शरीर नाशवान् है। इसलिए हे साधक! तू हमेशा उस ऊँकार स्वरूप परमेश्वर का स्मरण।

सम्बन्ध - इस प्रकार अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय
उस मार्गके अग्निअभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है-

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।। 18 ।।

परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये; सुपथा सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे; नय (आप) ले चलिये; देव हे देव; (आप हमारे) विश्वानि सम्पूर्ण; वयुनानि कर्मोंको; विद्वान्-जाननेवाले हैं; (अतः) अस्मत्-हमारे; जुहुराणम्-इस मार्गके प्रतिबन्धक; एनः (जो) पाप हों (उन सबको); युयोधि (आप) दूर कर दीजिये; ते आपको; भूयिष्ठाम् बार-बार; नमउक्तिम् नमस्कारके वचन; विधेम (हम) कहते हैं- बार-बार नमस्कार करते हैं॥ १८ ॥

सरलार्थ :-

हे अग्निदेव ! हमें सुमार्ग से ले चल। हे देव ! तू ही समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है। हमारे पापों को नष्ट कर। हम आपके लिए बारम्बार नमस्कार करते हैं।

व्याख्या –

साधक कहता है- हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ। आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्के परमधाममें पहुँचा दीजिये। आप मेरे कर्मोंको जानते हैं। मैंने जीवनमें भगवान्की भक्ति की है और उनकी कृपा से इस समय भी मैं ध्याननेत्रों से उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ। तथापि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये। मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ *कर्म और उपासना का समुच्चयपूर्वक अनुष्ठान करने वाला आसन्नमृत्यु साधक अब आगे पुनः शरीर-धारण करना नहीं चाहता है। अद्वैताचार्यों के अनुसार वह पुनः इस मन्त्र द्वारा सन्मार्ग की प्राप्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना करता है। कर्ममार्ग का अनुयायी होने से उसने जीवन में अनेक बार अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान किया है और अग्नि में आहुतियाँ डाली हैं। अत एव अन्तकाल में उसके द्वारा यज्ञ के अधिष्ठाता अग्निदेव का स्मरण उचित ही है। फिर वे उसके समस्त शुभ और अशुभ कर्म तथा ज्ञान को जानने में समर्थ हैं। अवश्यम्भावी कर्मफल-भोग के

निमित्त उसे जो लोक मिलना है, वह भी उन्हें विदित है। साधक इस बार मृत्यु के बाद निश्चित रूप से शोभन मार्ग से जाना चाहता है; जो एकमात्र शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्य है। इसीलिए उसकी अभ्यर्थना है- वे उसके शुभ कर्मों को ही फलोन्मुख करें और उसके सम्पूर्ण वञ्चनात्मक पापों तथा अशुभ कर्मों को कृपया उससे वियुक्त कर दें; जिससे वह उनके फल भोग से बच सके। इष्टप्राप्ति के लिए विशुद्धता एवं निष्पापत्व अपेक्षित है। शुभ-मार्ग की प्राप्ति में बाधक पापों के नाशनार्य की गई प्रार्थना का यही अभिप्राय है। सुपथ' विशेषण से शङ्कर आदि कई भाष्यकारों ने दक्षिणमार्ग की निवृत्ति का अभिप्राय लिया है। उपनिषदों में दो प्रकार के मार्गों का उल्लेख है; मृत्यु के पश्चात् आत्मा जीवन में किए गए कर्मों के फलभोग के लिए इनमें से किसी एक मार्ग से जाता है। प्रथम है- पितृयाण, दक्षिणमार्ग या धूमादिमार्ग, जिसका सम्बन्ध दक्षिणायन से माना गया है। यह मार्ग चन्द्रलोक को ले जाता है। ॥हे ईश्वर ! आप मेरा पथ प्रदर्शन कीजिए। आपके बिना हम किसी भी कार्य के सम्पादन में अक्षम हैं। आपसे मेरी बार-बार यही प्रार्थना है कि आप मुझे सतत सन्मार्ग पर ले चलें, जिससे भ्रष्ट मार्ग पर न जाकर कल्याणकारी अथवा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर जा सकूं। हे अन्तर्यामी ! आप मेरे सभी भले-बुरे कर्मों का परिणाम है। अतः आप हमारे कुटिलतापूर्ण पापों को दूर करें। मैं आपको बार-बार नमन करता हूँ।

ईशोपनिषद् का यह अंतिम मंत्र भी प्रार्थना-विधायक है। प्रार्थना के विषय मेंयह ध्यान रखना जरूरी है कि विचारों का सघन रूप ही प्रार्थना में परिवर्तित होता है। पूरे भाव से किसी के प्रति समर्पित होना ही प्रार्थना है। प्रार्थना में समर्पण के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता है। प्रार्थना से जीवन की दिशा बदल जाती है सन्मार्ग की यात्रा शुरू हो जाती है। जीवन का ऊर्ध्व गमन शुरू हो जाता है नीचे जाने का रास्ता स्वतः बंद हो जाता है।

यहाँ अग्नि को देव रूप में पुकारा गया है क्योंकि यह ऊर्ध्वगामी है। साधारणतः हम पानी की तरह बहते हुए नीचे गढ्ढे में गिर जाते हैं। अगर हमारी चेतना नीचे उतरने का रास्ता पा जाए, तो ऊपर जाने की सीढ़ी तत्काल छूट जाती है। हमें अग्नि की भांति हमेशा ऊपर चढ़ने का रास्ता ढूँढना चाहिए, न कि पानी की तरह अधोगमन का मार्ग अपनाना चाहिए। इसीलिए अपनी ऊर्ध्वगामी विशेषता के कारण अग्नि देवता बन गया है। अग्नि की एक अन्य विशेषता भी हमें अग्नि के प्रति श्रद्धा रखने को प्रेरित करती है, वह है अग्नि परीक्षा। अग्नि शुद्ध को बचा लेती है, अशुद्ध को जला देती है। सीता की अग्नि परीक्षा वस्तुतः एक प्रतीक है जो सीता के शुद्धत्व का संकेत है। ऐसा नहीं था कि सीता को अग्निकुंड में जाना पड़ा था।

वस्तुतः अग्नि की अशुद्ध को नष्ट करने की आतुरता ही इसे देवत्व प्रदान करती है।फिर भी उपनिषदों के संदर्भ में उपर्युक्त कथन बहुत ठीक नहीं क्योंकि ईशोपनिषद् के इस मंत्र में एक स्फूर्तिदायक अभिनव दृष्टिकोण है जिसमें सबकुछ आध्यात्मिक है तथा जो निर्भयता, प्रेम एवं सेवा से निःसृत है। यह उपनिषद् आध्यात्मिक मन पर विशेष बल देता है। यह शरीर को सांसारिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता का श्रेष्ठतम साधन मानता है। जीवन जब आध्यात्मिक एवं मानवीय उद्देश्यों से प्रेरित होता है। ऊर्जा और उत्साह से पूर्ण इन्द्रियाँ और आध्यात्मिक मन से युक्त कर्मठ शरीर हमारे लिए एक अवसर और आनन्द बन जाता है। यह मन्त्र हमें अपने पॉव पर खड़े होकर सभ्य मानव बनने का संदेश देता है।

टिप्पणी :-

1) अग्ने - अग्नि शब्द से ; सम्बोधन एकवचन , अर्थात् हे अग्नि देव !
2) उक्तिं विधेम - उक्तिं अर्थात् नमस्कारवचनं , परिचरेम- परिचर्यां कुर्याम।

भावार्थ :-

इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमेश्वर ! आप हमें ऐसे रास्ते से ले चलो जिससे परमानन्दमय दिव्य धाम की प्राप्ति हो और हम जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकें।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) सत्यस्य मुखं केन पात्रेण अपिहितमस्ति ?
  2) वायुरनिलममृतमथेदं _______________?

16.7 सारांश

प्रस्तुत पाठ से हमें ये ज्ञान प्राप्त होता है कि ये सारा संसार उस ईश्वर से व्याप्त है। प्राणी को हर समय बिना किसी प्रयोजन के कर्म करने में संलग्न रहना चाहिए। प्रत्येक मानव को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करते हुए उस ब्रह्म प्राप्त करने के लिए जीवन पर्यन्त विद्या अध्ययन करना चाहिए क्योंकि सभी का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है। ये सारा संसार उस ब्रह्म से ही व्याप्त है। अतः उस ईश्वर को पाने के लिए जीवन में त्यागपूर्वक भाव से कर्म की उपासना करते हुए विद्या की प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिए। आत्मा अमर है और शरीर नाशवान् है। इसलिए हमेशा उस ऊँकार स्वरूप परमेश्वर का स्मरण करना चाहिए ।

16.8 कठिन शब्दावली

विजानतः = आत्मभाव को प्राप्त करने वाला

असम्भूतिः = अव्यक्त प्रकृति

अपिहितम् = ढका हुआ

भस्मान्तम् = जलकर भस्मशेष रह जाने वाला शरीर

16.9 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) आच्छादितम् अर्थात् ढका हुआ
2) सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर

अभ्यास प्रश्न 2

1) हिरण्मयेन पात्रेण
2) भस्मान्तं शरीरम्

16.10 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थः गीता प्रैस गोरखपुर - 273005
2) ईशोपनिषद् - सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीता प्रैस गोरखपुर - 273005
3) ईशावास्योपनिषद् ; डा० शशि तिवारी. ; भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली -110007

16.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इत्यस्य व्याख्यां कर्तव्या-

2)तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' इत्यस्य व्याख्यां कुरुत ।

3) योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि' इत्यस्य अभिप्रायं वर्णयत।

4)वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्" इत्यस्य विस्तृतव्याख्यां कुरुत।

5)अधस्तनेषु द्वयोरेव मन्त्रयो: व्याख्याप्रंसग निर्देशपुरस्सरं कर्त्या:-

क)अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।

ख) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय मुखम् दृष्टये ॥ १५

ग)वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।। 17 ।।

¤¤¤¤

इकाई 17

तैत्तिरीयोपनिषद् का सार एवं महत्व

संरचना

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 तैत्तिरीयोपनिषद् का सार एवं महत्व
• स्वयं आकलन प्रश्न
17.4 महत्व
• स्वयं आकलन प्रश्न
17.4 सारांश
17.5 कठिन शब्दावली
17.6 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
17.7 सहायक ग्रन्थ
17.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

तैत्तिरीयोपनिषद् वैदिक साहित्य का एक अनमोल रत्न है, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के प्रपाठक 7 ,8 और 9 का ही नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है। इस उपनिषद् में शीक्षावल्ली , ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली ये तीन वल्लियाँ हैं। शीक्षावल्ली में शीक्षा की व्याख्या , पाँच प्रकार की संहितोपासना , ब्रह्म की उपासना , ओङ्कार उपासना का विधान किया गया है। इस वल्ली में द्वादश अनुवाक हैं । ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म का विवेचन तथा अन्न , प्राण , मन , विज्ञान एवं आनन्द की महिमा का वर्णन किया गया है। इस ब्रह्मानन्दवल्ली के अन्तर्गत नव अनुवाक हैं। उसके उपरान्त भृगुवल्ली में भृगु तथा वरुण के संवाद के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति के मुख्य साधनों- अन्न , प्राण , मन , विज्ञान और आनन्द आदि पाँच कोशों का विशेषरूप से वर्णन किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए तैत्तिरीयोपनिषद् का सार एवं महत्व प्रस्तुत कर रहे हैं।

17.2 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन का हमारा मूल उद्देश्य है -

• उपनिषद् सार एवं उसमें निहित ज्ञान का अर्जन कराना।

•आत्म-ज्ञान और आध्यात्मिक विकास पर बल देना

•ब्रह्म के विषय में रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करना।

• ब्रह्म की उपासना के फल को जानना।

17.3 तैत्तिरीयोपनिषद् का सार

'कृष्ण यजुर्वेद' की 'तैत्तिरीय संहिता' के ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तिम भाग को 'तैत्तिरीय आरण्यक' कहते हैं। इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं जिनमें सात से लेकर नौ तक के प्रपाठक को 'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहा जाता है। इन तीनों प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली कहा जाता है। प्रथम शिक्षावल्ली में आकार महात्म्य के साथ-साथ धार्मिक प्रतिक्रियाओं का भी वर्णन है, द्वितीय वल्ली में ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन है। ब्रह्मानन्दवल्ली दूसरा अध्याय है, जो उपनिषद का हृदय है। इसमें 'आत्मा' और 'ब्रह्म' के बारे में गहन विचार किया गया है और तृतीय वल्ली में वरुणदेव द्वारा अपने पुत्र को उपदेश देना वर्णित है।

तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत एक उपनिषद है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण प्राचीनतम दस उपनिषदों में से एक है। यह शिक्षावल्ली, ब्रह्मानंदवल्ली और भृगुवल्ली इन तीन खंडों में विभक्त है। शिक्षा वल्ली में 12 अनुवाक और 25 मंत्र, ब्रह्मानंदवल्ली में 9 अनुवाक और 13 मंत्र तथा भूगुवल्ली में 19 अनुबाक और 15 मंत्र हैं- कुल 53 मंत्र हैं जो 40 अनुवाकों में व्यवस्थित है। शिक्षावाल्ली को सांहिती उपनिषद् एवं ब्रह्मानंदवल्ली और भृगुवल्ली को वरुण के प्रवर्तक होने से वारुणी उपनिषद् या विद्या भी कहते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तरीय आरण्यक का 7, 8, 9 वाँ प्रपाठक है।

इस उपनिषद् के बहुत से भाष्यों, टीकाओं और वृत्तियों में शांकरभाष्य प्रधान है जिस पर आनंद तीर्थ और रंगरामानुज की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं एवं सायणाचार्य और आनंदतीर्थ के पृथक भाष्य भी सुंदर हैं। ऐसा माना जाता है कि तैत्तिरीय संहिता व तैत्तिरीय उपनिषद् की रचना वर्तमान में हरियाणा के कैथल जिले में स्थित गाँव तितरम के आसपास हुई थी। वारुणी उपनिषद् में विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का निरूपण है जिसकी उपलब्धि के लिये प्रथम शिक्षावाल्ली में साधनरूप में ऋत और सत्य, स्वाध्याय और प्रवचन, शम और दम, अग्निहोत्र, अतिथिसेवा श्रद्धामय दान, मातापिता और गुरुजन सेवा और प्रजोत्पादन इत्यादि कर्मानुष्ठान की शिक्षा प्रधानतया दी गई है॥

द्वितीय अनुवाक में वेद मन्त्रों के उच्चारण नियमों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके उनका संकेत किया गया है। तृतीय अनुवाक में आचार्य अपने और शिष्य की उत्तरोतर उन्नति की कामना करते हुए संहिता विषयक उपासना विधि का प्रारंभ करते हैं।

श्रुतं मे गोपाय" इस वाक्य तक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक बुद्धि व शारीरिक बल की प्राप्ति के उद्देश्य से परमपिता परमेश्वर से उनके नाम ओंकार द्वारा प्रार्थना करने का प्रकार बताया गया है। पञ्चम अनुवाक में भूः, भुवः स्वः और महः इन चारों व्याहृतियों की उपासना का रहस्य बताकर उसके फल का वर्णन किया गया है।

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामुहस्मै तां चतुर्थीम्

आठवें अनुवाक में 'ॐ' इस परमेश्वर स्वरुप शब्द के प्रति मनुष्य की श्रद्धा और रूचि उत्पन्न करने के लिए ओंमकार की महिमा का वर्णन किया गया है।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदसर्वम् ।

इस में त्रिशंकु ऋषि के इस मत का समावेश है कि संसाररूपी वृक्ष का प्रेरक ब्रह्म है तथा रथीतर के पुत्र सत्यवचा के सत्यप्रधान, पौरुशिष्ट के तपःप्रधान एवं मुगलपुत्र नाक के स्वाध्याय प्रवचनात्मक तप विषयक मतों का समर्थन हुआ है। 11वें अनुवाक में समावर्तन संस्कार के अवसर पर सत्य भाषण, गुरुजनों

के सत्याचरण के अनुकरण और असदाचरण के परित्याग इत्यादि नैतिक धर्मों की ' शिष्य को आचार्य द्वारा दी गई शिक्षाएँ शाश्वत मूल्य रखती हैं।

ब्रह्मानंद और भृगुवल्लियों का आरंभ ब्रह्मविद्या के सारभूत **ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** मंत्र से होता है। ब्रह्म का लक्षण सत्य, ज्ञान और अनंत स्वरूप बतलाकर उसे मन और वाणी से परे अचिन्त्य कहा गया है। इस निर्गुण ब्रह्म का बोध उसके अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनंद इत्यादि सगुण प्रतीकों के क्रमशः चिंतन द्वारा वरुण ने भृगु को करा दिया है। इस उपनिषद् के मत में ब्रह्म से ही नामरूपात्मक सृष्टि की उत्पत्ति हुई है और उसी के आधार से उसकी स्थिति है तथा उसी में वह अंत में विलीन हो जाती है। प्रजोत्पत्ति द्वारा बहुत होने की अपनी ईश्वरीय इच्छा से सृष्टि की रचना कर ब्रह्म उसमें जीवरूप से अनुप्रविष्ट होता है। ब्रह्मानंदवल्ली के सप्तम अनुवाक में जगत् की उत्पत्ति असत् से बतलाई गई है।

इस उपनिषद् का पारिभाषिक शब्द है जो अभावसूचक न होकर अव्याकृत ब्रह्म का बोधक है, एवं जगत् को सत् नाम देकर उसे ब्रह्म का व्याकृत रूप बतलाया है। ब्रह्म रस अथवा आनंद स्वरूप हैं। ब्रह्मा से लेकर समस्त सृष्टि पर्यंत जितना आनंद है उससे निरतिशय आनंद को वह श्रोत्रिय प्राप्त कर लेता है जिसकी समस्त कामनाएँ उपहत हो गई हैं और वह अभय हो जाता है।
मोक्ष के साक्षात् साधन का निर्णय करने के लिए पाँच विकल्प करते

1. क्या परमश्रेय की प्राप्ति कर्म से हो सकती है?
2. अथक विद्या की अपेक्षायुक्त कर्म से।
3. किवा कर्म और ज्ञान के समुच्चय से।
4. या कर्म की अपेक्षा वाले ज्ञान से।
5. अथवा केवल ज्ञान से।

सभी पक्षों को आचार्य ने सदोष सिद्ध करते हुए यही निश्चय किया है कि केवल ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है।

ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है। इसका पहला वाक्य है- 'ब्रह्मविदाप्नीति परम्'। अब निःसन्देह यह वाक्य फल सहित ब्रह्म विद्या का निरूपण करने वाला है। **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस वाक्य द्वारा श्रुति ब्रह्म का लक्षण करती है। इससे ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर उसकी उपलब्धि के लिए पञ्चकोश का विवेक करने के अभिप्राय से उसने पक्षी के रूपक द्वार पाँचों कोशों का वर्णन किया है और उन सबके आधार रूप से सर्वान्तरतम परब्रह्म का **'ब्रह्म पुच्छंप्रतिष्ठा'** इस वाक्य द्वारा निर्णय किया गया है। इसके पश्चात् ब्रह्म की असत्ता मानने वाले पुरुष की निन्दा करते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करने वाले पुरुष की प्रशंसा की है और उसे सत् बतलाया है। फिर ब्रह्म का सर्वात्म्य प्रतिपादन न करने के लिए **'सोडकामयत् बहुस्यां प्रजायेय'** इत्यादि वाक्य द्वारा उसी को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण बतलाया है

तैत्तिरीयोपनिषद् की भूगुवल्ली में अन्न को सर्वोच्च स्थान दिया गया है और इसे सभी जीवों का आधार माना गया है। । अन्न के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, और इसे ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। अन्न ब्रह्म है। सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अंत में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। यह श्लोक भौतिक शरीर और उसके पोषण के महत्व को दर्शाता है और यह बताता है कि अन्न (भौतिक पोषण) से आत्मज्ञान की यात्रा शुरू होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् एक अद्वितीय ग्रंथ है जो शिक्षा, ज्ञान, और आत्मा की वास्तविक प्रकृति पर गहन दृष्टि प्रदान करता है। यह उपनिषद सिखाता है कि आत्मज्ञान के मार्ग पर चलकर ही ब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1.तैत्तिरीयोपनिषदः कस्य संहिता अस्ति?

2.तैत्तिरीयोपनिषदि कति वल्लयाः सन्ति?

3.तैत्तिरीयोपनिषदि कः मुख्यः विषयः अस्ति?

17.4 तैत्तिरीयोपनिषद् का महत्व

भारतीय सूक्ष्म चिन्तन का मूल आधार वेदों के सहायक के रूप में उपनिषद् ही है। भारतीय दर्शनशास्त्रों के प्रमाणित उद्गम स्थल उपनिषद् ही हैं। वेदज्ञों ने अपनी प्रस्थानत्रयी में उपनिषदों को मुख्य रूप से प्रतिष्ठित किया है। परब्रह्म (आत्मतत्त्व) के ज्ञान के लिए एवं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने हेतु उपनिषद् एक प्रकाशपुञ्ज की तरह है। उपनिषदों में तैतिरीयोपनिषद् के प्रकाश शब्द संरचना का अध्ययन करके आचार्य प्रवर के निर्देशानुसार शब्द संरचना के अर्थ एवं रहस्य तथा क्रियात्मक पक्ष को भलीभाँति अनुसरण करके मनुष्य (शिष्य) जीव जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् तीन अध्यायों में विभाजित है: शिक्षा वल्ली, ब्रह्मानंद वल्ली और भृगु वल्ली। इस उपनिषद् में शिक्षा, आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी गई है।

शिक्षा वल्ली:

शिक्षा वल्ली में उच्चारण, स्वर, मात्राओं और सांस्कृतिक शिक्षा पर बल दिया गया है। यह अध्याय विद्यार्थियों के लिए आवश्यक अनुशासन और ज्ञान की दिशा में मार्गदर्शन करता है।

ब्रह्मानंद वल्ली:

ब्रह्मानंद वल्ली आत्मा और परमात्मा के संबंध को समझाने पर केंद्रित है। इसमें आत्मा की अनंतता, उसके आनंद और ब्रह्मविद्या की महानता का वर्णन किया गया है।यह खंड आत्मा की अनंतता, उसके आनंद और ब्रह्मविद्या की महानता का वर्णन करता है। इसमें बताया गया है कि ब्रह्म (परमात्मा) सत्य, ज्ञान और अनंत है और उसे जानने से व्यक्ति को अनंत आनंद की प्राप्ति होती है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"इस में कहा गया है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंत है। जो इसे गुहाओं (हृदय के भीतर) में जानता है, वह परमे व्योमन (सर्वोच्च स्थान) में समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है। यह श्लोक आत्मा और परमात्मा के संबंध को स्पष्ट करता है और ब्रह्मज्ञान की महत्ता को रेखांकित करता है। ब्रह्मानंद वल्ली का संदेश यह है कि आत्मज्ञान से ही आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

भृगु वल्ली:

भृगु वल्ली में ऋषि भृगु और उनके पिता वरुण के बीच संवाद है, जिसमें भृगु को ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी जाती है। इसमें पांच कोषों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय) की शिक्षा दी गई है, जो आत्मा की अनुभूति के विभिन्न स्तरों को दर्शाते हैं।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।

अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति।
अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति

इस मंत्र.में बताया गया है कि अन्न ब्रह्म है। सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अंत में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। यह श्लोक भौतिक शरीर और उसके पोषण के महत्व को दर्शाता है और यह बताता है कि अन्न (भौतिक पोषण) से आत्मज्ञान की यात्रा शुरू होती है।

अतः आत्मबोध की दृष्टि से उपनिषदों में तैत्तिरीयोपनिषद् का अनुशीलन करने से इसका महत्त्व महानतम् प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी उपनिषदों में तैत्तिरीयोपनिषद् का अपना एक पृथक अस्तित्त्व है। इसको वेद के अन्तिम भाग होने के कारण तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने से उपनिषद् ही वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। तैत्तिरीयोपनिषद् में एक से दस अनुवाकों में जो शब्द प्रवाह प्रवाहित (परिलक्षित) हो रहा है वह परमज्ञान में विभूषित होकर शुभ कर्मों को सम्पादित करने की प्रेरणास्त्रोत है। अतः इसका निर्देश पालन करने से लोक-कल्याण का सामर्थ्य एवं विवेक प्राप्त होता है। इसके कारण तैत्तिरीयोपनिषद् और महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रतिपाद्य विषयों का अवलोकन करने से प्राप्त संक्षिप्तपरिचय इस प्रकार है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तिम भाग को तैत्तिरीयआरण्यक कहते हैं। इस आरण्यक में दस प्रपाठक हैं। जिनमें 7 से लेकर 10 तक के प्रपाठकों को तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहते हैं।
वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के अनन्तर उपनिषदों का क्रम आता है। वैदिक साहित्य के अन्तिम अंग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त नाम से भी कहा जाता है। उसमें आत्म ज्ञान, मोक्ष ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। अतः कहीं-कहीं उन्हें आत्म विद्या, मोक्ष विद्या और ब्रह्म विद्या के नाम से भी कहा गया है। वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान हैं-

'उपनिषद्', 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र'। 'उपनिषद्' श्रवणात्मक, 'गीता' निदिध्यास-नात्मक और 'ब्रह्मसूत्र' मननात्मक है। 'उपनिषद्' शब्द अपनी व्युत्पन्नावस्था में अपने व्यापक अर्थ को स्वयं ही ध्वनित करता है। उप नि इन दो उपसर्गों के साथ 'सद् धातु से 'क्विकप' प्रत्यय जोड़ देने के बाद 'उपनिषद्' शब्द व्युत्पन्न होता है। 'सद्' धातु अनेकार्थक है। विशरण-विनाश, गति-ज्ञान प्राप्ति एवं अवसाद-शिथिलता, समाप्ति आदि उसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों का 'उपनिषद्' शब्द में समन्वय हो जाता है। इस दृष्टि से यदि 'उपनिषद्' शब्द की परिभाषा की जाय तो कहा जा सकता है कि जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद् विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है।'

उपनिषद् प्रायः वेदों के ही ब्राह्मण और आरण्यक भागों का विस्तार है। जबकि वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड पर बल देते हैं जो कि मानव जीवन के चतुर्थ आश्रम सन्यास के अनुरूप है। यह रहस्यमयी पराविद्या गुरुओं के द्वारा निकट बैठाकर ऐसे अधिकारी शिष्यों को सिखाई जाती थी जो वर्षों तक उनकी निःस्वार्थ सेवा में लीन रहते थे, अतः यह गुह्य विद्या उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उपनिषदों में वेदों के सर्वोत्कृष्ट धर्म और दर्शन के तत्त्व दिये गये हैं। ऐसा कोई भी भारतीय दर्शन नहीं है, बौद्ध और जैन मत को मिलाकर जिसका मूल उपनिषदों में न हो। ऋग्वेद के अनन्तर उपनिषद् ही प्राचीन भारत की नितान्त महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक कृतियाँ हैं।

उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। इस कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। उपनिषद् शब्द का अर्थ है वह ज्ञान जो आचार्य अपने शिष्य को गूढ़ रहस्य विद्या के रूप में पास बैठाकर देता था। इस दृष्टि से उपनिषद् भारतीय आध्यात्मक विद्या के ग्रन्थ हैं जिनमें वैदिक ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन का विस्तृत विवेचन मिलता है। उन्हें भारतीय तत्त्व चिन्तन का श्रोत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगीतैत्तिरीयोपनिषद् एक अद्वितीय ग्रंथ है जो शिक्षा, ज्ञान, और आत्मा की वास्तविक प्रकृति पर गहन दृष्टि प्रदान करता है। यह उपनिषद सिखाता है कि आत्मज्ञान के मार्ग पर चलकर ही ब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है। इसमें न केवल दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या की गई है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में उन्हें कैसे अपनाया जाए, इसका भी मार्गदर्शन दिया गया है।

- **स्वंय आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) तैत्तिरीयोपनिषदः सम्बन्धः केन वेदेन सह वर्तते ?

2) मेधा शब्दस्य अर्थ कः?

3) शान्तिपाठे कस्य प्रार्थना वर्तते ?

4) तैत्तिरीयोपनिषदः मुख्यं लक्ष्यं किं वर्तते ?

17.5 सारांश

तैत्तिरीयोपनिषद् वेदांत दर्शन का महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो ज्ञान, आत्मा, और ब्रह्म के विषय में गहन शिक्षाएँ प्रदान करता है। यह उपनिषद् छात्रों और विद्वानों के लिए आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत है।शिक्षा वल्ली मुख्य रूप से उच्चारण, स्वर, मात्रा और शिक्षा की विधियों पर केंद्रित है। यह खंड विद्यार्थियों के लिए अनुशासन और ज्ञान के महत्व को रेखांकित करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् हमें जीवन के गहरे रहस्यों की ओर ले जाता है और हमें आत्मा और ब्रह्म के सत्य स्वरूप को जानने का मार्ग दिखाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का अध्ययन और उसके सिद्धांतों का पालन करने से व्यक्ति न केवल आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, बल्कि अपने जीवन को भी सार्थक बना सकता है।

17.6 कठिन शब्दावली

ऋतम् = शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ अर्थात् सत्य
मेधा = सद्बुद्धि
माहाचमस्यः = महाचमस ऋषि का पुत्र
हिरण्मयः = ज्योर्तिमय अथवा प्रकाश से युक्त
पातः = पंक्तिछन्द से युक्त
सर्वायुषम् = पूर्णर्णायु को प्राप्त होने वाला
अवधीतम् = पढ़ा हुआ या अच्छी प्रकार से अध्ययन किया हुआ
ब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेज

17.7 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) कृष्णयजुर्वेदेन

2) तिस्रः

3) ब्रह्मज्ञान

अभ्यास प्रश्न 2

1) कृष्णयजुर्वेदेन

2) सद्बुद्धि

3) वायुः

4) ब्रह्मज्ञान

17.8 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) तैत्तिरीयोपनिषद् ; सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

17.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) तैत्तरीयोपनिषदस्य मुख्यविषयवस्तुंविवेचयत ।

2) तैतिरीयोपनिषदः महत्वं लिखत

3) तैतिरीयोपनिषदः सारं लिखत।

4) तैतिरीयोपनिषदःमहत्त्वं वैशिष्ट्यं च निरूपयत।

¤¤¤¤

इकाई-18
तैत्तिरीयोपनिषद् से सम्बन्धित समीक्षात्मक प्रश्न

संरचना

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 अन्नस्य महिमा

18.4 ब्रह्म स्वरूप

- स्वयं आकलन प्रश्न

18.5 पञ्चकोश विवरण

- स्वयं आकलन प्रश्न

18.6 सारांश

18.7 कठिन शब्दावली

18.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

18.9 सहायक ग्रन्थ

18.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

तैत्तिरीयोपनिषद् वैदिक साहित्य का एक अनमोल रत्न है, जो आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और मानव जीवन के उद्देश्य को गहराई से समझने का अवसर प्रदान करता है। इसकी शिक्षाएं हमें न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध बनाती हैं, बल्कि हमारे दैनिक जीवन को भी दिशा प्रदान करती हैं। इस उपनिषद का अध्ययन और इसके मन्त्रों का अनुसरण हमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने और परम आनंद की प्राप्ति की दिशा में मार्गदर्शन करता है। इस अध्याय में तैत्तिरीयोपनिषद् से सम्बन्धित समीक्षात्मक प्रश्न का का विवेचन किया जा रहा है जो आपकी परीक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध होगें ।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से पाठक ------

- परीक्षा के लिए महत्वपूर्ण प्रश्नो को जानेगे
- अन्न की महिमा के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे
- पंच कोष अध्ययन के माध्यम से ब्रह्म के विषय में रहस्यमय ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे
- परम सत्य की अनुभूति करेगे।

18.3 अन्नस्य महिमा

तैतिरीयोपनिषदि प्रतिपादितान्नस्य महिमा निरूपणीया।

अथवा

अन्नस्य महत्त्व प्रतिपादयत।

अथवा

अनंन निन्धात" अथवा" अ्नं बुहुकुवीत"इत्यस्य व्याख्यां कुरूत

तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न (भोजन) का महत्व और महिमा बहुत ही स्पष्ट और गहन रूप में वर्णित है। इसमें अन्न को ब्रह्म स्वरूप माना गया है, और यह बताया गया है कि अन्न के बिना जीवन असंभव है।

अन्नं न निन्द्यात। तद्व्रतम्।

अर्थात् अन की निन्दा न करें। वह रत है। जो इस रहस्य को जानताहै, वह उसी (अन्न) में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह (साधक) अन्न-पाचनशक्ति, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान कीर्ति से सम्पन्न होकर महान हो जाता है।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्।

अर्थात् अन्न की अवहेलना न करें। वह एक व्रत है।

अन्न बहु कुवीत। तद्व्रतम्।

जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये-यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढ़ाऊँगा।' किसी वस्तुका अभ्युदय-उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं। इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है- जितने भी अन्न हैं, वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है। पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है- यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये दोनों ही एक-दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं।

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तदव्रतम्|

अर्थात् घर में आए हुए अतिथि को प्रतिकूल उत्तर (तिरस्कृत) न दें वह एक व्रत है। अतिथि का उत्तम आदर करना चाहिए।

अन्नं ब्रह्म अन्नं निन्दा निन्दको वापि अन्नं निन्देति, अन्नं बहु कुरु, अन्नं ब्रह्म, अन्ने प्रतिष्ठिता:

इस पृथ्वीलोक में निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न हुए हैं अन्न के परिणामस्वरूप रज और वीर्य से ही उनके शरीर बने हैं, उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्न से ही वे जीते हैं फिर अन्त में अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथिवी में ही विलीन हो जाती है। इस प्रकार अन्न समस्त प्राणियों की उत्पत्ति आदि का कारण है। जो साधक इस अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं अर्थात् अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है सबसे बड़ा है यह समझ कर इसकी उपासना करते हैं। सब प्राणी इसको खाते हैं तथा वह भी सब प्राणियों को खा जाता है। अपने में विलीन कर लेता है। इसीलिए 'अद्यते अत्ति च इति अन्नम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका नाम अन्न है।

पृथ्वी और आकाश दोनोंको अन्नरूप बताकर उनके तत्त्वको जाननेका यह फल बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये-यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढ़ाऊँगा।' किसी वस्तुका अभ्युदय-उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं। इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है- जितने भी अन्न हैं, वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है। पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है- यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये दोनों ही एक-दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं। पाँच भूतोंमें आकाश पहला तत्त्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है; बीचके तीनों तत्त्व इन्हींके अन्तर्गत हैं। समस्त भोग्यपदार्थरूप अन्न इन पाँच महाभूतोंके ही कार्य हैं; अतः ये ही अन्नके रूपमें स्थित हैं। इसलिये अन्नमें ही अन्न प्रतिष्ठित है।

अन्नं हि प्रजापतिः, तस्मादन्नं प्रजायते, तस्माद्यजत्यम्

अन्न ही प्रजापति (सृष्टिकर्ता) है, इससे ही प्रजा उत्पन्न होती है, और इसी से यज्ञ संपन्न होते हैं। यहाँ अन्न की महिमा का विवेचन करते हुए कहा है कि अन्न से ही जड़ एवं चेतन रूपी प्रजायें उत्पन्न होती हैं और अन्न के माध्यम से ही जीवित रहती हैं। अन्न ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है , इसलिए उसे सर्वौषध कहा जाता है। अन्न को अन्न इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सब प्राणियों द्वारा खाया जाता है। इस अन्नरसमय पिण्ड से भीतर रहनेवाला दूसरा शरीर प्राणमय है। उसके द्वारा ही यह अन्नमय परिपूर्ण है। वह यह प्राणमय भी पुरुषाकार ही है। उसका प्राण ही सिर है , व्यान ही दक्षिण पक्ष है , अपान उत्तर पक्ष है , आकाश आत्मा है और पुच्छ-प्रतिष्ठा है।

हे सोम्य (प्रिय), अन्न ही मन है, प्राण है, और सभी भूत (प्राणी) इसके कारण उत्पन्न होते हैं। अन्न के बिना ध्यान संभव नहीं है। अन्न को ईश्वर या ब्रह्म मानकर उसका ध्यान करना चाहिए। उसकी पूजा और महिमा करनी चाहिए

जो कोई आश्रय मांगे, उसे मत ठुकराओ। यही व्रत है। इसलिए किसी भी तरह से अधिक अन्न प्राप्त करना चाहिए। कहते हैं: भोजन तैयार है। यदि भोजन उत्तम तरीके से तैयार किया जाए, तो उसे (अतिथि को) भी उत्तम तरीके से भोजन दिया जाता है। यदि भोजन मध्यम प्रकार से पकाया जाता है, तो उसे भी मध्यम प्रकार से भोजन दिया जाता है। यदि भोजन निम्नतम प्रकार से पकाया जाता है, तो उसे भी निम्नतम प्रकार से भोजन दिया जाता है।

सृष्टि में सभी शरीर समान रूप से अन्न और रस के विकार तथा ब्रह्म के अंश रूप में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ पुरूष की ही प्रधानता है। कर्म और ज्ञान का अधिकार ही उसकी प्रधानता है। वह पुरुष ही समर्थ एवं कामनावाला है तथा उसके प्रति उदासीन नहीं होता इसलिए भी वह कर्म और ज्ञान का अधिकारी है "पुरुष में ही सूक्ष्म आत्मा का पूर्ण आविर्भाव है, वही प्रकृष्ट ज्ञान से सर्वाधिक सम्पन्न हुआ विज्ञात जाना गया ही बोलता है। विज्ञात पदार्थों को ही देखता है। वह कल होनेवाले को जानता है। वह उत्तम और अधम लोकों को जानता है तथा (कर्म ज्ञान रूप) नश्वर साधन के द्वारा अमृत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा करता है। यज्ञों में अन्न का अत्यंत महत्व है। यज्ञ के माध्यम से अन्न को देवताओं के समर्पण के रूप में चढ़ाया जाता है। यह केवल भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक उन्नति का भी साधन है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न को सर्वोच्च स्थान दिया गया है और इसे सभी जीवों का आधार माना गया है। यह उपनिषद सिखाता है कि अन्न का संरक्षण, उत्पादन और सम्मान करना अत्यंत आवश्यक है। अन्न के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, और इसे ब्रह्म का स्वरूप माना गया है।अन्न का तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णन केवल भोजन के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की संपूर्णता के आधार के रूप में किया गया है। अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी पूजा और सम्मान करना आवश्यक है। इस प्रकार, तैत्तिरीयोपनिषद् अन्न की महिमा और महत्व को विस्तार से बताकर हमें इसकी अहमियत समझाता है।

18.4 ब्रह्म निरूपण

तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर ब्रहा के स्वरूप का प्रतिपादन करो।

अथवा

तैत्तिरीयोपनिषदि वार्णितस्य ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य मुख्यविषयं विवेचयत ।

ब्रह्म निरूपण

उपनिषदों और दर्शनों की तुलना में वेदों में ब्रह्म के तात्त्विक पक्ष पर उतना गम्भीर तथा सूक्ष्म विचार देखने को नहीं मिलता है। ब्रह्म शब्द का सामान्य अर्थ होता है वर्धमान होना, बढ़ना या विस्तृत होना। ऋग्वेद में देवताओं की महिमा न करने वाले काव्य को 'ब्रह्मन' कहा गया है। इस दृष्टि से वेदों की ऋचाएँ, या सूक्त काव्यमय ब्रह्म है। वही विश्व का नियन्ता और चैतन्य शक्ति है। यही कारण है कि मृत्युलोक के मानवों द्वारा यज्ञों में गायी जाने वाले ऋचाओं को सुनकर देवता वहाँ जाते हैं। ऋचाओं के रूप में जो वेद रूप शक्ति है वही ब्रह्म है और इसी से विश्व का सृ जन हुआ है। विश्व उसी में लय होता है। वेदों की अपेक्षा उपनिषदों और दर्शनों में ब्रह्म की सूक्ष्म मीमांसा की गई है। वहाँ उसे शाश्वत तस्वयम्भ विश्व-शक्ति के रूप में माना गया है। उसके विशद स्वरूप का वेदान्त दर्शन में तथा 'गीता' में विशद वर्णन हुआ है।

'बृहतेर्वृहणाद् वा ब्रह्म"

जो सबसे बड़ा विशाल, महान, बृहद व्यापक हो वह ब्रह्म है अथवा जो जगत का विस्तार करता है वह ब्रह्म है।मैक्समूलर के अनुसार इसकी उत्पत्ति 'शब्द' से है जैसा कि बृहस्पति अथवा वाचस्पति शब्द से स्पष्ट है जिसका अर्थ है वाणी का स्वामी। "वह जो बोलता है वही ब्रह्म है।" व्युत्पत्ति के विषय में अधिक तर्क करने की आवश्यकता नहीं। हमारे लिए स्पष्ट है- ब्रह्म का तात्पर्य है वह यथार्थ सत्ता जो बढ़ती है, उच्छवास लेती है या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। उपनिषदों ने उस नित्य आत्मा की एक अधिक तर्कसंगत व्याख्या करने का कार्य अपने ऊपर लिया जो सदा क्रियाशील भी है और सदा विश्राम भी करती है। एक और स्थान पर हमने निम्नकोटि के अपूर्ण विचारों से उठकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए पर्याप्त विचारों तक के क्रम को देखा है और जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद में है।

तीसरी वल्ली में वरूण का पुत्र भृगु अपने पिता के पास पहुँचकर प्रश्न करता है कि मुझे उस यथार्थ सत्ता के स्वरूप की शिक्षा दीजिए जिसके अन्दर समस्त भूत समा जाते हैं। पुत्र के आगे ब्रह्म के सामान्य लक्षणों को रखते हुए पिता ने उसे आदेश दिया कि अब वह मूल तत्त्व का पता लगाये जिसमें ये सब लक्षण घट सकते हैं। वह जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई, और उत्पन्न होने के पश्चात् जिसमें ये सब जीवन धारण करते हैं और वह जिसके अन्दर ये सब मृत्यु के पश्चात् समा जाते हैं, वही ब्रह्म है।

ब्रह्म की परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि ब्रह्म से अनन्त व्यापक सत्ता किसी की नहीं है। उसका साधारण धर्म नहीं है, जो किसी भी परिभाषा के लिए आवश्यक है।

- **ब्रह्म का स्वरूप**

ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया जाता है- (1) स्वरूप लक्षण, (2) तटस्थ लक्षण। 'स्वरूप लक्षण' जो स्वरूप का विवेचन करता है परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का निर्देश करता है। जब तक लक्ष्य रहे तब तक उसके साथ रहे, किन्तु लक्ष्य को अन्य वस्तुओं से व्यावर्त करता है।

ब्रह्म का स्वरूप **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है**। वह सत् सत्ता, चित् ज्ञान और आनन्दरूप सच्चिदानन्द है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

ब्रह्म का स्वरूप सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म है। ये ब्रह्म के गुण नहीं हैं। यही ब्रह्म है। सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् तीनों मिलकर एक है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है कि सत्यं : सत्य इसलिए कहा जाता है, यह असत्य के परे है। इसे असत्य से अलग किया जा रहा है। यह असत्य नहीं है। ज्ञानम् : वह ज्ञान रूप है, यह चैतन्य है। यह जड़ नहीं है ज्ञान का मतलब जड़ से भिन्न है।

अर्थात् ब्रह्म असीम है।अलग) करता है। उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। यह स्वरूप लक्षण ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करता है एवं ब्रह्म को अन्य वस्तुओं से अलग करता है। जैसे- सत्य, ज्ञान और अनन्त ये तीनों ब्रह्म को असत्य, अचेतन एवं सीमित इन.तीनों से पृथक करते हैं। अर्थात् ब्रह्म सत्य स्वरूप है। वह असत् से भिन्न है, एवं चेतन है, अर्थात् जड़ से भिन्न है एवं अनन्त है अर्थात् सीमित या परिच्छिन्न से भिन्न है। इसलिए ब्रह्म सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् है। ब्रह्म का यह स्वरूप लक्षण ब्रह्म के स्वरूप का निर्वचन करता है। इसीलिए विशेष लक्षण है।

सच्चिदानन्दम् : सत्, चित, आनन्द, जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है, जिसमें तीनों व्याप्त है वही ब्रह्म का स्वरूप है।

सत् : सत् का अर्थ है जिसकी सत्ता का कभी विच्छेद न हो, जो त्रिकालम्य हो, भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में कभी जिसका बोध-अभाव न हो। वही सत् स्वरूप है।

चित् : चित् का अर्थ चेतना। आत्मा को चित् कहने का अर्थ है वह चैतन्य रूप है, उसमें किसी प्रकार की जड़ता नहीं है, उसे तम की छाया भी कभी छू नहीं सकती, वह सारे जगत् का प्रकाशक है और स्वयं अपने आप में प्रकाशमान है, उसे स्वयं प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। 'तदेव ज्योतिषां ज्योति'।' 'तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ये श्रुतियाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसे सब प्रकाशों का प्रकाश बताती हुई उसके प्रकाश से सारे विश्व को प्रकाशित होना बताती है।

आनन्दम् : आत्मा आनन्द रूप है आनन्द का अर्थ है आ-आसमन्ता- त्चतुररणम्नन्दति-समृदध्यति जो सब प्रकार से समृद्ध हो, जिसमेंसगुण-निर्गुण : ब्रह्म के दो रूप होते हैं- सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही हैं परन्तु दो अलग-अलग रूपों में देखा जाता है।

सगुण ब्रह्म : जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की

कल्पना उपासना के लिए करता है। ईश्वर जगत् का स्वामी और नियन्ता है। इसीलिए जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करूणा आदि गुणों से मण्डित करता है। यही है सगुण ब्रह्म ईश्वर।

निर्गुण ब्रह्म : पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित होता है।

अन्न ब्रह्म है: -"**अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्** "भृगु ने तप से 'अन्न ही ब्रह्म है' का ज्ञान प्राप्त किया। क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्न में ही लीन होते हैं। वह 'ब्रह्म' जो यथोक्त लक्षण से युक्त है। कैसे जाना ? निश्चय ही ये सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर ये अन्न से जीवित रहते हैं और अन्तकाल में अन्न में ही लय प्राप्त करते हैं इस कारण अन्न का ब्रह्म होना उचित ही है, ऐसा

अभिप्राय है। ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरूण के पास आया और कहा- "भगवान् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।" वरूण ने उससे कहा- "ब्रह्म को तप के द्वारा जानने की इच्छा पर, तप ही ब्रह्म है।" परन्तु इसमें उसके संशय का कारण क्या था? तो बतलाया जाता है। अन्न की उत्पत्ति देखने से 'उसे ऐसा संदेह हुआ'। यहाँ तप का जो बारम्बार उपदेश किया गया है वह उसका प्रधान साधन प्रदर्शित करने के लिए है। अर्थात् जब तक ब्रह्म का लक्षण निरतिशय न हो जाय और जब तक तेरी जिज्ञासा शान्त न हो तब तक तप ही तेरे लिए साधन है। अर्थात् तप से ही ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए।

प्राण ब्रह्म है:

"प्राणं ब्रह्मेति व्यजानात्"

भृगु ने तप द्वारा यह जाना कि प्राण ही ब्रह्म है। प्राण से ही ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए वे प्राण से ही जीवन धारण करते हैं और प्रयाणकाल में प्राण में ही विलीन हो जातें हैं। इस प्रकार जानकर भृगु पुनः अपने पिता वरूण के समीप गया। उसने कहा हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइए। तब वरूण ने भृगु को कहा तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है। तदनन्तर भृगु ने तप किया। भृगु ने तप द्वारा मन ही ब्रह्म है का ज्ञान प्राप्त किया।

मन ही ब्रह्म है:

"मनः ब्रह्मेति व्यजानात्" मन ही ब्रह्म है क्योंकि मन से ही ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से जीवित रहते हैं और अन्त में प्रयाण के समय मन में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह पुनः अपने पिता के समीप गया। हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराइए। तब वरूण ने भृगु को कहा- "तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है। इस प्रकार भृगु ने तप द्वारा प्राप्त किया विज्ञान ही ब्रह्म है।"

विज्ञान ही ब्रह्म है:

"विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्"। भृगु ने तप द्वारा जाना कि विज्ञान ही ब्रह्म है। क्योंकि विज्ञान से ही ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर वे विज्ञान से ही प्राण धारण करते हैं और प्रयाणकाल में विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसा जानकर फिर वह पिता के समीप आया। पिता से बोला भगवान् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। वरूण ने उससे कहा "तू तप के द्वारा ब्रह्म

आनन्द ब्रह्म है:

भृगु ने आनन्द ही ब्रह्म है का ज्ञान तप द्वारा प्राप्त किया। क्योंकि निश्चय ही ये प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए वे पुनः आनन्द से ही प्राण धारण करते हैं और प्रायण काल में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। वह यह भृगु द्वारा जानी गयी एवं वरूण द्वारा उपदिष्ट विद्या है, जो परम आकाश में प्रतिष्ठित है। वह जो इस प्रकार जानने वाला है, ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्न सम्पन्न और अन्न का भोक्त होता है। प्रजा, पशु और ब्रह्म तेज के कारण महान् होता है। उसी प्रकार यश से भी महान हो जाता है।

इस प्रकार तप से शुद्धचित्त हुए भृगु ने प्राणादि में पूर्णतया ब्रह्म का लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतर की ओर प्रवेश कर तप रूप साधन के द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तरतम आनन्द को ब्रह्म जाना। अतएव इस प्रकरण का तात्पर्य है कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनेवाले साधक को वाह्य एवं अन्तःकरण का समाधान रूप परम तप का अनुष्ठान करना चाहिए।

अब आख्यायिका से निवृत्त होकर श्रुति अपने ही वाक्य से आख्यायिका से निष्पन्न होनेवाला अर्थ बतलाती है। अन्नमय आत्मा से प्रारम्भ हुई यह 'भार्गवी' भृगु की जानी हुई और वारूणी-वरूण की कही हुई विद्या परमाकाश में अर्थात् हृदयाकाश रूप गुहा में अद्वैत परमानन्द में प्रतिष्ठित है अर्थात् अन्नमयादि आत्मा से प्रवृत्त हुई बुद्धि या पर्यवसान नहीं होता है। इसी प्रकार जो कोई दूसरा पुरुष भी इसी क्रम में तप रूप साधन के द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्द को ब्रह्मरूप से जानता है। वह इस प्रकार विद्या में स्थित लाभ करने से आनन्द अर्थात् परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार अन्नादि द्वारों में होकर निरतिशय आनन्द की प्राप्ति है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) ब्रह्म-प्राप्तिः केन भवति ?

2) तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मणः स्वरूपं कथं वर्णितम्?

18. 5 पञ्चकोश विवरण

ब्रह्मज्ञानोपयोगि-कोशानां वर्णनं कुरुत।

अथवा

तैत्तिरीयोपनिषदि आत्मनः पञ्च कोषाः के के?

संक्षेप में मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड है। पञ्चकोशों का विवरण ब्रह्मानन्दवल्ली में किया गया है यह पाँच कोष हैं: अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय। प्रत्येक कोष एक स्तर पर आत्मा को आवृत करता है और आत्मा की पहचान को निर्धारित करता है। यहाँ पञ्चकोश विवरण निम्न प्रकार है-

अन्नमय कोश

इस पृथ्वीलोक में निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न हुए हैं अन्न के परिणामस्वरूप रज और वीर्य से ही उनके शरीर बने हैं, उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्न से ही वे जीते हैं फिर अन्त में अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथिवी में ही विलीन हो जाती है। इस प्रकार अन्न समस्त प्राणियों की उत्पत्ति आदि का कारण है। जो साधक इस अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं अर्थात् अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है सबसे बड़ा है यह समझ कर इसकी उपासना करते हैं। सब प्राणी इसको खाते हैं तथा वह भी सब प्राणियों को खा जाता है। अपने में विलीन कर लेता है। इसीलिए 'अद्यते अत्ति च इति अन्नम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका नाम अन्न है।

इस अन्नमय कोश से आरम्भ करके ही आँच में डाले हुए पिघले ताबें की प्रतिमा के समान आगे की प्राणमय कोशों की रूपता बनती है। उसी के विषय में यह मन्त्र है। तात्पर्य है कि अन्नमय आत्मा के द्योतक उस ब्रह्मोक्त अर्थ में ही यह श्लोक अर्थात् मंत्र है।

सृष्टि में सभी शरीर समान रूप से अन्न और रस के विकार तथा ब्रह्म के अंश रूप में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ पुरूष की ही प्रधानता है। कर्म और ज्ञान का अधिकार ही उसकी प्रधानता है। वह पुरुष ही समर्थ एवं कामनावाला है तथा उसके प्रति उदासीन नहीं होता इसलिए भी वह कर्म और ज्ञान का अधिकारी है "पुरुष में ही सूक्ष्म आत्मा का पूर्ण आविर्भाव है, वही प्रकृष्ट ज्ञान से सर्वाधिक सम्पन्न हुआ विज्ञात जाना गया ही बोलता है। विज्ञात पदार्थों को ही देखता है। वह कल होनेवाले को जानता है। वह उत्तम और अधम लोकों को जानता है तथा (कर्म ज्ञान रूप) नश्वर साधन के द्वारा अमृत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा करता है

प्राणमय कोश

पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ उपर्युक्त ये पाँच वायु मिलकर एक कोश के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को कोश की तरह आच्छादित किये हैं। इसी को प्राणमय कोश कहते हैं।

इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से अन्य यानी पृथक् और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अन्नरसमय पिण्ड के समान मिथ्या ही, आत्मारूप से कल्पना किया हुआ प्राणमय है। प्राण वायु उससे युक्त अर्थात् तत्प्राय (यानी उसमें प्राण की ही प्रधानता है।) जिस प्रकार वायु से धोंकी भरी रहती है उसी प्रकार उस प्राणमय से यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है। वह यह प्राणमय आत्मा पुरुषविध अर्थात् शिर और पक्षादि के कारण पुरुषकार ही है।

ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर 'मन' शरीर के अन्दर एक कोश के समान स्वरूप बनाकर चैतन्य को घेर लेता है। उसे मनोमय कोश कहते हैं। यह कोश 'विज्ञानमय कोश' की अपेक्षा अधिक जड़ होता है। इसमें प्रधान रूप से संकल्प विकल्प वृत्ति होती है।

दूसरा अन्तर-आत्मा मनोमय है। संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण का नाम मन है, जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं, जैसे (अन्न रूप होने के कारण) अन्नमय कहा गया है। वह इस प्राणमय का अन्तर्वर्ती आत्मा है। उसका यजुः ही शिर है। जिनमें अक्षरों का कोई नियम नहीं है ऐसे पादों में समाप्त होनेवाले मन्त्र विशेष का नाम यजुः है। उसे प्रधानता के कारण शिर कहा गया है।

मनोमय कोश

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

यतः जहाँसे; मनसा सह-मनके सहित; वाचः वाणी आदि इन्द्रियाँ; अप्राप्य उसे न पाकर; निवर्तन्ते लौट आती हैं; [तस्य ब्रह्मणः उस ब्रह्मके; आनन्दम्-आनन्दको; विद्वान्-जाननेवाला पुरुष; कदाचन कभी; न बिभेति भय नहीं करता; इति इस प्रकार यह श्लोक है; तस्य उस मनोमय पुरुषका भी; एषः एव-यही परमात्मा; शारीरः शरीरान्तर्वर्ती; आत्मा आत्मा है; यः जो; पूर्वस्य पहले बताये हुए अन्नरसमय शरीर या प्राणमय शरीरका है।

व्याख्या- इस मन्त्रमें ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाके साथ अर्थान्तरसे उसके मनोमय शरीरकी महिमा प्रकट की गयी है। भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूपभूत परम आनन्द है, वहाँतक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंके समुदायरूप मनोमय शरीरकी भी पहुँच नहीं है; परंतु ब्रह्मको पानेके लिये साधन करनेवाले मनुष्यको यह ब्रह्मके पास पहुँचानेमें विशेष सहायक है। ये मन-वाणी आदि

साधनपरायण पुरुषको उन परब्रह्मके द्वारतक पहुँचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता। इस प्रकार यह मन्त्र है। मनोमय शरीरके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परमात्मा हैं, जो पूर्वोक्त अन्नरसमय शरीर और प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी हैं।

विज्ञानमय कोश

इनके उत्पन्न होने के पश्चात् बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से कोश के समान एक कार्य वस्तु शरीर में उत्पन्न होती है, उसे विज्ञानमय कोश कहते हैं। 'विज्ञानमय कोश' से घिरा हुआ चैतन्य 'जीव' कहा जाता है। यही इस लोक से परलोक जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि जाना, आना, आदि क्रिया चैतन्य में नहीं होती। चैतन्य तो व्यापक तथा निष्क्रिय है। वह 'विभु' होने के कारण सर्वत्र रहता ही है। अतएव वस्तुतः 'विज्ञानमय कोश' ही चैतन्य की सहायता से इस लोक तथा परलोक में जाता और आता है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब को पाकर 'विज्ञानमय कोश' में क्रिया उत्पन्न होती है। यही जीवकर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी है। यही इस संसार में रहकर भोग करता है। इसी से जन्म और मरण होते हैं। यही बद्ध है। इसी की मुक्ति होती है।

आनन्दमय कोश

आनन्दमय कोश ही आत्मा है। आनन्दमय अध्यासः। समस्त विश्व का कारण- शरीर 'ईश्वर' है। इस कारणवस्था में प्रकृति और पुरुष (अर्थात् माया और ब्रह्म) के अतिरिक्त न तो कोई स्थूल और न सूक्ष्म कार्यरूप प्रपञ्च विद्यमान रहता है, इसलिए यह 'आनन्दमय अवस्था' है। सुषुप्तिकाल में अहंकार आदि शरीर के उत्पादक सभी तत्त्व केवल संस्कार मात्र से जीव में रहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्था में न तो इन्द्रियाँ हैं और न इन्द्रियों के विषय हैं, इसलिए शान्ति है, आनन्द का आधिक्य है।

इस प्रकार परमार्थ ब्रह्म के विज्ञान की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त आनन्दमय आत्मा से ब्रह्म पर ही है। जो ब्रह्म यहाँ सत्यज्ञान और अनन्तरूप कहा गया है। जिसके ज्ञान हेतु पाँच कोशों को उपन्यस्त किया गया है और जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्वती है, तथा जिसके द्वारा वे सब (कोश) आत्मवान् है, वह ब्रह्म ही उस आनन्दमय की पुच्छ-प्रतिष्ठा है। अविद्या द्वारा कल्पित सम्पूर्ण द्वैत का अवसानभूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उस आनन्दमय की प्रतिष्ठा है क्योंकि एकत्व में ही उसका पर्यवसान होता है। अविद्या से कल्पित द्वैत का अवसान-भूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा पुच्छ है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 2

  1) कोशाः कति विधा ?

  2) ब्रह्मज्ञानस्य मुख्य द्वारः कः वर्तते?

  3)तैत्तिरीयोपनिषदि आत्मनः पञ्च कोषाः के के?(

18.6 सारांश

इस इकाई में हमने परीक्षा के लिए उपयोगी समीक्षात्मक प्रश्नों का अध्ययन किया। जिनमें पंचकोश वर्णन , अन्न की महिमा और ब्रह्म के स्वरुप का वर्णन किया गया।अन्न का तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णन केवल भोजन के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की संपूर्णता के आधार के रूप में किया गया है। अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी पूजा और सम्मान करना आवश्यक है। इसके संरक्षण और उत्पादन का ध्यान रखना हर

व्यक्ति का कर्तव्य है। इस प्रकार, तैत्तिरीयोपनिषद् अन्न की महिमा और महत्व को विस्तार से बताकर हमें इसकी अहमियत समझाता है।

18.7 कठिन शब्दावली

ऋतम् = शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ अर्थात् सत्य
मेधा = सद्बुद्धि
माहाचमस्यः = महाचमस ऋषि का पुत्र
हिरण्मयः = ज्योर्तिमय अथवा प्रकाश से युक्त
पातः = पंक्तिछन्द से युक्त
सर्वायुषम् = पूर्णर्णायु को प्राप्त होने वाला
अवधीतम् = पढ़ा हुआ या अच्छी प्रकार से अध्ययन किया हुआ
ब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेज

18.8 स्वंय आकलन प्रश्नों के उतर

अभ्यास प्रश्न 1

1) तपसा

2) निर्गुणम्

अभ्यास प्रश्न 2

1.. पंच

2. अन्नम्

3. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय

18.9 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) तैत्तिरीयोपनिषद् ; सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

18.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. तैत्तिरीयोपनिषदि 'पञ्चकोश' इति सिद्धान्तः कुत्र वर्णितः अस्ति?
2. तैत्तिरीयोपनिषदि 'सत्यम् ज्ञानम् 2 अनन्तम् ब्रह्म' इति वाक्यं कुत्र दृष्टम्?तैत्तिरीयोपनिषदि कः मुख्यः विषयः अस्ति?
3. तैतिरीयोपनिषदि प्रतिपादितं अन्नस्य महत्वं प्रतिपादयत ।
4 .तैतिरीयोपनिषदः शीक्षावल्या: सारं लिखत ।
5. "अनंन निन्धात" अथवा" अ्नं बुहुकुवीत"इत्यस्य व्याख्यां कुरूत
6. तैत्तिरीयोपनिषदि कृतम् अन्ननिरूपणं स्पष्टीकुरूत ।
7. अन्नं बहु कुर्वीत"" इत्यस्य सारगर्भित।

¤¤¤¤

इकाई 19
शीक्षावल्ली

संरचना

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 शिक्षा के अंग
19.4 पंच महासंहिताएँ
19.5 ओउम् की महत्ता
- स्वयं आकलन प्रश्न

19.6 स्वाध्याय की अनिवार्यता
19.7 आचार्य का अनुशासन उपदेश
- स्वयं आकलन प्रश्न

19.8 सारांश
19.9 कठिन शब्दावली
19.10 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
19.11 सहायक ग्रन्थ
19.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षा वल्ली खंड में वैदिक शिक्षा प्रणाली और इसके मौलिक सिद्धांतों का वर्णन किया गया है। यह खंड गुरु-शिष्य परंपरा, उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक गुणों, और जीवन के आदर्शों का मार्गदर्शन प्रदान करता है। शिक्षा वल्ली उन उपदेशों का संग्रह है जो एक गुरु अपने शिष्य को ज्ञान के समापन पर देता है, जिससे वह जीवन में सफलता और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सके।शिक्षा वल्ली में वेदों के अध्ययन के महत्व, उच्च शिक्षा के मूल सिद्धांतों और व्यक्ति के समग्र विकास पर जोर दिया गया है। इसमें उच्चतर शिक्षा की प्रक्रिया और उसके माध्यम से आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने के तरीकों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके माध्यम से छात्रों को जीवन में सत्य, धर्म और न्याय का पालन करने की प्रेरणा दी जाती है।इस खंड में ध्वनि, स्वर, मात्रा, और उच्चारण की महत्ता पर भी बल दिया गया है, जो वैदिक मंत्रों के सही अभ्यास के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा वल्ली विद्यार्थियों को न केवल शास्त्रों का ज्ञान प्रदान करती है, बल्कि उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श नागरिक बनने के लिए भी प्रेरित करती है। ।तैत्तिरीयोपनिषद् का शिक्षा वल्ली खंड वेदांत दर्शन के सार को समझाने के साथ-साथ विद्यार्थियों को सही मार्ग पर चलने के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह खंड न केवल आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए

आवश्यक है, बल्कि जीवन के व्यावहारिक पक्षों पर भी ध्यान केंद्रित करता है, जिससे एक संतुलित और समृद्ध जीवन की प्राप्ति हो सके।

19.2 उद्देश्य

•वैदिक मंत्रों के सही अभ्यास के लिए ध्वनि, स्वर और उच्चारण के महत्व को रेखांकित करना।

•गुरु-शिष्य परंपरा की महत्ता और इसके प्रभाव को स्पष्ट करना।

○छात्रों को उनके व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्यों की जानकारी देना।

•शिक्षा वल्ली के माध्यम से छात्रों को एक आदर्श नागरिक बनने के लिए प्रेरित करना।

•विद्यार्थियों को सत्य, धर्म और न्याय का पालन करने के लिए प्रेरित करना

19.3 शिक्षा के अंग

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक का अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस अध्याय हैं। उनमें से सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंको ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अनुवाक- शीक्षावल्ली के प्रथम अनुवाक में देवों का सम्बोधित करते हुए शान्ति-प्राप्ति के लिए प्रार्थना शान्तिपाठ के माध्यम से इस प्रकार की गई है -

ऊँ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

अर्थात् इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी देवता मित्र हमारे लिए कल्याण प्रदान करने वाला हो ; अपानवृत्ति तथा रात्रि का देवता वरुण हमारा कल्याण करे ; नेत्र और सूर्य का देवता अर्यमा , बल का अभिमानी देवता इन्द्र , बुद्धि का देवता बृहस्पति तथा पादविक्षेप का विशेष अभिमानी देवता विष्णु आदि ये सभी अध्यात्मदेवता हमारे लिए सुखदायक हों।

इसके उपरान्त वायु को ही साक्षात् ब्रह्म , ऋत , सत्य का स्वरूप मानते हुए यह प्रार्थना की है। इसमें कहा गया है कि हे वायुसंज्ञक सर्वात्मक ब्रह्म आप मुझ विद्यार्थी को विद्या प्रदान कर मेरी रक्षा करो तथा आप वक्ता-आचार्य की रक्षा करो। अन्त में तीन बार शान्ति कहने का तात्पर्य यह है कि हमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक विघ्नों से शान्ति प्राप्त हो।

द्वितीय अनुवाक

इसमें शिक्षा के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है -

" शीक्षा व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। "

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः अब हम शिक्षाका वर्णन करेंगे; वर्णः वर्ण; स्वरः-स्वर; मात्राः = मात्रा; बलम् प्रयत्न; साम-वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण अथवा गान करनेकी रीति (और); संतानः संधि; इति इस प्रकार; शीक्षाध्यायः - वेदके उच्चारणकी शिक्षाका अध्याय; उक्तः कहा गया।

शिक्षा के अंग- (6)

भाषाविज्ञान- शिक्षावल्ली में शिक्षा की व्याख्या करते हुए भाषाविज्ञान से संबद्ध 6 शब्द दिए हैं - "वर्ण, स्वरः, मात्रा, बलम, साम (सन्धि) सन्तान। इत्युक्त: शीक्षाध्याय"

1. वर्ण - वर्णमाला,
2. स्वर - तीन स्वर, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।
3. मात्रा - तीन मात्रा - ह्स्व, दीर्घ और पुत।
4. बल - दो प्रकार के प्रयत्न, बाह्य और आभ्यन्तर। वर्णोंचारण में आवश्यक प्रयत्न को बल कहते हैं।
5. साम - सम सुस्पष्ट और निर्दोष उचारण
6. संतान - संहिता, पदों का सानिध्य।

जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाए उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा को ही यहाँ शीक्षा कहा गया है। वैदिक प्रक्रिया के कारण शीक्षा में दीर्घत्व हुआ है। यहाँ शिक्षा के अन्तर्गत अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, प्रयत्नविशेषरूप बल, वर्णों को मध्यम वृत्ति से उच्चारण करनारूपी साम तथा सन्तान-सन्तति अर्थात् संहिता यही विषय सीखे जाने योग्य हैं। इन संकेतोंका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको वैसे तो प्रत्येक शब्दके उच्चारणमें सावधानीके साथ शुद्ध बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये। पर यदि लौकिक शब्दोंमें नियमोंका पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रोंका उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षाके नियमानुसार होना चाहिये। क, ख आदि व्यञ्जन-वर्णों और अ, आ आदि स्वरवर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। दन्त्य 'स' के स्थानमें तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थानमें 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके उच्चारणमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये।

19.4 पंच महासंहिताएँ

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध - अब आचार्य अपने और शिष्यके अभ्युदयकी इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं-

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोक- मधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महा सः हिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।

इस अनुवाक में पाँच प्रकार की संहितोपासना का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम इसमें गुरु और शिष्य दोनों एकसाथ यश और ब्रह्मतेज प्राप्ति की कामना करते हैं। (क्योंकि जिनकी बुद्धि शास्त्राध्ययन के द्वारा परिमार्जित हो गयी है वे भी आसानी से उस परमार्थतत्त्व को नहीं समझ सकते हैं।) इसके बाद संहिता के पाँच अधिकरणों की व्याख्या है। इस संहिता के चार भाग हैं - पूर्वरूप , उत्तररूप , सन्धि और सन्धान।

व्याकरण में भी सन्धि के चार तत्त्व हैं। वे ही यहाँ पर ये चार भाग हैं। संहिता के उन पाँच अधिकरणों की व्याख्या निम्नप्रकार से है -

1) अधिलोकम् - " अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः सन्धिः । वायुः सन्धानम् । इत्यधिलोकम् ।" अर्थात् अधिलोक संहिता में पृथिवी पूर्वरूप, द्यौ अन्तिम वर्ण या उत्तररूप , आकाश मध्यभाग तथा वायु परस्पर सन्धि या सम्बन्ध कराने वाला है।

2) अधिज्यौतिषम् - इसमें अग्नि पूर्व वर्ण , आदित्य अन्तिम वर्ण , जल-सन्धि और वैद्युत् सन्धि कराने वाला है।

3) अधिविद्यम् - अधिविद्य में आचार्य पूर्वरूप है , अन्तेवासी अर्थात् शिष्य उत्तररूप , विद्या सन्धि , प्रवचन सम्बन्ध कराने वाला है।

4) अधिप्रजम् - " माता पूर्वरूपम् । पितोत्तरूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजननं सन्धानम् । " अर्थात् अधिप्रज अधिकरण में माता पूर्वरूप , पिता उत्तररूप , सन्तान सन्धि तथा प्रजनन या भार्यागमन सन्धान है।

5) अध्यात्मम् - अध्यात्म में अधर'-हनु या नीचे के होंठ से ठोडी तक का भाग प्रथम वर्ण , ऊपर का हनु या ऊपर के होंठ से नासिका तक का भाग अन्तिम वर्ण , वाणी सन्धि और जिह्वा सम्बन्ध कराने वाली है।

इन पाँच संहिताओं को ही महासंहिता कहा जाता है। इसी महासंहिता को वेद में उपासना कहते हैं। इस प्रकार जो पुरुष इन संहिताओं से युक्त होकर उपासना करता है , वह प्रजा से लेकर समस्त स्वर्गादि से सम्पन्न होता है।

इस मन्त्रमें पाँच प्रकारसे कही हुई महासंहिताओंके यथार्थ ज्ञानका फल बताया गया है। इनको जाननेवाला अपनी इच्छाके अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्याके द्वारा ब्रह्मतेजसम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके पशुओंको और अन्न आदि आवश्यक भोग्यपदार्थोंको प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी हो जाती है। इनमेंसे लोकविषयक संहिताके ज्ञानसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योतिविषयक संहिताके ज्ञानसे नाना प्रकारकी भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक संधिके ज्ञानसे संतान, विद्याविषयक संहिताके ज्ञानसे विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्मसंहिताके विज्ञानसे वाक्शक्तिकी प्राप्ति-इस प्रकार पृथक् पृथक् फल समझना चाहिये।

चतुर्थ अनुवाक

इस अनुवाक में श्री और बुद्धि की कामना के लिए जप तथा होम सम्बन्धी मन्त्रों को बतलाया गया है। यहाँ कहा गया है कि **- " यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ।** " अर्थात् वेदों में ऋषभस्वरूप तथा अमृत से प्रधानरूप में सम्भूत इन्द्र से बुद्धि , ब्रह्मज्ञान , योग्य शरीर , मधुरभाषिणि जिह्वा , कानों में श्रवणशक्ति एवं विद्या की रक्षा की यहाँ पर कामना की गई है। इसके अतिरिक्त अन्न , धन तथा पशुओं से युक्त श्री की कामना भी की गई है।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।

भाव यह है कि 'लोगोंमें मैं यशस्वी बनूँ, जगत्में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यशमें धब्बा लगानेवाला हो, इस उद्देश्यसे 'यशो जनेऽसानि' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति डालनी चाहिये। 'महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! आपके उस दिव्य स्वरूपमें मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन् ! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय-मेरे मनमें बस जाय' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये

आचार्य शंकर के अनुसार इस प्रकार की श्री कामना धन के लिए है। धन कर्म हेतु होता है। कर्म उपात्त पापों के नाश के लिए होता है जिन पापों के नष्ट होने पर ही मनुष्य को सब प्रकार का ज्ञान होता है।

पंचम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते

पंचम अनुवाक में व्याहृति के रूप में ब्रह्म की उपासना की गई है। यहाँ भूः ,भुवः और स्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं। उनमें से महः इस चौथी व्याहृति को महाचमस्य का पुत्र जानता है अर्थात् महः नामक व्याहृति के दर्शन महाचमस्य ऋषि ने किये थे। वह महः ही ब्रह्म है। वही आत्मा है ; अन्य सभी उसके अवयव हैं। इनमें प्रत्येक महाव्याहृति को चार-चार प्रकार का इस तरह से क्रमशः बतलाया गया है -

1) भूः व्याहृति - भूरिति वा अयं लोकः अर्थात् भू यह पृथिवीलोक है , भूरिति अग्निः अर्थात् भू अग्नि है , भूरिति वा ऋचः अर्थात् भू ऋक्-मन्त्र है और भूरिति वै प्राणः अर्थात् भू प्राणस्वरूप है।

2) भुवः व्याहृति - यह व्याहृति अन्तरिक्षलोक , वायु , सामवेद तथा अपान रूप।

3) स्वः व्याहृति - स्वः व्याहृति को द्युलोक , आदित्य , यजुष् और व्यान कहा जाता है।

4) महः व्याहृति - आदित्य चन्द्रमा , ब्रह्म तथा अन्न ये महः व्याहृति के चार प्रकार हैं।

इस प्रकार ब्रह्म को ही विविध स्वरूपों में जाना जाता है।

षष्ठ अनुवाक

षष्ठ अनुवाक में ब्रह्म के साक्षात् उपलब्धि स्थान हृदयाकाश का वर्णन करते हुए कहा है कि

स य एषोऽन्तहृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ।

यह जो हृदय के मध्य में स्थित आकाश है उसमें ही यह मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्यमय पुरुष रहता है। तालुओं के बीच में जो स्तनमय लटका हुआ है जहाँ केशों का मूलभाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्धप्रदेश मे मस्तक के कपालों को विदीर्ण करके निकल गयी है वह इन्द्रयोनि है।

इन सब का भेदन करके जब यह आत्मा निकलता है तो यह समस्त सभी व्याहृतियों की अवस्थाओं का पार करके क्रमशः भूः का चिन्तन करने वाला अग्नि , भुवः का मनन करने वाला वायु , स्वः का ध्यान करने वाला आदित्य और महः का मनन करने वाला ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति

वह ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है- यह बात इस अनुवाकके तीसरे अंशमें बतलायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि वह स्वराट् बन जाता है। अर्थात् उसपर

प्रकृतिका अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृतिका अधिष्ठाता बन जाता है; क्योंकि वह मनके अर्थात् समस्त अन्तःकरणसमुदायके स्वामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओंका तथा विज्ञानस्वरूप बुद्धिका भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके अधीन हो जाते हैं। उस पहले बताये हुए साधन से यह उपर्युक्त फल मिलता है।

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ।

वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये- यह बात इस अनुवाकके चौथे अंशमें बतायी गयी है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाशके सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियोंको विश्राम देनेवाले और मनके लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्तिके भण्डार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं।

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् ।

इस अनुवाक में पाङ्क्त रूप में ब्रह्म की उपासना का विवेचन किया गया है। जिस प्रकार पाँच पादों वाला पंक्ति छन्द कहलाता है उसी प्रकार चार या पाँच वस्तुओं के समूह में उस ब्रह्म का पाङ्क्त रूप में व्याख्या की गयी है। यह पाङ्क्त भी दो प्रकार का है - अधिभूत और अध्यात्म। अधिभूत में पृथिवी , अन्तरिक्ष , द्युलोक , दिशायें और उपदिशायें ये लोकपाङ्क्त हैं ; अग्नि , वायु ,आदित्य तथा नक्षत्र ये देवता पाङ्क्त हैं ; जल , औषधि , वनस्पति आकाश और आत्मा ये भूत पाङ्क्त हैं ; इसके अतिरिक्त अध्यात्म पाङ्क्त में प्राण , अपान , व्यान , उदान और समान ये सब वायु पाङ्क्त हैं ; नेत्र , कान , मन , वाक् तथा त्वचा ये इन्द्रिय पाङ्क्त हैं ; चर्म , मांस , स्नायु , अस्थि और मज्जा ये धातु पाङ्क्त में आते हैं। इस प्रकार जो पुरुष इन सब पाङ्क्तों को अच्छी तरह से समझ लेता है , वह अन्त में ब्रह्ममय ही हो जाता है।

19.5 ओउम् की महत्ता

अष्टम अनुवाक

अष्टम अनुवाक में ओंकार की महिमा का वर्णन किया गया है। यहाँ पर कहा गया है कि -

" **ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति ।**

अर्थात् ॐ ही ब्रह्म है , ॐ ही सर्वरूप है। ओंकार प्रणवाक्षर है अतः सभी वैदिक मन्त्रों के पूर्व ॐ का ही साम गायन करते हैं। अन्य उपनिषदों के अनुसार ॐकार को ही पूर्णब्रह्म और आत्मा का प्रतीक माना गया है।

सामवेद का गान करनेवाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वरके नामका भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेदका गान किया करते हैं। यज्ञ कर्ममें शस्त्र-शंसनरूप कर्म करनेवाले शास्ता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रोंका अर्थात् तद्विषयक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यज्ञकर्म करानेवाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वरके नामका उच्चारण करके ही प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके यज्ञकर्म करनेके लिये अनुमति देता है तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है। अध्ययन करनेके लिये उद्यत ब्राह्मण

ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वरके नामका पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेदको भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् ॐकार जिसका नाम है, उस परमेश्वरसे ॐकारके उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) तैत्तिरीयोपनिषदः सम्बन्धः केन वेदेन सह वर्तते ?
2) तैत्तिरीयोपनिषदि कति वल्लयः सन्ति ?
3) शान्तिपाठे कस्य प्रार्थना वर्तते ?
4) संहितोपासना कतिविधा ?

19.6 स्वाध्याय की अनिवार्यता

नवम अनुवाक

इस अनुवाक में विज्ञान से स्वराज्य-प्राप्ति के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च।

इसके साथ ऋतादि शुभकर्मों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को ऋत , स्वाध्याय , प्रवचन , इन्द्रियों का दमन , मन का निग्रह , अग्न्याधान , अतिथिसत्कार , विवाहादि लौकिक व्यवहार और प्रजा उत्पादन आदि कार्य सदैव करने चाहिए। रथीतरका पुत्र सत्यवचा के अनुसार सत्य ही अनुष्ठान के योग्य है। मुद्गल के पुत्र नाक के मत में स्वाध्याय और प्रवचन ही तप एवं अनुष्ठान के योग्य है। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्यको अपने कर्तव्यका तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है; अतः इसे करते हुए ही उसके साथ- साथ यथायोग्य सदाचारका पालन, सत्यभाषण, स्वधर्म पालनके लिये बड़े-से- बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथिकी यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधिके अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकालमें नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्बको बढ़ानेका उपाय करना-इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशक.के लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि उनके आदर्श का अनुकरण उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं।

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणः सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।

इसमें त्रिशंकु का वेदानुवचन है। ब्रह्मप्राप्ति के बाद त्रिशंकु इन वचनों को बोल रहे हैं कि - " अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनिव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमतोक्षितः । " अर्थात् मैं संसाररूपी वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान उच्च है। मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ। अन्नवान् सूर्य में जिस प्रकार अमृत है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध अमृतमय हूँ। मैं प्रकाशमान धन , सुमेधा , अमरणधर्मा तथा अमृत से सिक्त हूँ। इस प्रकार यह त्रिशंकु ऋषि का वेदानुवचन है। मनुष्य जिस प्रकारकी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है, उसके संकल्पमें यह अपूर्व-आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो

मनुष्य अपनेमें उपर्युक्त भावनाका अभ्यास करेगा वह निश्चय वैसा ही बन जायगा। परंतु इस साधनमें पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है। यदि भावनाके अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचनके रहस्यको ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमानकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

19.7 आचार्य का अनुशासन उपदेश

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम्।

इसके अन्तर्गत वेदाध्ययन के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वह सत्य का आचरण करे , धर्म का पालन करे , स्वाध्याय से प्रमाद न करे , आचार्य के लिए अभीष्ट धन लाकर विवाहादि करे , सत्य , धर्म , कुशल , मांगलिक कर्म , मातृ-पितृ पूजन एवं अतिथि सत्कार आदि का आचरण करे।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि । यान्यस्माकः सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाः सो ब्राह्मणाः ।

मातृदेवः भव-तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो; पितृदेवः भव-पिताको देवरूप समझनेवाले होओ आचार्यदेवः भव आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो; अतिथिदेवः भव-अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ; यानि जो-जो; अनवद्यानि निर्दोष; कर्माणि कर्म हैं; तानि उन्हींका; सेवितव्यानि तुम्हें सेवन करना चाहिये; इतराणि दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका; नो-कभी आचरण नहीं करना चाहिये; अस्माकम्-हमारे (आचरणोंमेंसे भी); यानि जो-जो; सुचरितानि-अच्छे आचरण हैं; तानि उनका ही; त्वया तुमको; उपास्यानि सेवन करना चाहिये; इतराणि दूसरोंका; नो कभी नहीं; ये के च जो कोई भी अस्मत्-हमसे; श्रेयांसः - श्रेष्ठ (गुरुजन एवं); ब्राह्मणाः ब्राह्मण आयें; तेषाम् उनको; त्वया तुम्हें; आसनेन-आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके; प्रश्वसितव्यम्-विश्राम देना चाहिये;

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इस अनुवाक में दुबारा शान्तिपाठ का प्रतिपादन किया गया है। इसमें अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्रथम शान्तिपाठ में लृट् तथा लोट् का प्रयोग हुआ था , वहाँ अब लुङ् का प्रयोग किया है । इसका तात्पर्य यह है कि शिष्य ने पहले अभिलाषा की थी अब वह पूर्ण हो गई है, मानो कार्य सम्पूर्ण होने के पश्चात् उसकी और आचार्य की रक्षा हो गई है। इस प्रकार शीक्षा-वल्ली में सांसारिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर बल दिया गया है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) मातृदेवो भव, पितृदेवो भव" इत्यादि उपदेशः कुत्र दृष्टव्यम्?

2) शिक्षा वल्ली कति अनुवाकाः विद्यन्ते

19.8 सारांश

उपर्युक्त पाठ के सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि इससे शिक्षा के साथ-साथ पाँच प्रकार की सहितोपासना यथा- अधिलोक अधिज्यौतिष अधिविद्य अधिप्रज और अध्यात्म इन सबका ज्ञान हुआ इनको जानकर ही मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी होता है। शिक्षा वल्ली में उच्चारण, स्वर, मात्राओं और । इसके उपरान्त भू भुवः स्वः आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की। शिक्षा वल्ली में उच्चारण, स्वर, मात्राओं और सांस्कृतिक शिक्षा पर बल दिया गया है। यह अध्याय विद्यार्थियों के लिए आवश्यक अनुशासन और ज्ञान की दिशा में मार्गदर्शन करता है।समावर्तन संस्कार के अवसर पर सत्य भाषण, गुरुजनों के सत्याचरण के अनुकरण और असदाचरण के परित्याग इत्यादि नैतिक धर्मों की ' शिष्य को आचार्य द्वारा दी गई शिक्षाएँ शाश्वत मूल्य रखती हैं।

19.9 कठिन शब्दावली

प्रणवः - ओंकार, ॐ

स्वरः - स्वर, ध्वनि

संधि - संधि, संयुक्त ध्वनि

अनुप्रासनम् - उचित उच्चारण

श्रद्धा - श्रद्धा, विश्वास

मात्राः - मात्राएँ, ध्वनि की लंबाई

वर्णः - अक्षर, वर्ण

स्वाध्यायः - स्वयं का अध्ययन, आत्म-अध्ययन

दतपः - तपस्या, आत्म-अनुशासन

मेदः - बुद्धि, ज्ञान

19.10 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) कृष्णयजुर्वेदेन

2) तिस्रः

3) वायुः

4) पंच

अभ्यास प्रश्न 2

1) शिक्षा वल्ली

2): एकादश

19.11 सहायक ग्रन्थ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थः गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) तैत्तिरीयोपनिषद् ; सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

19.12 अभ्यास के लिए प्रश्न

•तैतिरीयोपनिषदः शीक्षावल्या: सारं लिखत।

• वेदमनूच्याचार्यो ऽन्तेवासिनमनुशास्ति

• संहितोपासना कतिविधा ? इति विवेचयत।

•कयोश्चत् द्वयो: प्रसंगोल्लेखपूर्वकं व्याख्या करणीया-

(क) वर्णः स्वरः ।मात्रा बलम्। साम सन्तानः , इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

• मातृदेवो भव। पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि।

ग)भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्त्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति
वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।

¤¤¤¤

इकाई 20

ब्रह्मानन्द-वल्ली

संरचना

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 पञ्चकोश वर्णन
20.4 ब्रह्म स्वरुप व शक्ति का वर्णन
- स्वयं आकलन प्रश्न

20.5 सृष्टि उत्पति का क्रम निरूपण
- स्वयं आकलन प्रश्न

20.6 सारांश
20.7 कठिन शब्दावली1
20.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर
20.9 सहायक ग्रन्थ
20.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

.20.1 प्रस्तावना

तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्दवल्ली खंड में आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता का साक्षात्कार प्रस्तुत किया गया है। यह खंड आत्मा के उच्चतम सुख, जिसे ब्रह्मानंद कहा जाता है, की खोज और प्राप्ति पर केंद्रित है। वेदांत के इस प्रमुख ग्रंथ में आत्मा के विभिन्न स्तरों की व्याख्या की गई है, जिसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों की परतों के माध्यम से आत्मा की संपूर्णता की समझ प्राप्त की जाती है।ब्रह्मानंदवल्ली हमें यह सिखाता है कि वास्तविक सुख बाह्य वस्तुओं में नहीं, बल्कि आत्मा के भीतर स्थित है। यह उपनिषद प्रत्येक व्यक्ति के भीतर निहित अनंत आनंद की खोज की प्रेरणा देता है। इस खंड में आत्मा के वास्तविक स्वरूप और उसकी पूर्णता की प्राप्ति के मार्ग की स्पष्ट व्याख्या की गई है। इसके माध्यम से वेदांत के अद्वैत सिद्धांत का सम्पूर्ण दृष्टिकोण मिलता है, जिसमें आत्मा और ब्रह्म की एकता को समझाया गया है।ब्रह्मानंदवल्ली का यह अध्याय अध्यात्मिक साधकों के अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उन्हें आत्मा की अद्वितीयता और उसकी अनंत शक्ति का अनुभव कराता है। इस खंड के अध्ययन से साधक को न केवल आत्म-साक्षात्कार की दिशा में मार्गदर्शन मिलता है, बल्कि उसे जीवन के वास्तविक उद्देश्य और आनंद का भी बोध होता है।

. 20.2 उद्देश्य

- सांस्कृतिक धरोहर एवं सामाजिक जीवन के मूल्यों से.परिचित कराना
- समस्त विषय भोगों का त्याग कर आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देना।
- सकारात्मंक दृष्टिकौण से बौद्धिक विकास कराना।
- परम सत्य की अनुभूति करवाना

शान्तिपाठ

"ऊँ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

अर्थात् वह परमात्मा हम दोनों (आचार्य और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे , हम दोनों का साथ-साथ पालन करे , हम दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें , हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो और हम कभी भी आपस में द्वेष न करें।

इसके बाद ब्रह्म के विषय में कहा है कि -

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता ।" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

ब्रह्मवित्-ब्रह्मज्ञानी; परम्-परब्रह्मको; आप्नोति=प्राप्त कर लेता है; तत्-उसी भावको व्यक्त करनेवाली; एषा-यह (श्रुति); अभ्युक्ता-कही गयी है। व्याख्या- ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, ब्रह्म-ब्रह्म; सत्यम-सत्य; ज्ञानमृ-ज्ञानस्वरूप; (और) अनन्तम-अनन्त है; यः-जो मनुष्य; परमे व्योमन्-परम विशुद्ध आकाशमें (रहते हुए भी); गुहायाम्- प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें; निहितम्-छिपे हुए (उस ब्रह्मको); वेद-जानता है; सः=वह; विपश्चिता=(उस) विज्ञानस्वरूप; ब्रह्मणा सहः-ब्रहमके साथ; सर्वान्-समस्त; कामान् अश्नुते-=भोगोंका अनुभव करता है;

अर्थात् वह परमात्मा सत्य , ज्ञान और अनन्तरूप है। जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है , वह एकसाथ ही प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ है , आकाश से वायु , वायु से अग्नि , अग्नि से जल , जल से पृथिवी , पृथिवी से ओषधियाँ , ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ है। वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है।इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर उनकी प्राप्तिके स्थानका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका फल बताया गया है। भाव यह है कि वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है। अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं; किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत- सीमारहित हैं। वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयकी गुफामें छिपे हुए हैं। उन परब्रह्म परमात्माको जो साधक तत्त्वसे जान लेता है, वह सबको भलीभाँति जाननेवाले उन ब्रह्मके साथ रहता हुआ सब प्रकार के भोगोंको अलौकिक ढंगसे अनुभव करता है।

वे परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार कैसी गुफामें छिपे हुए हैं, उन्हें कैसे जानना चाहिये-इस जिज्ञासापर आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है-

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।

इस मन्त्रमें मनुष्यके हृदयरूप गुफाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका प्रकार संक्षेपमें बताकर उसके अङ्गोंकी पक्षीके अङ्गोंके रूपमें कल्पना की गयी है। भाव यह है कि सबके

आत्मा अन्तर्यामी परमात्मासे पहले आकाशतत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायुतत्त्व, वायुसे अग्नितत्त्व, अग्निसे जलतत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ- अनाजके पौधे हुए और ओषधियोंसे मनुष्योंका आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्नसे यह स्थूल मनुष्य-शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्नके रससे बना हुआ यह जो मनुष्य-शरीरधारी पुरुष है, इसकी पक्षीके रूपमें कल्पना की गयी है। इसका जो यह प्रत्यक्ष सिर है, वही तो मानो पक्षीका सिर है; दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बायीं भुजा ही बाँया पंख है। शरीरका मध्यभाग ही मानो उस पक्षीके शरीरका मध्यभाग है। दोनों पैर ही पूँछ एवं प्रतिष्ठा (पक्षीके पैर) हैं।

20.3 पञ्चकोश वर्णन

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीः श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

द्वितीय अनुवाक में अन्न की महिमा और प्राणमय कोश का वर्णन किया गया है। यहाँ अन्न की महिमा का विवेचन करते हुए कहा है कि अन्न से ही जड़ एवं चेतन रूपी प्रजायें उत्पन्न होती हैं और अन्न के माध्यम से ही जीवित रहती हैं। अन्न ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है , इसलिए उसे सर्वौषध कहा जाता है। अन्न को अन्न इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सब प्राणियों द्वारा खाया जाता है। इस अन्नरसमय पिण्ड से भीतर रहनेवाला दूसरा शरीर प्राणमय है। उसके द्वारा ही यह अन्नमय परिपूर्ण है। वह यह प्राणमय भी पुरुषाकार ही है। उसका प्राण ही सिर है , व्यान ही दक्षिण पक्ष है , अपान उत्तर पक्ष है , आकाश आत्मा है और पुच्छ-प्रतिष्ठा है। इस तरह स्थूल-अन्नमयकोश और सूक्ष्म-प्राणमयकोश है। भाव यह है कि पूर्वोक्त अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरसे भिन्न उस स्थूलशरीरके भीतर रहनेवाला एक और शरीर है, उसका नाम 'प्राणमय' है; उस प्राणमयसे यह अन्नमय शरीर पूर्ण है। अन्नमय स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण प्राणमय शरीर इसके अङ्ग प्रत्यङ्गमें व्याप्त है। वह यह प्राणमय शरीर भी पुरुषके आकारका ही है। अन्नमय शरीरकी पुरुषाकारता प्रसिद्ध है, उसमें अनुगत होनेसे ही यह प्राणमय शरीर भी पुरुषाकार कहा जाता है। उसकी पक्षीके रूपमें कल्पना इस प्रकार है- प्राण ही मानो उसका सिर है; क्योंकि शरीरके अङ्गोंमें जैसे मस्तक श्रेष्ठ है; उसी प्रकार पाँचों प्राणोंमें मुख्य प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है।

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

इस अनुवाक में प्राण की महिमा और मनोमय कोश का वर्णन करते हुए कहा है कि - " प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। " अर्थात् सभी देवता प्राणों के अनुगामी होकर प्राणन-क्रिया करते हैं तथा मनुष्य और पशु आदि हैं , वे भी चेष्टावान् होते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु अर्थात् जीवन है। इसलिए वह सर्वायुष कहलाता है। अन्नमयकोश का यही

प्राण देहस्थित आत्मा है । इस प्राणमय कोश में भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है। उसी के द्वारा यह परिपूर्ण है। वह मनोमय भी पुरुषाकार ही है। यजुर्वेद इस मनोमय का सिर है , ऋक् दक्षिण पक्ष , साम उत्तर पक्ष , आदेश आत्मा तथा अथर्वांगिरस पुच्छ-प्रतिष्ठा है।

तृतीय अनुवाकके इस पहले अंशमें प्राणकी महिमाका वर्णन करनेवाली श्रुतिका उल्लेख करके फिर इस प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी परमेश्वरको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राणके सहारे ही जी रहे हैं। प्राणके बिना किसीका भी शरीर नहीं रह सकता; क्योंकि प्राण ही सब प्राणियोंकी आयु-जीवन है, इसीलिये यह प्राण 'सर्वायुष' कहलाता है। जो साधक यह प्राणियोंकी आयु है, इसलिये यह सबका आयु-जीवन कहलाता है; यों समझकर इस प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद्में भी कहा है कि जो मनुष्य इस प्राणके तत्त्वको जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती है (३। ११)। जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरधारी पुरुषका अन्तरात्मा है, वही उस प्राणमय पुरुषका भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

चतुर्थ अनुवाक में मनोमय कोश की महिमा और विज्ञानमय कोश का वर्णन उपलब्ध होता है। यह मनोमय कोश प्राणमय का शारीरिक आत्मा है। इसके अन्दर दूसरा आत्मा विज्ञानमय है। उसके माध्यम से यह पूर्ण है।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुष- विधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

विज्ञानमय कोश भी पुरुष की तरह है अतः इसका श्रद्धा सिर है , ऋत दक्षिण पक्ष , सत्य उत्तर पक्ष है और यागात्मा मध्यभाग तथा महत्तत्व पुच्छ-प्रतिष्ठा है। परमात्माकी प्राप्तिमें तो सबसे पहले और सबसे अधिक इसीकी आवश्यकता है। सदाचरणका निश्चय ही इसका दाहिना पंख है, सत्य- भाषणका निश्चय ही इसका बायाँ पंख है। ध्यानद्वारा परमात्माके साथ संयुक्त रहना ही विज्ञानमय शरीरका मध्यभाग है और 'महः' नामसे प्रसिद्ध * परमात्मा पुच्छ और आधार है; क्योंकि परमात्मा ही जीवात्माका परम आश्रय है।

पंचम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

इस अनुवाक में विज्ञान की महिमा और आनन्दमय कोश का विवेचन मिलता है। यह विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है और वही कर्मों का भी विस्तार करता है। सकल देवगण ज्येष्ठ विज्ञानब्रह्म की उपासना करते हैं। इस विज्ञानमय से दूसरा अन्तवर्ती आत्मा आनन्दमय है। आनन्दमय से ही यह विज्ञानमय पूर्ण है। आनन्दमय भी पुरुषविध है। इसका प्रिय सिर है , मोद दक्षिण पक्ष है , प्रमोद उत्तर पक्ष है , आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है। आनन्दमय का पर्यवसान भी एकत्व में ही होता है।

20.4 ब्रह्म स्वरुप व शक्ति का वर्णन

षष्ठ अनुवाक

इस अनुवाक में ब्रह्म की स्थिति का विशेष तौर पर वर्णन प्राप्त होता है। इसके विषय में कहा गया है कि -"**असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।**" अर्थात् पुरुष यदि ब्रह्म को असत् मानता है तो वह स्वयमेव भी असत् हो जाता है। और यदि ऐसा सोचता है कि ब्रह्म है तो उसे सत् समझा जाता है। सृष्टि रचना के वर्णन में उसी ब्रह्म ने यह कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ एतदर्थ उसने तप किया ; तदुपरान्त उस तप के मा ाध्यम से इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की। वह परमात्मा ही मूर्त्त-अमूर्त्त , आश्रय-अनाश्रय , चेतन-अचेतन तथा सत्य-असत्य स्वरूप हा गया। उसी परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता सत्य नाम से जानते हैं।

इदः सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सञ्च त्यञ्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्

व्याख्या -

सर्ग के आदिमें परब्रह्म परमात्माने यह विचार किया कि मैं नानारूपमें उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ। यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवोंके कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये संकल्प किया। संकल्प करके यह जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, उस जडचेतनमय समस्त जगत्की रचना की, अर्थात् इसका संकल्पमय स्वरूप बना लिया। उसके बाद स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये। यद्यपि अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्में वे परमेश्वर पहलेसे ही प्रविष्ट थे- यह जगत् जब उन्हींका स्वरूप है, तब उसमें उनका प्रविष्ट होना नहीं बनता तथापि जडचेतनमय जगत्में आत्मारूपसे परिपूर्ण हुए उन परब्रह्म परमेश्वरके विशेष स्वरूप - उनके अन्तर्यामी स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'इस जगत्की रचना करके वे स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये।' प्रविष्ट होनेके बाद वे मूर्त और अमूर्तरूपसे अर्थात् देखनेमें आनेवाले पृथ्वी, जल और तेज- इन भूतोंके रूपमें तथा वायु और आकाश इन न दिखायी देनेवाले भूतोंके रूपमें प्रकट हो गये। फिर जिनका वर्णन किया जा सकता है और नहीं किया जा सकता; ऐसे विभिन्न नाना पदार्थोंके रूपमें हो गये। इसी प्रकार आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतन और जड-इन सबके रूपमें वे एकमात्र परमेश्वर ही बहुत- से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गये। वे एक सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ-इन सबके रूपमें हो गये। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि 'यह जो कुछ देखने, सुनने और समझने में आता है, वह सब-का-सब सत्यस्वरूप परमात्मा ही है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न 1

  1) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति वाक्यम् कुत्र दृष्टव्यम्**?**

  2) ब्रह्मानंदवल्ली में कः प्रमुखं विषयः प्रतिपाद्यते

20.5 सृष्टि उत्पति का क्रम निरूपण

सप्तम अनुवाक

सप्तम अनुवाक में ब्रह्म की सुकृतता एवं आनन्दरूपता अर्थात् सृष्टि का ही विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए कहा है

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानः स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।

सर्वप्रथम सृष्टि के आदि में यह असत् ही था। उसी असत् से ही बाद में नामरूपतामक सत् जगत् की रचना हुई । इसलिए उसे सुकृत कहते हैं । यह सुकृत ही निश्चय से रस है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्द से युक्त हो जाता है। यह आनन्दरूपी ब्रह्म ही संसार में मनुष्यों को आनन्दित करता है। जब कोई तपस्वी पुरुष उस निराधार ब्रह्म में अभय-प्राप्ति की अवस्था को पा लेता है तो मानो वह सब ओर से इस संसार में निर्भय हो जाता है। ये जो 'सुकृत' नामसे कहे गये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) हैं, ये ही वास्तविक आनन्द हैं; क्योंकि अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखका अनुभव करनेवाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्मको पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे इसका संयोग नहीं हो जाता, तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द और अनन्त आनन्द नहीं मिल सकता। इसीसे उन वास्तविक आनन्दस्वरूप परमात्माका अस्तित्व निःसंदेह सिद्ध होता है; क्योंकि यदि ये आकाशकी भाँति व्यापक आनन्दस्वरूप परमात्मा लय होना बताया गया है । परंतु भगवान् जब स्वयं अवतार लेकर लीला करनेके लिये जगत्में प्रकट होते हैं; तब उनका वह प्रकट होना अन्य जीवोंकी भाँति अव्यक्तसे व्यक्त होने अर्थात् कारणसे कार्यरूपमें परिवर्तित होनेके समान नहीं है, वह तो अलौकिक है। इसलिये यहाँ भगवान्ने कहा है कि जो मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं (७। २४); वहाँ जडतत्त्वोंका और उनके नियमोंका प्रवेश नहीं है। भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम-सब कुछ अप्राकृत हैं, चिन्मय हैं। उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं। भगवान्के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १०१२)/

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति

क्योंकि उन परब्रह्म परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा रखनेवाला यह जीव जब कभी देखनेमें न आनेवाले, बतलानेमें न आनेवाले और किसीके आश्रित न रहनेवाले शरीररहित परब्रह्म परमात्मामें निर्भय (अविचल) स्थिति लाभ करता है, उस समय वह निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है-सदाके लिये भय एवं शोकसे रहित हो जाता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य।

क्योंकि जबतक यह जीवात्मा उन परब्रह्म परमात्मासे थोड़ा- सा भी अन्तर किये रहता है- उनमें पूर्ण स्थिति लाभ नहीं कर लेता या उनका निरन्तर स्मरण नहीं करता उन्हें थोड़ी देरके लिये भी भूल जाता है, तबतक उसके लिये भय है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म होना सम्भव है; क्योंकि जिस समय उसकी परमात्मामें स्थिति नहीं है, वह भगवान्को भूला हुआ है, उसी समय यदि उसकी मृत्यु हो गयी तो फिर उसका अन्तिम संस्कारके अनुसार जन्म होना निश्चित है; क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है- 'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उसीके अनुसार उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है (८।६)' और मृत्यु प्रारब्धके अनुसार किसी क्षण भी आ सकती है। इसीलिये योगभ्रष्टका पुनर्जन्म होनेकी बात गीतामें कही गयी है (६। ४०-४२)। जबतक परमात्मामें पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती अथवा जबतक भगवान्का निरन्तर स्मरण नहीं होता, तबतक यह पुनर्जन्मका भय- जन्म-मृत्युका भय सभीके लिये

बना हुआ है-चाहे कोई बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ विद्वान् क्यों न हो और चाहे कोई अपनेको बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा पण्डित क्यों न माने। वे परमेश्वर सबपर शासन करनेवाले हैं, उन्हींकी शासन-शक्तिसे जगत्की सारी व्यवस्था नियमितरूपसे चल रही है।

अष्टम अनुवाक

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्वेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

इन परब्रह्म परमेश्वरके भयसे ही पवन नियमानुसार चलता है, इन्हींके भयसे सूर्य ठीक समयपर उदय होता है और ठीक समयपर अस्त होता है तथा इन्हींके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु- ये सब अपना-अपना कार्य नियमपूर्वक सुव्यवस्थितरूपसे कर रहे हैं। यदि इन सबकी सुव्यवस्था करनेवाला इन सबका प्रेरक कोई न हो तो जगत्के सारे काम कैसे चलें। इससे सिद्ध होता है कि इन सबको बनानेवाला, सबको यथायोग्य नियममें रखनेवाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवश्य है और वह मनुष्यको अवश्य मिल सकता है*।

इस अनुवाक में ब्रह्मानन्द के निरतिशयत्व का विशेषतौर पर वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ कहा गया है कि उस ब्रह्म भय से वायु चलता है , इसी के भय से सूर्य उदय होता है , उसी के भय से अग्नि , इन्द्र और मृत्यु दौड़ता है। अब आनन्द के विषय में वर्णन मिलता है कि वेद पढ़ना , अत्यन्त सुदृढ़ , आशावान् , बल एवं धन-धान्य से पूर्ण होना मनुष्य का एक आनन्द है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द है , गन्धर्वों के सौ आनन्द देवताओं का एक आनन्द है। देवताओं के जो सौ आनन्द हैं , वही इन्द्र का एक आनन्द है। इन्द्र से सौ गुणा बृहस्पति का आनन्द , बृहस्पति के आनन्द से सौ गुणा प्रजापति का आनन्द और प्रजापति के आनन्द का सौ गुणा ब्रह्म का आनन्द है। अतः उस ब्रह्म के द्वारा ही यह सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन होता है। अर्थात् सकल संसार के सभी प्राणी ,जीव-जन्तु और प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म के आनन्द से ही आनन्दित है। उस ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला पुरुष ही पंचकोशों के आनन्द को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को पा लेता है।

नवम अनुवाक

सम्बन्ध - -नवम अनुवाक में ब्रह्मानन्द की अनुभूति करने वाले पुरुष का विवेचन करते हुए कहा है कि मन तथा वाणी के माध्यम से उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष किसी से कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। उस पुरुष को जीवन में अच्छे या बुरे की , पाप और पुण्य की कभी भी चिन्ता नहीं व्याप्त करती है। अर्थात् उस परमात्मा को जानने वाला पुरुष सब प्रकार से मुक्त हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति में ही परम सुख निहित है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।

मनसा सह-मनके सहित; वाचः वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ; यतः- जहाँसे; अप्राप्य उसे न पाकर; निवर्तन्ते लौट आती हैं; [तस्य ब्रह्मणः उस ब्रह्मके; आनन्दम्-आनन्दको; विद्वान्-जाननेवाला (महापुरुष); कुतश्चन किसीसे भी; न बिभेति भय नहीं करता; इति इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या- इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके परमानन्दस्वरूपको जानने का फल बताया गया है। भाव यह है कि मनके सहित सभी इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं- जिस ब्रह्मानन्दको जाननेकी इन मन और

इन्द्रियोंकी शक्ति नहीं है, परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष कभी किसीसे भी भय नहीं करता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका तात्पर्य है।

एतः ह वाव न तपति । किमहः साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति । य एवं विद्वानेते आत्मानः स्पृणुते। उभे होवैष एते आत्मानः स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत् ।

ह वाव-यह प्रसिद्ध ही है कि; एतम् उस (महापुरुष) को; (यह बात) न तपति-चिन्तित नहीं करती कि; अहम् मैंने; किम्-क्यों; साधु श्रेष्ठ कर्म; न-नहीं; अकरवम्-किया; किम् (अथवा) क्यों; अहम् मैंने; पापम्पापाचरण; अकरवम् इति किया; यः जो; एते इन पुण्य पापकर्मोंको; एवम् इस प्रकार (संतापका हेतु); विद्वान्-जाननेवाला है; सः वह; आत्मानम् स्पृणुते-आत्माकी रक्षा करता है; हि-अवश्य ही; यः जो; एते इन पुण्य और पाप; उभे एव दोनों ही कर्मोंको; एवम्-इस प्रकार (संतापका हेतु); वेद जानता है; [सः एषः वह यह पुरुष; आत्मानम् स्पृणुते- आत्माकी रक्षा करता है; इति इस प्रकार; उपनिषत्-उपनिषद् (की ब्रह्मानन्दवल्ली) पूरी हुई।

व्याख्या-

इस वर्णनमें यह बात कही गयी है कि ज्ञानी महापुरुषको किसी प्रकारका शोक नहीं होता। भाव यह है कि परमात्माको ऊपर बताये अनुसार जाननेवाला विद्वान् कभी इस प्रकार शोक नहीं करता कि 'क्यों मैंने श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण नहीं किया, अथवा क्यों मैंने पाप-कर्म किया।' उसके मनमें पुण्य- कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका लोभ नहीं होता और उसे पापजनित नरकादिका भय भी नहीं सताता। लोभ और भयजनित संतापसे वह ऊँचा उठ जाता है। उक्त ज्ञानी महापुरुष आसक्तिपूर्वक किये हुए पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंको जन्म-मरणरूप संतापका हेतु समझकर उनके प्रति राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहकर आत्माकी रक्षा करता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

  अभ्यास प्रश्न

  1) तैत्तिरीयोपनिषदः मुख्यं लक्ष्यं किं वर्तते
  2) ब्रह्म-प्राप्तिः केन भवति ?
  3) ब्रह्मज्ञानस्य मुख्य द्वारः कः वर्तते

  4)" कोशाः कति विधा ?

20.6 सारांश

तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्दवल्ली खंड में आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस खंड में आत्मा के पांच कोशों - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय - की व्याख्या की गई है, जो आत्मा की पूर्णता की ओर ले जाती है। अन्नमय कोश शरीर से संबंधित है और इसे सबसे स्थूल कहा गया है, जबकि प्राणमय कोश जीवन ऊर्जा से संबंधित है और शरीर को जीवित और सक्रिय रखता है। मनोमय कोश मन और भावनाओं से संबंधित है और विचारों, इच्छाओं तथा भावनाओं का निवास स्थान है। विज्ञानमय कोश बुद्धि और ज्ञान से संबंधित है, जहाँ सत्य, ज्ञान और विवेक का निवास होता है। अंततः आनंदमय कोश आत्मा का सबसे आंतरिक स्तर है, जहाँ आत्मा ब्रह्म के

साथ एकत्व में स्थित होती है और अनंत आनंद का अनुभव करती है।ब्रह्मानन्दवल्ली खंड हमें यह सिखाता है कि वास्तविक सुख बाहरी पदार्थों में नहीं, बल्कि आत्मा के भीतर है। आत्मा के विभिन्न स्तरों को पार करते हुए, साधक आनंदमय कोश में प्रवेश करता है और ब्रह्मानंद की प्राप्ति करता है।

20.7 कठिन शब्दावली

अन्वेष्टव्यं (अन्वेष्टव्य) - खोजने योग्य उपासनायाम् (उपासना) - पूजा, ध्यान

प्रतिबोधः (प्रतिबोध) - जागरूकता ज्ञानसर्वात्मभाव (सर्वात्मभाव) - सभी में आत्मा का अनुभव

अन्वयः (अन्वय) - संबंध, एकता आनन्दमयः (आनन्दमय) - आनंद से भरा हुआ

व्यतिरिक्तः (व्यतिरिक्त) - अलग, भिन्नविज्ञानमयः (विज्ञानमय) - बुद्धि और ज्ञान से पूर्ण

अनन्तत्वम् (अनन्तत्व) - अनंतता, असीमित होना आवरण

ब्रह्मविद्या (ब्रह्मविद्या) - ब्रह्म का ज्ञान, उच्चतम ज्ञानसाक्षात्कार (साक्षात्कार) - प्रत्यक्ष अनुभव

अन्तःकरण (अन्तःकरण) - आंतरिक अंग, मन

निर्विकल्प (निर्विकल्प) - विकल्प रहित

20.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. ब्रह्मज्ञानम्
2. प्रथम अनुवाके

अभ्यास प्रश्न 2

1. ब्रह्मज्ञानम्
2. तपसा
3. अन्नम्
4. पंच

20.9 सहायक ग्रंथ

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ: गीता प्रैस गोरखपुर - 273005

2) तैत्तिरीयोपनिषद् ; सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

20.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) तैत्तिरीयोपनिषदि वार्णितस्य ब्रह्मानन्दवल्ल्यध्यायस्य मुख्यविषयं विवेचयत। अथवा

प्राणो ब्रहमोति व्यजानात्' इत्यस्य व्याख्यां कुरुत

2) ब्रह्मज्ञानोपयोगि-कोशानां वर्णनं कुरुत

3) कयोश्चत् द्वयो: प्रसंगोल्लेखपूर्वकं व्याख्या करणीया

क) ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता।" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

ख) अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीः श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वोषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्न हि भूतानां ज्येष्ठम्।

ग) यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

¤¤¤¤

इकाई 21
भृगु-वल्ली

संरचना

21.1 प्रस्तावना

21.2 उद्देश्य

21.3 ब्रह्म उपदेश

- स्वयं आकलन प्रश्न

21.4 अन्न की उपासना एवं उसकी महिमा

21.5 परमात्मा का विभूति वर्णन

- स्वयं आकलन प्रश्न

21. 6 सारांश

21.7 कठिन शब्दावली

21.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

21.9 सहायक ग्रन्थ

21.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगु वल्ली खंड में आध्यात्मिक शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। इस खंड में ऋषि भृगु और उनके पिता वरुण के बीच हुए संवाद के माध्यम से आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान की खोज को प्रस्तुत किया गया है। भृगु वल्ली आत्मा के विभिन्न स्तरों की अनुभूति और उनकी प्रकृति की समझ के लिए महत्वपूर्ण मार्गदर्शक है।भृगु वल्ली में भृगु ऋषि अपने पिता वरुण से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निवेदन करते हैं। वरुण उन्हें तपस्या करने का आदेश देते हैं और इसके माध्यम से भृगु आत्मा के विभिन्न स्तरों का अनुभव करते हैं। भृगु सबसे पहले अन्नमय कोश को पहचानते हैं और फिर क्रमशः प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोश की अनुभूति करते हैं। अंततः वे ब्रह्मानंद की प्राप्ति करते हैं, जो ब्रह्म के साथ एकत्व की अवस्था है।इस खंड में ब्रह्म-विद्या का सार और आत्मा की उच्चतम अवस्था का विवरण मिलता है। । भृगु वल्ली के माध्यम से, उपनिषद यह संदेश देता है कि बाह्य संसार में सुख की खोज व्यर्थ है, जबकि आत्मा के भीतर ब्रह्मानंद की प्राप्ति ही सच्चा सुख है।तैत्तिरीयोपनिषद् का भृगु वल्ली खंड वेदांत दर्शन के अद्वैत सिद्धांत को प्रतिपादित करता है और आत्मा की अनंतता, शाश्वतता और पूर्णता की ओर प्रेरित करता है।

21.2 उदेश्य

- ब्रह्म के विषय में रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करना।
- ब्रह्म की उपासना के फल को जानना।
- भारतीय संस्कृति एवं परम्परा से अवगत करवाना।
- नैतिकता का विकास करवाना।
- प्राचीन एवं अर्वाचीन संस्कृति कां यथार्थ जीवन से परिचय करवाना।
- विवेक के माध्यम से मोक्ष को प्राप्त'करना।

21.3 ब्रह्म उपदेश

प्रथम अनुवाक

इस अनुवाक में भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करता है

भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तः होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

भृगु नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरुणके पुत्र थे। उनके मनमें परमात्माको जानने और प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा हुई, तब वे अपने पिता वरुणके पास गये। उनके पिता वरुण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष थे; अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्यके पास जानेकी आवश्यकता नहीं हुई। अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की 'भगवन्! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तो इसके समाधान में ब्रह्म का उपदेश देते हुए वरुण कहता है कि अन्न , प्राण , नेत्र , श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं। फिर उससे कहा - जिससे निश्चय ही ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं , उत्पन्न होकर जिसके सहारे से जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें ये लीन हो जाते हैं , उसे ही आप विशेषरूप से जानने की इच्छा करो ; क्योंकि वही ब्रह्म है। तदुपरान्त ब्रह्म का उपदेश प्राप्त करके तपस्या की।

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति

भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है; क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं। समस्त प्राणी अन्नसे- अन्नके परिणामभूत वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरनेके बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वी में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं। पिता ने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा- 'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूपतक इसकी बुद्धि नहीं गयी; अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है। पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छ बुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं

है, अतः इसकी बातका उत्तर न देना ही ठीक है।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की-' भगवन् ! यदि मैंने ठीक नहीं समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।'

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

भृगुने पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा, पिताजीद्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें पूर्णतया पाये जाते हैं। समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है; तथा सभी प्राणसे ही जीते हैं। यदि श्वासका आना-जाना बन्द हो जाय, यदि प्राणद्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता और मरनेके बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास गये। पहलेकी भाँति अपने
निश्चयके अनुसार उन्होंने पुनः पितासे अपना अनुभव निवेदन किया। पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है; परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है; अतः उत्तर न देनेसे अपने-आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा; अतः उत्तर न देना ही ठीक है।

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

मनः मन; ब्रह्म-ब्रह्म है; इति इस प्रकार, व्यजानात् समझा; हि-क्योंकि; खलु-सचमुच; मनसः मनसे; एव ही; इमानि ये समस्त; भूतानि प्राणी; जायन्ते-उत्पन्न होते हैं; जातानि उत्पन्न होकर; मनसा मनसे ही; जीवन्ति जीते हैं; (तथा) प्रयन्ति (इस लोकसे) प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) मनः अभिसंविशन्ति-मनमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; इति इस प्रकार; तत् उस ब्रह्मको; विज्ञाय जानकर; पुनः एव फिर भी; पितरम् अपने पिता; वरुणम् उपससार वरुणके पास गया (और अपनी बातका कोई उत्तर न पाकर बोला-); भगवः = भगवन् ! (मुझे); ब्रह्म अधीहि ब्रह्मका उपदेश दीजिये; इति इस प्रकार (प्रार्थना करनेपर); ह तम् उवाच सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; ब्रह्म ब्रह्मको; तपसा तपसे; विजिज्ञासस्व-तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; तपः तप ही; ब्रह्म ब्रह्म है; इति इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; सः उसने; तपः अतप्यत तप किया; सः उसने; तपः तप्त्वा तप करके-

व्याख्या-

इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा, पिताजीके बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं। मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं- स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्धसे ही प्राणी बीजरूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही इन्द्रियोंद्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओंका उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरनेके बाद मनमें ही

प्रविष्ट हो जाते हैं- मरनेके बाद इस शरीरमें प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, इसलिये मन ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास गये और उन्होंने अपने अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पितासे कोई उत्तर नहीं मिला। पिताने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी तपस्या करनी चाहिये; अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की 'भगवन् ! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया- 'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा कर। अर्थात् तपस्या करते हुए मेरे उपदेशपर पुनः विचार कर। यह तपरूप साधन ही ब्रह्म है। ब्रह्मको जाननेका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 1

1) भृगुवल्ल्यां अन्नं कस्य रूपेण स्वीकारितम् अस्ति?

2)) भृगुः स्व-पितुः वरुणस्य पार्श्वे किमर्थं गच्छति ?

3) भृगुः ब्रह्मज्ञानं प्राप्नोतुं कस्य समीपं गतः ?

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।

विज्ञानम्-विज्ञान; ब्रह्म-ब्रह्म है; इति इस प्रकार; व्यजानात्-जाना; हि-क्योंकि; खलु-सचमुचः विज्ञानात् विज्ञानसे; एव ही; इमानि ये समस्त; भूतानि प्राणी; जायन्ते उत्पन्न होते हैं; जातानि उत्पन्न होकर; विज्ञानेन विज्ञानसे ही; जीवन्ति जीते हैं; (और) प्रयन्ति अन्तमें यहाँसे प्रयाण करते हुए; विज्ञानम् अभिसंविशन्ति- विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; इति इस प्रकार; तत् उस ब्रह्मको; विज्ञाय जानकर; पुनः एव (वह) पुनः उसी प्रकार; पितरम् अपने पिता; वरुणम् उपससार-वरुणके पास गया; (और अपनी बातका उत्तर न मिलनेपर बोला) भगवः = भगवन् !; (मुझे) ब्रह्म अधीहि ब्रह्मका उपदेश दीजिये;

व्याख्या-

इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा-पिताजीने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब के सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियोंसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। उत्पन्न होकर इस विज्ञानस्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना काम नहीं कर सकते तथा मरनेके बाद ये मन आदि सब जीवात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं- जीवके निकल जानेपर मृत शरीरमें ये सब देखनेमें नहीं आते। अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है। यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास आये। आकर उन्होंने अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया।

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

आनन्दः आनन्द ही; ब्रह्म ब्रह्म है; इति इस प्रकार; व्यजानात् निश्चय- पूर्वक जाना; हि-क्योंकि; खलु सचमुच; आनन्दात्-आनन्दसे; एव-ही; इमानि ये समस्त; भूतानि प्राणी; जायन्ते उत्पन्न होते हैं; जातानि उत्पन्न होकर; आनन्देन आनन्दसे ही; जीवन्ति जीते हैं; (तथा) प्रयन्ति इस लोकसे प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) आनन्दम् अभिसंविशन्ति आनन्दमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; इति इस प्रकार (जाननेपर उसे परब्रह्मका पूरा ज्ञान हो गया); सा वहः एषा यहः भार्गवी भृगुकी जानी हुई; वारुणी और वरुणद्वारा उपदेश की हुई; विद्या विद्या; परमे व्योमन्-विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें; प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठित है अर्थात् पूर्णतः स्थित है; यः जो कोई (दूसरा साधक) भी; एवम् इस प्रकार (आनन्दस्वरूप ब्रह्मको); वेद जानता है; सः वह; (उस विशुद्ध आकाशस्वरूप परमानन्दमें) प्रतितिष्ठति स्थित हो जाता है; (इतना ही नहीं; इस लोकमें लोगोंके देखनेमें भी वह) अन्नवान् बहुत अन्नवाला; अन्नादः और अन्नको भलीभाँति पचानेकी शक्तिवाला; भवति हो जाता है; (तथा) प्रजया संतानसे; पशुभिः - पशुओंसे; (तथा) ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; महान् महान् भवति हो जाता है; कीर्त्या [अपि] उत्तम कीर्तिके द्वारा भी; महान् महान्; [भवति हो जाता है।

व्याख्या-

इस बार भृगुने पिताके उपदेशपर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्नमय आदि सबके अन्तरात्मा हैं। वे सब भी इन्हींके स्थूलरूप हैं। इसी कारण उनमें ब्रह्मबुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं। परंतु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्दमें ही घटते हैं; क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होते हैं- इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं तथा इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं-कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता। इतना ही नहीं, उन आनन्दमय सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियोंकी सारी चेष्टाएँ हो रही हैं। उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य आदि यदि अपना-अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

सम्बन्ध - छठे अनुवाकमें ब्रह्मज्ञानीके अन्न और प्रजा आदिसे सम्पन्न होनेकी बात कही गयी; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि ये सब सिद्धियाँ भी क्या ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ही मिलती हैं या इन्हें प्राप्त करनेका दूसरा उपाय भी है। इसपर इन सबकी प्राप्तिके दूसरे उपाय भी बताये जाते हैं-

21.4 अन्न की उपासना एवं उसकी महिमा

सप्तम अनुवाक

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ।

अन्नम् न निन्द्यात् अन्नकी निन्दा न करे; तत् वह; व्रतम् व्रत है; प्राणः प्राण; वै-ही; अन्नम् अन्न है; (और) शरीरम् शरीर; (उस प्राणरूप अन्नसे जीनेके कारण) अन्नादम् अन्नका भोक्ता है; शरीरम् शरीर; प्राणे प्राणके आधारपर; प्रतिष्ठितम्- स्थित हो रहा है; (और) शरीरे शरीरके आधारपर; प्राणः प्राण;प्रतिष्ठितः - स्थित हो रहे हैं; तत्-इस तरह; एतत् यह; अन्ने अन्नमें ही; अन्नम् अन्न; प्रतिष्ठितम्-स्थित हो रहा है; यः जो मनुष्य; अन्ने अन्नमें ही; अन्नम् अन्न; प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित हो रहा है; एतत् इस रहस्यको; वेद जानता है; सः वह; प्रतितिष्ठति उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है; (अतः) अन्नवान् अन्नवाला; (और) अन्नादः अन्नको खानेवाला; भवति हो जाता है; प्रजया प्रजासे; पशुभिः पशुओंसे; ब्रह्मवर्चसेन (और) ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; महान् महान् भवति बन जाता है; (तथा) कीर्त्या कीर्तिसे (सम्पन्न होकर भी); महान् महान्; [भवति]= हो जाता है।

व्याख्या-

इस अनुवाकमें अन्नका महत्त्व बतलाकर उसे जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अन्नादिसे सम्पन्न होना चाहे; उसे सबसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी निन्दा नहीं करूँगा।' यह एक साधारण नियम है कि जिस किसी वस्तुको मनुष्य पाना चाहता है, उसके प्रति उसकी महत्त्वबुद्धि होनी चाहिये; तभी वह उसके लिये प्रयत्न करेगा। जिसकी जिसमें हेयबुद्धि है, वह उसकी ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं। अन्नकी निन्दा न करनेका व्रत लेकर अन्नके इस महत्त्वको समझना चाहिये कि अन्न ही प्राण है और प्राण ही अन्न है; क्योंकि अन्नसे ही प्राणोंमें बल आता है और प्राणशक्तिसे ही अन्नमय शरीरमें जीवनी शक्ति आती है। यहाँ प्राणको अन्न इसलिये भी कहा है कि यही शरीरमें अन्नके रसको सर्वत्र फैलाता है। शरीर प्राणके ही आधार टिका हुआ है, इसीलिये वह प्राणरूप अन्नका भोक्ता है। शरीर प्राणमें स्थित है अर्थात् शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन है और प्राण शरीरमें स्थित है- प्राणोंका आधार शरीर है, यह बात प्रत्यक्ष है ही। इस प्रकार यह अन्नमय शरीर भी अन्न है।

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः

अन्नम् न परिचक्षीत अन्नकी अवहेलना न करे; तत्वह; व्रतम् एक व्रत है; आपः जल; वै-ही; अन्नम् अन्न है; (और) ज्योतिः तेज; अन्नादम् = (रसस्वरूप) अन्नका भोक्ता है; अप्सु जलमें; ज्योतिः तेज; प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित है; ज्योतिषि तेजमें; आपः = जल; प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठित है; तत्-वही; एतत्-यह; अन्ने अन्नमें; अन्नम्

अन्न; प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित है; यः जो मनुष्य; (इस प्रकार) अन्ने अन्नमें; अन्नम् अन्न; प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित है; एतत्-इस रहस्यको; वेद-भलीभाँति समझता है; सः वह; (अन्तमें) प्रतितिष्ठति (उस रहस्यमें) परिनिष्ठित हो जाता है;।

व्याख्या-

इस अनुवाकमें जल और ज्योति- दोनोंको अन्नरूप बताकर उन्हें जाननेका फल बतलाया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यकी अन्नादिसे सम्पन्न होनेकी इच्छा हो, उसे यह नियम ले लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी अवहेलना नहीं करूँगा अर्थात् अन्नका उल्लङ्घन, दुरुपयोग और परित्याग नहीं करूँगा एवं उसे जूठा नहीं छोड़ेंगा।' यह साधारण नियम है कि जो जिस वस्तुका अनादर करता है, उसके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता है, वह वस्तु उसका कभी वरण नहीं करती। किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति आदरबुद्धि रखना परमावश्यक है। जिसकी जिसमें आदर बुद्धि नहीं है, वह उसे पानेकी इच्छा अथवा चेष्टा क्यों करेगा। इस प्रकार अन्नकी अवहेलना न करनेका व्रत लेकर फिर अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि जल ही अन्न है; क्योंकि सब प्रकारके अन्न अर्थात् खाद्य वस्तुएँ जलसे ही उत्पन्न होती हैं और ज्योति अर्थात् तेज ही इस जलरूप अन्नको भक्षण करनेवाला है

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नम् अन्नको; बहु कुर्वीत बढ़ाये; तत्-वह; व्रतम् एक व्रत है; पृथिवी पृथ्वी; वै-ही; अन्नम् अन्न है; आकाशः आकाश अन्नादः पृथ्वीरूप अन्नका आधार होनेसे (मानो) अन्नाद है; पृथिव्याम् पृथ्वीमें; आकाशः आकाश; प्रतिष्ठितः - प्रतिष्ठित है; आकाशे आकाशमें; पृथिवी पृथ्वी; प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठित है; तत्वही; एतत्-यह; अन्ने अन्नमें; अन्नम् अन्नः प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित है; यः जो मनुष्य; (इस प्रकार) अन्ने अन्नमें; अन्नम् अन्नः प्रतिष्ठितम् प्रतिष्ठित है; एतत् इस रहस्यको; वेद-भलीभाँति जान लेता है; सः वह; (उस विषयमें) प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठित हो जाता है; अन्नवान्-अन्नवाला; (और) अन्नादः अन्नको खानेवाला अर्थात् उसे पचानेकी शक्तिवाला; भवति हो जाता है; प्रजया (वह) प्रजासे; पशुभिः - पशुओंसे; (और) ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्मतेजसे; महान् महान् भवति बन जाता है; कीर्त्या कीर्तिसे; [च]-भी; महान् महान्; [भवति हो जाता है।

व्याख्या-

इस अनुवाकमें पृथ्वी और आकाश दोनोंको अन्नरूप बताकर उनके तत्त्वको जाननेका यह फल बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये-यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढ़ाऊँगा।' किसी वस्तुका अभ्युदय-उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं। इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है- जितने भी अन्न हैं, वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है। पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है- यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये दोनों ही एक-

दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं। पाँच भूतोंमें आकाश पहला तत्त्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है; बीचके तीनों तत्त्व इन्हींके अन्तर्गत हैं। समस्त भोग्यपदार्थरूप अन्न इन पाँच महाभूतोंके ही कार्य हैं; अतः ये ही अन्नके रूपमें स्थित हैं। इसलिये अन्नमें ही अन्न प्रतिष्ठित है।

दशम अनुवाक

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नः राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नः राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नः राद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नः राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नः राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नः राध्यते। य एवं वेद।

वसतौ-अपने घरपर (ठहरनेके लिये आये हुए); कञ्चन-किसी (भी अतिथि) को; न प्रत्याचक्षीत प्रतिकूल उत्तर न दे; तत्वह; व्रतम् एक व्रत है; तस्मात्-इसलिये; (अतिथि सत्कारके लिये) यया कया च विधया जिस किसी भी प्रकारसे, बहु-बहुत-सा; अन्नम् अन्न; प्राप्नुयात् प्राप्त करना चाहिये; (क्योंकि सद्गृहस्थ) अस्मै इस (घरपर आये हुए अतिथि) से; अन्नम्भोजन; आराधि-तैयार है; इति-यों; आचक्षते कहते हैं; (यदि यह अतिथिको) मुखतः मुख्यवृत्तिसे अर्थात् अधिक श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक; एतत्-यह; राद्धम्-तैयार किया हुआ; अन्नम्-भोजन (देता है तो); वै निश्चय ही; अस्मै इस (दाता) को; मुखतः अधिक आदर-सत्कारके साथ ही; अन्नम् अन्न; राध्यते प्राप्त होता है; (यदि यह अतिथिको) मध्यतः मध्यम श्रेणीकी श्रद्धा और प्रेमसे; एतत्-यह; राब्द्धम्-तैयार किया हुआ; अन्नम् भोजन (देता है तो); वै निःसंदेह; अस्मै इस (दाता) को; मध्यतः मध्यम श्रद्धा और प्रेमसे ही; अन्नम् राध्यते अन्न प्राप्त होता है; (और यदि यह अतिथिको) अन्ततः निकृष्ट श्रद्धा-सत्कारसे; एतत्-यह; राब्द्धम्-तैयार किया हुआ; अन्नम्-भोजन (देता है तो); वैअवश्य ही; अस्मै इस (दाता) को; अन्ततः निकृष्ट श्रद्धा आदिसे; अन्नम् अन्न; राध्यते मिलता है; यः जो; एवम्-इस प्रकार; वेद इस रहस्यको जानता है (वह अतिथिके साथ बहुत उत्तम बर्ताव करता है)।

व्याख्या- दसवें अनुवाकके इस अंशमें अतिथि सेवाका महत्त्व और फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अतिथि सेवाका पूरा लाभ उठाना चाहे, उसको सबसे पहले तो यह नियम लेना चाहिये कि 'मेरे घरपर जो कोई अतिथि आश्रयकी आशासे पधारेगा, मैं कभी उसको सूखा जवाब देकर निराश नहीं लौटाऊँगा।' 'अतिथिदेवो भव' अतिथिकी देवताबुद्धिसे सेवा करो-यह उपदेश गुरुके द्वारा स्नातक शिष्यको पहले ही दिया जा चुका है। इस प्रकारका नियम लेनेपर ही अतिथि सेवा सम्भव है।

21.5 परमात्मा का विभूति वर्णन

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे

दसवें अनुवाकके इस अंशमें परमेश्वरकी विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। भाव यह है कि सत्यरूप वाणीमें आशीर्वादादिके द्वारा जो रक्षा करनेकी शक्ति प्रतीत होती है, उसके रूपमें वहाँ परमात्माकी ही स्थिति है। प्राण और अपान में जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको आकर्षण करनेकी और जीवन-रक्षाकी शक्ति है, वह भी परमात्माका ही अंश है। इसी प्रकार हाथोंमें काम करनेकी शक्ति, पैरोंमें चलनेकी शक्ति और गुदामें मलत्याग करनेकी शक्ति भी परमात्माकी ही हैं। ये सब शक्तियाँ उन परमेश्वरकी शक्तिका ही एक अंश हैं। यह देखकर मनुष्यको परमेश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये। यह मानुषी समाज्ञा बतायी गयी है,

अर्थात् मनुष्यके शरीरमें प्रतीत होनेवाली परमात्माकी शक्तियोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। इसीको आध्यात्मिक (शरीर- सम्बन्धी) उपासना भी कह सकते हैं। इसी प्रकार दैवी पदार्थोंमें अभिव्यक्त होनेवाली शक्तिका वर्णन करते हैं

दशम अनुवाक में यह उपदेश देते हुए कहा गया है कि किसी भी मनुष्य को अपने घर में आए हुए का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् गृहागत अतिथि का सदैव आदर सत्कार करना चाहिए। क्यों जो जिस वृत्ति से उसका सम्मान एवं भोजनादि प्रदान करके व्यवहार करता है ; बाद में उसे भी वैसा ही सम्मान तथा अन्नादि की प्राप्ति होती है।

इसके उपरान्त अनेक प्रकार के स्वरूपों में ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए कहा है कि ब्रह्म के उपासक को कभी भी किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए ; यदि कोई उस ब्रह्म के उपासक से घृणा या द्वेष करता है तो उसकी दुर्गति होती है। क्योंकि पुरुष और आदित्य में विद्यमान ब्रह्म एक ही है । इस प्रकार जो प्राणी अपने और ब्रह्म के एकत्व को अच्छी तरह से जानता है ; वह इस लोक से सभी प्रकार के अन्नादि एवं अन्य भोगों को भोगता हुआ अन्त में " मैं ही अन्न हूँ , मैं ही परमब्रह्म हूँ , मैं ही सत्यरूपी हिरण्यगर्भ हूँ " इस तरह से उपासक सब प्रकार से ब्रह्ममय ही हो जाता है।

- **स्वयं आकलन प्रश्न**

अभ्यास प्रश्न 2

1) ब्रह्म-प्राप्तिः केन भवति ?
2) ब्रह्मज्ञानस्य मुख्य-द्वारः कः वर्तते ?
3) भृगुवल्लयां कस्य निरूपणमस्ति ?
4) तैत्तिरीयोपनिषदः मुख्यं लक्ष्यं किं वर्तते ?
5) भृगु वल्ली कस्य द्वयोः संवादः अस्ति?
6) तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति वाक्यस्य उपदेशः कर्ता कः अस्ति?

21.6 सारांश

भृगु वल्ली तैत्तिरीयोपनिषद का तीसरा और अंतिम भाग है। इसमें ऋषि भृगु और उनके पिता वरुण के बीच संवाद होता है, जिसमें भृगु परम सत्य (ब्रह्म) को समझने की कोशिश करते हैं।अन्न को ब्रह्म का प्रतिरूप मानकर उसकी महिमा गाई गई है, जो आत्मा और शरीर दोनों के पोषण के लिए आवश्यक है।

भृगु वल्ली अस्तित्व की प्रकृति और परम सत्य की अनुभूति की प्रक्रिया पर गहन अंतर्दृष्टि प्रदान करती है, जिससे साधकों को ध्यान और आत्म-खोज की गहराइयों में जाने के लिए प्रेरित किया जाता है। अन्त में भृगु द्वारा पिता वरुण जी के उपदेश से तपस्या के माध्यम से साक्षात् ब्रह्म के विषय में विशेष वर्णन या अपने-आप में ब्रह्म का साक्षात्कार करना इत्यादि का ज्ञान प्राप्त होता है। यह स्थूल भौतिक अस्तित्व से सूक्ष्म आनंद की अनुभूति तक की यात्रा को दर्शाती है, जो आध्यात्मिक विकास का पथ है।

21.7 कठिन शब्दावली

ऋतम् = शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ अर्थात् सत्य	मेधा = सद्बुद्धि
माहाचमस्यः = महाचमस ऋषि का पुत्र	हिरण्मयः = ज्योर्तिमय अथवा प्रकाश से युक्त

पाङ्‌तः = पंक्तिछन्द से युक्त सर्वायुषम् = पूर्णायु को प्राप्त होने वाला

अवधीतम् = पढ़ा हुआ या अच्छी प्रकार से अध्ययन किया हुआ

ब्रह्मवर्चसम् = ब्रह्मतेज

21.8 स्वयं आकलन प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1) ब्रह्म
2) ब्रह्मज्ञानार्थम्
3) वरुणः

अभ्यास प्रश्न 2

1) तपसा 2) अन्नम् 3) ब्रह्मविद्यायाः

4) ब्रह्मज्ञानम् 5) भृगु-वरुणयोः 6) वरुणः

21.9 सहायक ग्रन्थ :-

1) ईशादि नौ उपनिषद् ; शांकरभाष्यार्थ ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

2) तैत्तिरीयोपनिषद् ; सानुवाद शांकरभाष्य सहित ; गीताप्रैस , गोरखपुर - 273005

21.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1) तैत्तिरीयोपनिषदः शान्तिपाठस्य आध्यात्मिक पक्षं स्पष्टयत।

2) तैत्तिरीयोपनिषदः दार्शनिक पक्षं साधयत।

3) तैत्तिरीयोपनिषदि वार्णितस्य भृगुल्यध्यायस्य मुख्यविषयं विवेचयत

4) कयोश्चत् द्वयो: प्रसंगोल्लेखपूर्वकं व्याख्या करणीया

क) अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः।

ख) मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

ग) विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।

घ) अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति

¤¤¤¤

समनुदेशन (Assignment) हेतु प्रश्न

समनुदेशन (Assignment) लिखकर अन्तर्राष्ट्रीय दूरवर्ती शिक्षा एवं मुक्त अध्ययन केन्द्र को भेजे।
निम्नलिखित में से किन्हीं चार प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

1) निरुक्तस्य प्रयोजनानि लिखत ।
2) कति उपसर्गाः ? एतेषां सार्थकत्वं विवेचयत।
3) यास्कानुसारं वेद मन्त्राणां सार्थकत्वं साधयत।
4) प्रत्यक्षकृत-ऋचां विस्तृत विवेचनं कुरुत।
5) आत्मनः स्वरूपं विवेचयत।
6) तैत्तिरीयोपनिषदः शान्तिपाठस्य आध्यात्मिक पक्षं स्पष्टयत।

¤¤¤¤